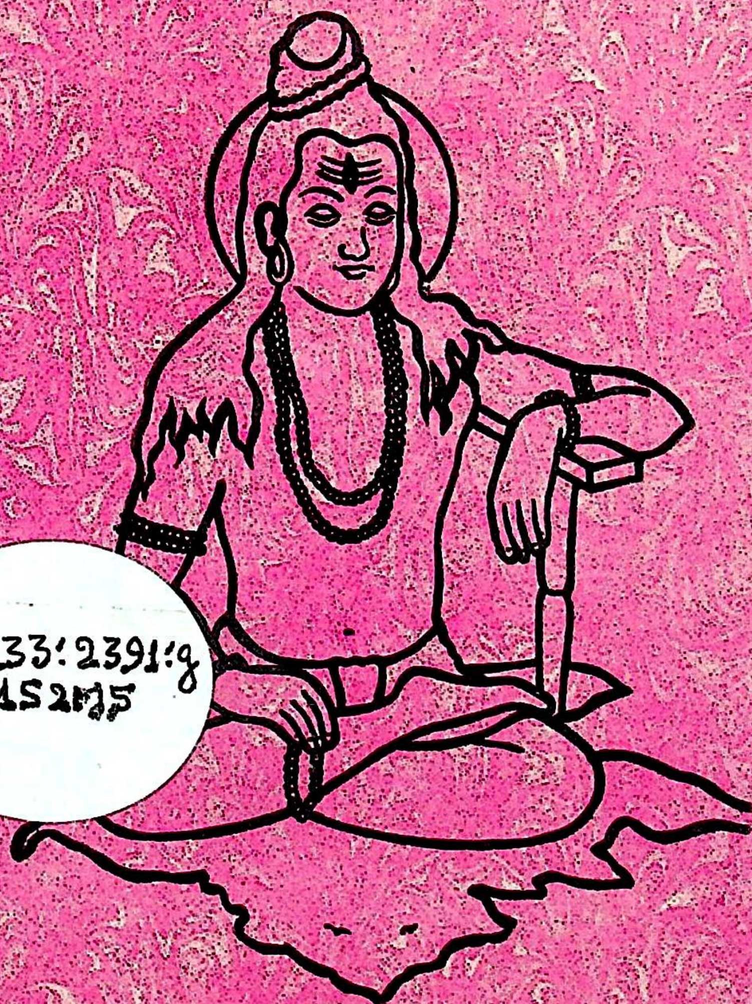
नेत्रतन्त्रम्

(मृत्युञ्जयभट्टारकः)

श्रीमत् क्षेमराजविरचितोद्योतव्याख्योपेतम्



सम्पादकः

व्रजवल्लभ द्विवेदः

NETRATANTRAM

WITH 'UDYOTA' COMM.

BY

KSEMARAJACARYA

PRICE Rs. 100.00

NETRATANTRAM

[MṚTYUÑJAYA BHAṬṬĀRAKAḤ]

With the Commentary
UDYOTA
OF
KṢEMARĀJĀCĀRYA

Edited By :

Pt. Vrajavallabh Dwivedi

1985

Parimal Publications

DELHI (INDIA)

Published By :

Parimal Publications
33/17 Shakti Nagar
Delhi-110007

Sales Depot :

28/10 Shakti Nagar
Delhi-110007

first Edition

1985

Price Rs. 100.00

Printed at :

Laxmi Comosing Agency
20 D/4, Main Road Babarpur
Shahadara, Delhi-110032

नेत्रतन्त्रम्

(मृत्युञ्जयभट्टारकः)

श्रीमत्क्षेमराजविरचितोद्योताख्यव्याख्योपेतम्

सम्पादकः

पं० व्रजवल्लभ द्विवेदः

१९८५

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली

प्रकाशक :
परिमल पब्लिकेशन्स,
३३/१७, शक्तिनगर,
दिल्ली-११०००७

विक्रय-स्थानम् :
२८/१० शक्तिनगर
दिल्ली-११०००७

प्रथमं संस्करणं
१९८५

मूल्यम् : १००.००

मुद्रक :
लक्ष्मी कम्पोजिंग एजेन्सी,
२० डी/४, मेन रोड, बाबरपुर
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

उपोद्घात

काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि के अन्तर्गत दो भागों में क्षेमराजकृत उद्द्योत टीका के साथ नेत्रतन्त्र का प्रकाशन हुआ था। अब वह उपलब्ध नहीं है। मृत्युंजयभट्टारक के नाम से इसके पर्याप्त[1] उद्धरण मिलते हैं।[2] अमृतेशभट्टारक के नाम से भी यह प्रसिद्ध है। नेपाल में अमृतेशतन्त्र के नाम से इसकी मातृका[3] उपलब्ध है। वहां पुस्तिका वाक्य में 'सर्वस्रोतः संग्रहसार' इसका विशेषण दिया गया है। क्षेमराज ने भी दो स्थलों पर (पृ.४०,२४३) इसी विशेषण से इसको अलंकृत किया है। इस तन्त्र के ९-१३ अधिकारों में विविध तन्त्रों में वर्णित विभिन्न देवताओं की उपासना विधियों का संक्षेप में वर्णन किया गया है, अतः उक्त विशेषण पूरी तरह से यहाँ सार्थक सिद्ध होता है। स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव ने[4] मायावामनसंहिता के प्रमाण पर कहा है कि विष्णु, शिव, सूर्य बुद्ध आदि के रूप में सर्वत्र एक ही भगवान् विराजमान हैं। इस तन्त्र के उक्त अधिकारों में इसी सिद्धान्त के दर्शन होते हैं। भारत में प्रायः सभी धर्मों के अनुयायी जन वसते हैं। उनके बीच आज नेत्रतन्त्र की इसी दृष्टि को उजागर करने की आवश्यकता है इसी अभिप्राय से इस महनीय ग्रन्थ को परिमल प्रकाशन ने विज्ञ पाठकों के सामने रखने का प्रयास किया है। प्रस्तुत उपोद्घात में इस ग्रन्थ की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

---

१. तन्त्रालोक (१६।५६, २२५; २१।११) में मृत्युंजय भट्टारक और शिवसूत्रविमर्शिनी (पृ० ३, १४, १८-१९, ४०-४१, ४५-४६, ४८-५०, ५७, ६६ द्वितीय संस्करण) में मृत्युंजय भट्टारक अथवा मृत्युजिद् भट्टारक के नाम से उद्धृत है।

२. नेत्र, मृत्युजित् और अमृतेश शब्दों का निर्वचन यहीं मिलता है। इनका विवरण आगे यथास्थान दिया जायगा।

३. नेपाल राजकीय वीर पुस्तकालय के तन्त्रविषयक बृहत्सूचीपत्र का प्रथम खण्ड (पृ० ५-६) देखिये।

४. "तथा च मायावामनसंहितायां विष्णु-शिव-सूर्य-बुद्धादिरूपतया तन्त्रच्छवित-वक्रपरिवारयुतस्तत्कारणं भगवानेक एव ध्यानभेदेनोपास्यत्वेनाभिहितः" (पृ० ९२)।

नेत्रतन्त्र का परिचय—

नित्याषोडशिकार्णव की तरह इस तन्त्र के प्रारम्भ में भी मंगलाचरण है। नित्याषोडशिकार्णव ६४ तन्त्रों का उल्लेख है और यहां भी अनेक तन्त्र उद्धृत हैं, जिसके नाम परिशिष्ट में दी गई प्रथम सूची से जाने जा सकते हैं। इस तन्त्र की प्रवृत्ति पार्वती और परमेश्वर के परिसंवाद के प्ररिप्रेक्ष्य में हुई है।[1] यहां अन्य तन्त्रों में प्रश्नकर्ता के रूप में वर्णित कार्तिकेय और गरुड का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि कार्तिकेय-शिव और गरुड-शिव के परिसंवाद के रूप में नन्त्रों की प्रवृत्ति इससे पहले हो चुकी थी। "विस्तरोऽन्यतः" (४।१०) और "विस्तरोऽन्यत्र वर्णितः" (१६।१५२) इन दो वाक्यों की व्याख्या करते हुए क्षेमराज प्रथम स्थल पर स्वच्छन्द तन्त्र का और दूसरी जगह तोतुल[2] क्रियाकालगुणोत्तर आदि तन्त्रों का उल्लेख करते हैं। "नोर्ध्वे ध्यानम्" (८।४१-४४) इत्यादि श्लोकों पर विज्ञानभैरव का प्रभाव परिलक्षित होता है। "श्रीमदूर्जितमेव वा" (१।४६) इस वचन पर गीता (१०।४१) की अनुकृति झलकती है।[3] बाम स्रोत, तुम्बरु, भैरव तथा वामस्रोत में पूजित[4] जया प्रभृति देवियों का उल्लेख योगवासिष्ठ में मिलता है। सिद्धान्त वाम और दक्षिण स्रोत के प्रवर्तक सदाशिव, तुम्बुरु और भैरव रूपधारी शिव का (पृ० ७६), भैरवागम (पृ० ८०), कुलाम्नाय (पृ० ६१), गारुडतन्त्र भूततन्त्र आदि विविध

---

१. "रहस्यं न प्रकाशितम्। कार्तिकेयस्य" (१।७) तथा "गरुडाद्यैस्तथा शिष्यैः" (१६।१४४)।

२. वीर पुस्तकालय की उक्त सूची (भा० १, पृ० ६६- ८) में क्रियाकाल-गुणोत्तर की मातृका का विवरण दिया गया है। यह तन्त्र शिव के द्वारा कार्तिकेय को उपदिष्ट है। तोतुल की गणना गारुड तन्त्रों में की जाती है। क्रियाकालगुणोत्तर का २८ गारुड तन्त्रों में उल्लेख नहीं है। उक्त विवरण को देखने से ज्ञात होता है कि इस तन्त्र में गारुड और भूत दोनों प्रकार के तन्त्रों के विषयों का समावेश किया गया है।

३. द्रष्टव्य—निर्वाण प्रकरण, पूर्वार्ध (१६।२४-२६)।

४. द्रष्टव्य—वहीं (१६।२०-२१)। वामनपुराण (४।३-४) में भी ये नाम मिलते हैं। क्षेमराज की "अजिता जयन्ती" (११।१५) इस व्याख्या के अनुसार अजिता और जयन्ती एक ही देवी के नाम हैं। कौलज्ञाननिर्णय में प्रकाशित ज्ञानकारिका (३।१७-१८) में चत्वर पूजा के प्रसंग में इन्हीं चार मातृकाओं का उल्लेख हुआ है।

तन्त्रों का (पृ० ६८), एकवीर वाम्, दक्षिण, सिद्धान्त और वैष्णव तन्त्रों का (पृ० १८६), गारुड प्रभृति षड्विध तन्त्रों का (पृ० १२५), तुम्बुरु पृ०७६,६०)[1] भैरव (पृ० ८०, ६१) तथा सात मातृकाओं (पृ०१६६) का और पांच स्रोतों (पृ०१६२) का यहां उल्लेख मिलता है। क्षेमराज के अनुसार (पृ० ६५, ६६) यहां १३वें अधिकार में विविध पूजाविधियों का वर्णन जया, मायावामनिका और संहिता के आधार पर किया गया है। पांच स्रोतों से विनिर्गत तन्त्रों की सूची में[2] अथवा श्रीकण्ठीसंहिता में वर्णित ६४ भैरवागमों की सूची में नेत्रतन्त्र का नाम नहीं मिलता और यह तन्त्र "सर्वस्रोतः संग्रहसार' माना गया है। इन सबसे स्पष्ट हो जाता है कि इस तन्त्र का प्रादुर्भाव काल इन सब तन्त्रों के प्रादुर्भाव के बाद का है। ऐसा होने पर भी इस तन्त्र की गणना प्राचीन[3] तन्त्रों में ही की जाएगी।

क्षेमराज का नेत्रतन्त्रोद्योत

क्षेमराज, उनके समय और कृतियों के संबन्ध में तथा उनकी गुरुशिष्य परम्परा के विषय में पर्याप्त लिखा जा चुका है। हमने लुप्तागमसंग्रह द्वितीय भाग के उपोद्घात (पृ०७ टि० २) में क्षेमराज कृत ग्रन्थों की सूची में कुछ संशोधन प्रस्तुत किये हैं। वहीं (पृ०६३,२१६) हमने यह भी बताया है कि क्षेमराज ने नेत्रोद्योत (२१।५८) में नादकारिका के एक श्लोक को उद्धृत किया है, अतः नारायण कण्ठ ही नहीं, उनके पुत्र रामकण्ठ भी इनसे प्राचीन या समसामयिक थे। नादकारिका का यह १६वां श्लोक यहां दो स्थलों पर (पृ० १२,२२२) भेदवादी और मुग्धधी की उक्ति के रूप में उद्धृत हुआ देखा जा सकता है। नेत्रोद्योत में उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की एवं मतमतान्तरों की सूची परिशिष्ट में दी गई है। इससे क्षेमराज के आगम और तन्त्रशास्त्र के विस्तृत और गहन ज्ञान का परिचय मिलता है। इन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का विवरण प्रायः हमने ऊपर उद्धृत उपोद्घात (पृ० १४-८४) में तथा मत मतान्तरों का नित्याषोडशिकार्णव के उपोद्घात में "तन्त्राणां शाखाप्रशाखा"

---

१. दक्षिण स्रोत में पूजित भैरव से कुलाम्नाय पूजित भैरव का भेद करने के के लिये क्षेमराज ने उन्हें कुलेश्वर नाम दिया है (पृ० ७३)। कुलाम्नाय शब्द का अर्थ भी व्याख्याकार ने यहीं (पृ० ६१) स्पष्ट किया है।

२. इन सूचियों के लिये लुप्तागमसंग्रह द्वितीय भाग का उपोद्घात (पृ० १११) देखें।

३. शक्तिसंगम तन्त्र के चतुर्थ छिन्नमस्ता खण्ड का उपोद्घात (पृ० २०-२१) देखिये।

(पृ० ५१।५९) शीर्षक के और ऊपर उपाद्घोत में "शास्त्रविस्तरः" (पृ० ११३-११४) शीर्षक के अन्तर्गत दे दिया है। क्षेमराज ने १६।७६ की व्याख्या में "गारुडे पूर्वास्मिन् मातृतन्त्रादौ पश्चिमे, जयादिनये वामे, भैरवशास्त्रे च दक्षिणे[1] चण्डासिधारादावूर्ध्वे, ज्येष्ठे मतकुलादौ रहस्ये स्रोतसि" इस तरह से उन छः स्रोतों की चर्चा कर दी है, जो कि वाद में षडाम्नाय के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनकी चर्चा तन्त्रालोक (१५।२०४,२०६) में भी मिलती है। क्षेमराज ने यहां (पृ० ११२) क्रम, कुल, मत और षडर्ध की भी चर्चा की है। नेत्रतन्त्र में केवल कुलाम्नाय का ही उल्लेख हुआ है, वहां क्रम, मत अथवा षडर्ध की चर्चा कहीं भी नहीं आई है। हां, त्रिक (१३।३९) का उल्लेख अवश्य हुआ है।

"यत्तद्व्याकुर्वाणा उपहास्या एव" (पृ० ३) और "गतानुगतिकप्रोक्तभेदव्याख्यातमोऽपनुत्" (पृ० २४६) क्षेमराज की इन दो उक्तियों से प्रतीत होता है कि उनसे पहले इस तन्त्र की व्याख्या द्वैत दृष्टि से की गई थी। स्वच्छन्दोद्योत (२।२५) में स्वयं क्षेमराज कहते है कि[2] जनता को प्रायः सिद्धान्त आगम प्रिय है और उसी क्रम के अनुसार वह चलती है। सिद्धान्तागम[3] की द्वैत दृष्टि के अनुसार ईश्वर इस जगत् का निमित्तकारण है और विन्दु (महामाया) उपादान कारण। नेत्रतन्त्र (२१।५०।५४) में भी शिव को जगत् का निमित्तकारण माना है और शक्ति को उपादान कारण। इसके विपरीत शिवदृष्टिकार सोमानन्द (३,५१-३२) ईश्वर की निमित्त कारणता का खण्डन करते हैं। स्पन्दप्रदीपिका (श्लोक १०) और स्वच्छन्दोद्योत (११।३) में उद्धृत

---

१. क्षेमराज ने पृ० ९१ में ऊर्ध्व पद का प्रयोग सिद्धान्त शास्त्र के लिये और पृ० १२५ में चण्डासिधार आदि तन्त्रों के लिये किया है। पांच स्रोतों से विनिर्गत तन्त्रों में ऊर्ध्वमुख से सिद्धान्त (१० शिवागम और १८ रौद्रागम) शास्त्र का ही उद्भव प्रतिष्ठालक्षणसार आदि प्राचीन ग्रन्थों में माना गया है। चण्डासिधार तन्त्र की गणना वहां भूततन्त्रों में की गई है। (देखिये — लु० उपोद्घात, पृ० ९१)।

२. प्रायश्च सिद्धान्तप्रियो लोकः सिद्धान्तक्रममाश्रितः।

३. "निमित्तमीश्वरस्तेषामुपादानं तु विन्दुराट्" पौष्करागम का यह श्लोक अनेक स्थानों पर उद्धृत मिलता है। हमने लु० उपोद्घात (पृ० १२९) की टिप्पणी में स्वच्छन्दतन्त्र को निमित्तकारणवादी और नेत्रतन्त्र को निमित्तोपादानकारणवादी बताया है। वस्तुतः इन दोनों की दृष्टि एक ही है। इस विषय पर हम स्वच्छन्दतन्त्र के उपोद्घात में विचार करेंगे।

आगमरहस्यस्तोत्र के एक वचन में[1] बताया गया है कि ईश्वर को जगत् का निमित्तकारण मानने वाले इसके ऐश्वर्य को ही तिलांजलि दे देते हैं। इस विषय पर अलग से विचार किया जायगा, किन्तु यह स्पष्ट है कि द्वैत दृष्टि से इस तन्त्र की व्याख्या करना बहुत अनुचित नहीं हैं। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि सभी शास्त्रों के संग्रह के रूप में इस तन्त्र की रचना की गई है। हम आगे इस बात को स्पष्ट करेंगे कि अन्ततः इस तन्त्र का पर्यवसान अद्वैत दृष्टि के प्रतिपादन में हुआ है।

कुलाम्नाय (पृ० ६१) कृत्या, खार्खोद (पृ० १३७) घुम्मा (पृ० २०२) इत्यादि शताधिक पारिभाषिक शब्दों की तो क्षेमराज ने पारम्परिक व्याख्या प्रस्तुत की ही है, कल्लट की[2] तत्त्वार्थचिन्तामणि के विषय में भी यहाँ एक विशिष्ट सूचना मिलती है। २०वें अधिकार के २८वें श्लोक (पृ० १६६) में स्थित योगमार्ग शब्द की व्याख्या करते हुए क्षेमराज कल्लट की तत्त्वार्थ-चिन्तामणि को स्मरण करते हुए कहते हैं कि आगमशास्त्र में वर्णित गोलकविधि के अभ्यास से योगी पर शरीर से उसका सारा रस खींच लेता है। उस स्थिति में वह प्राणी अपने शरीर के संचालन में भी असमर्थ हो जाता है और योगी द्वारा की गई आकर्षण और विकर्षण की क्रिया के कारण उसकी प्राण शक्ति भी पादतल और ब्रह्मरन्ध्र में से किसी एक मार्ग का सहारा लेकर गोलक विधि से ही उस प्राणी के हृदय में प्रविष्ट हो जाता है और इस स्थिति में वह तदाकार बन जाता है। कल्लट का यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है और उसके अभाव में योग शास्त्र की उस गोलक विधि से हम वंचित हो गये हैं

---

१. 'ये त्वीश्वरं व्यपदिशन्ति निमित्तहेतुं दत्तस्तिलाञ्जलिरमीभिरिहेशितायै"
आगमरहस्य का यह श्लोक स्पन्दप्रदीपिका (पृ० ८३) में कुछ पाठभेद के साथ मिलता है। यहां स्वच्छन्दोद्योत का पाठ दिया गया है।

२. तत्त्वार्थचिन्तामणि शिवसूत्रों के द्रष्टा वसुगुप्त के साक्षात् शिष्य कल्लट की कृति है। चिन्तामणि के नाम से भी यह प्रसिद्ध थी। कल्लट ने शिवसूत्र के तीन खण्डों पर मधुवाहिनी नाम की और चतुर्थ खण्ड पर तत्त्वार्थ-चिन्तामणि नाम की व्याख्या लिखी थी। ये दोनों ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं और साथ ही शिव सूत्र का चतुर्थ खण्ड भी अब नहीं मिलता। देखिये—लु० उपोद्घात, पृ० २५, ३६-३७ और ७१।

'जिसकी सहायता से आद्य शंकराचार्य प्रभृति योगिवरों ने[1] परशरीर में प्रवेश किया था। इस विषय पर हम आगे सूक्ष्म योग पर विचार करते समय विस्तार से लिखेंगे।

क्षेमराज ने अपने स्वच्छन्दोद्योत को यहाँ चार स्थलों पर (पृ० ३२, ८१,१२०,१८३) स्मरण किया है। इससे स्पष्ट होता है कि नेत्रोद्योत की रचना स्वच्छन्दोद्योत के बाद हुई। नेत्रतन्त्र में अभिषेक आदि की चर्चा संक्षेप में हुई। स्वच्छन्दतन्त्र में इनका वर्णन विस्तार से हुआ है और इनकी व्याख्या क्षेमराज वहां कर चुके थे अतः यहां उनका उल्लेख मात्र कर दिया है। हम भी इन विषयों की विस्तृत चर्चा शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले स्वच्छन्दतन्त्र के उपोद्घात में करेंगे। एकवीर पद की व्याख्या करते समय क्षेमराज ने (पृ० ९८) परात्रिंशिका और मतत्रिंशिका का उल्लेख किया है। हम जानते हैं कि परात्रिंशिका अभिनवगुप्त की महत्वपूर्ण व्याख्या के साथ उपलब्ध है, किन्तु मतत्रिंशिका का कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं। एकवीर मत के इस ग्रन्थ की खोज होनी चाहिये इसी परिप्रेक्ष्य में परात्रिंशिका का अध्ययन भी होना चाहिये। नेत्रतन्त्र के आधार पर क्षेमराज ने कुलप्रक्रिया और तन्त्रप्रक्रिया का भी अच्छा विश्लेषण किया है। सूक्ष्म ध्यान के प्रसंग में इस विषय पर विचार किया जायगा।

नेत्रोद्योत (पृ० ९३) में स्वच्छन्दतन्त्र के नाम से उद्धृत वचन वहां उपलब्ध नहीं है और पृ० ११८ में उद्धृत वचन स्वच्छन्द में उपलब्ध न हो मालिनी विजय (९।४७,४९) में मिलता है। यहीं (पृ० ९) इच्छा आदि तीन शक्तियों के समर्थन में भारत का एक वचन स्मृत है। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत में इच्छा प्रभृति तीन शक्तियों का उल्लेख हुआ है। वास्तव में भारत के इस श्लोक में आकाश, जल और पृथिवी की अधिष्ठात्री देवियों का वर्णन है (देखिये-परिशिष्ट, पृ० २५२)।

नेत्रोद्योत के अन्त में (पृ० २४६) श्रीराम का गुरु के रूप में और भट्ट रक्तिक, गर्भेश तथा केशव का अन्तेवासी (शिष्य) के रूप में उल्लेख हुआ है। शिष्यों के संबन्ध में तो हमे कोई विशेष सूचना नहीं मिलती, किन्तु श्रीराम

---

१. आद्य शंकराचार्य प्रभृति ने मृत शरीर में प्रवेश किया था। वाण की कादम्बरी में भी चन्द्रापीड के मृत शरीर की रक्षा तथा उसमें उसके पुनः प्रवेश की कथा वर्णित है। यहाँ के वर्णन की विशेषता यह है कि इस गोलक क्रिया से सिद्ध योगी जीवित परशरीर में भी प्रवेश करता है।

अवश्य ही स्पन्दकारिका के टीकाकार और स्तोत्रकार[1] राजानक राम से अभिन्न प्रतीत होते हैं। ये नारायण कण्ठ के पुत्र रामकण्ठ नहीं हो सकते, क्योंकि राम कण्ठ की नादकारिका का क्षेमराज ने भेदवादी (पृ०१२) और मुग्धधियः (पृ० २२२) कहकर खण्डन किया है।

इस संक्षिप्त वाह्य परीक्षा के बाद अब हम ग्रन्थ की विषय वस्तु का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

नेत्रतन्त्र का संक्षेप

प्रथम अधिकार[2]—

मंगलाचरण[3] के बाद कैलास शिखर पर विराजमान भगवान शिव से पार्वती पूछती हैं कि भगवन्! आप मेरे सामने ऐसा रहस्य प्रकट कीजिए जिसे कि आपने अब तक कार्तिकेय आदि के सामने भी प्रकट नहीं किया है। देवी के ऐसा कहने पर प्रसन्नवदन भगवान् शिव कहते हैं कि तुम अपने मन की बात खोलकर मेरे सामने रखो, उसका मैं समाधान करूँगा। इस पर देवी पूछती है कि भगवन् नेत्र तो[4] जलमय माना जाता है, इससे अग्नि की उत्पत्ति कैसे होती है? जिस चक्षु से आप मुझे आनन्दविभोर कर देते हैं, उसी से कालाग्नि की उत्पत्ति कैसे हो जाती है?

इन प्रश्नो को सुनकर भगवान् कहते हैं कि मेरे नेत्रों में कालाग्नि और अमृत दोनों एक साथ रहते हैं। नेत्रतन्त्र का रहस्य समझाते हुए भगवन् कहते

---

१. राजानक राम और रामकण्ठ के विशेष परिचय के देखिये—लु० उपोद्घात, पृ० ६२-६३।

२. तन्त्र ग्रन्थों में प्रायः पटल विभाग ही देखा जाता है, किन्तु मालिनीविजय तन्त्र के समान यहां नेत्रतन्त्र को विभिन्न अधिकारों में बांटा गया है। पांचरात्र आगम की सात्वतसंहिता परिच्छेदों में तथा अहिर्बुध्न्यसंहिता, लक्ष्मीतन्त्र, पाद्मतन्त्र आदि अध्यायों में विभक्त हैं। इस तरह से कहा जा सकता है कि तन्त्र ग्रन्थों का पाटलिक विभाजन सार्वत्रिक नहीं है।

३. तन्त्रशास्त्र के प्रायः सभी ग्रन्थ प्रश्न-प्रतिवचन (उवाच) शैली में लिखे गये हैं। इसका विवेचन हमने विज्ञानभैरव की अपनी हिन्दी व्याख्या (पृ०, ३-६) में किया है। इनमें मंगलाचरण प्रायः नहीं मिला।

४. चक्षु की जलमयता में क्षेमराज ने चक्षु की श्वेतरूपता को हेतु के रूप में उपन्यस्त कर स्वच्छन्दतन्त्र (१०।१७४-१७५) का वह वचन उद्धृत किया है, जहाँ पर कि शिव के नेत्रोदक से दशविध गंगा की उत्पत्ति बताई गई है। क्षेमराज ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि तार्किक चक्षु को तेजोमय मानते हैं।

हैं कि आग की गरमी के समान और सूर्य की किरणों के समान शिव के साथ अविनाभाव सम्वन्ध से रहने वाली मेरी इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति ही सूर्य, और वह्नि का तथा मेरे तीन नेत्रों का स्वरूप धारण कर लेती है। इन तीन शक्तियों के सहारे से ही मैं ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का स्वरूप धारण कर सृष्टि, स्थिति और संहार व्यापार में प्रवृत्त होता हूँ और इनके सामरस्यमय निष्कल नेत्रामृत स्वरूप से जगत् को आप्यायित करता हूँ। यह स्वरूप मृत्यु पर विजय प्राप्त कराने वाला है, इसलिये इसको मृत्युजित् भी कहते हैं। यह नेत्र तत्त्व ऐहिक और आमुष्मिक दोनों प्रकार की कामनाओं को पूरा करने वाला है। इस नेत्राग्नि से मैं सारे जगत् को एक ही क्षण में भस्म भी कर सकता हूँ और पुन: उसे आप्यायित भी कर सकता हूँ। यह नेत्रतत्त्व, मृत्युंजय मन्त्र ऐसा अमोघ आयुध है, जिसकी सहायता से मनुष्य सव कुछ पा सकता है।

द्वितीय अधिकार—

यहां देवी प्रश्न पूछती है कि भगवन्! आपके इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति स्वरूप तीन नेत्रों से उत्पन्न यह सारा जगत् दुःख से भरा हुआ है। इनके कल्याण के लिये आप कोई उपाय वताइये। देवी के इस वचन को सुनकर प्रसन्नवदन भगवान् शंकर कहते हैं कि देवि! तुम वहुत करुणामयी हो अव मैं तुम्हारे सामने उस नेत्रतत्त्व को प्रकट करता हूं, जिसके विषय में आज तक किसी ने जिज्ञासा नहीं की थी। इस नेत्रतत्त्व का स्वरूप मन्त्र, योग और ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। पहले मैं तुमको इसका मन्त्रमय स्वरूप समझाता हूं इसकी आराधना से सभी प्रकार की शारीरिक और मानसिक वाधाएं दूर हो जाती हैं। मन्त्र के उद्धार की विधि को वताते हुए भगवान् शिव यहाँ मृत्युंजय मन्त्र के तीनों वीजों का तथा हृदय आदि छः अंग का वर्णन करते हैं।

तृतीय अधिकार—

इस प्रकरण में उस यागविधि का वर्णन किया गया है, जिसकी कि सहायता से मन्त्र सिद्ध होते हैं। स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि से पवित्र[1]

---

१. शतपथ ब्राह्मण (१।१।१।४, ६) में मनुष्यभाव को अनृत और देवभाव को सत्य मानकर यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति के लिये 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" इस मन्त्र का विधान किया है। यज्ञ की समाप्ति पर वह कहता है—"य एवास्मि सोऽस्मि"। अर्थात् इस पवित्र कर्म की समाप्ति के बाद मैं पुन: मनुष्यभाव को प्राप्त कर रहा हूं। इसी वैदिक दृष्टि को ध्यान में रखकर तन्त्रशास्त्र में "देवो भूत्वा देव यजेत्, शिवो भूत्वा शिवं यजेत्" इत्यादि वाक्यों का विधान हुआ है और इसके लिये भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा आदि आन्तर शुद्धि की विधियों का निरूपण किया गया है।

होकर साधक को याग मण्डप में यथा-स्थान गणेश आदि की पूजाकर वहां से विघ्नों का अपसारण करते हुए प्राणायाम, धारणा, न्यास, मुद्रा आदि से साधक को अपनी आन्तर शुद्धि करनी चाहिये। तदनन्तर अपने इष्टदेव का ध्यान करना चाहिये। यहां क्रमशः सौम्य, रौद्र और भीम आकृति वाले[1] सदा शिव, तुम्बुरु और भैरव स्वरूप के ध्यान और मानस पूजन के साथ ब्रह्म पूजन की विधि बताते हुए मण्डल में भगवन् के आवाहन, पूजन, हवन आदि का तथा [2]कुण्डनिर्माण, कुण्ड संस्कार, वागीशी आवाहन, वह्नि संस्कार' स्रुक स्रुव, पीठ और वेदि के निर्माण की विधि के साथ आज्य संस्कार की विधि का वर्णन करने के बाद अन्त में कतिपय काम्य होमों का उल्लेख किया गया है।

चतुर्थ अधिकार—

यहां भगवान् भोग और मोक्ष को देने वाली दीक्षाविधि का वर्णन करते हैं। [3]तत्त्व, कला, पद, वर्ण, मन्त्र और भुवन दीक्षा का उल्लेख करने के बाद यहाँ दीक्षाविधि का संक्षेप में वर्णन किया है और अन्त में बताया गया है कि दीक्षाविधि का विस्तार [4]अन्यत्र देखना चाहिये।

पंचम अधिकार—

अभिषेक विधि की प्रस्तावना करते हुए भगवान् यहाँ आठ, पांच, तीन एक कलश की स्थापना की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। अभिषिक्त

---

१. सौम्यरूप सदाशिव, रौद्ररूप तुम्बुरु और भीम आकृति वाले भैरव का यहां अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है। ये क्रमशः सिद्धान्त, वाम और दक्षिण शास्त्र के प्रवक्ता माने जाते हैं। यहां नवम अधिकार में सदाशिव की, दसवें में भैरव की और ग्यारहवें में तुम्बुरु की पूजाविधि वर्णित है। कम्बुज शिलालेख में तुम्बुरु के चार मुख और शिरच्छेद, वीणाशिव, संमोह एवं नयोत्तर नामक चार मन्त्रों का उल्लेख मिलता है। (देखिये—तन्त्रयात्रा, पृ० १०६)। वीणाशिव तन्त्र उपलब्ध है और इसका प्रकाशन शीघ्र होने वाला है। योगवासिष्ठ (नि०पू० १६।२४-२६) में भी तुम्बुरु और भैरव की और उनकी शक्तियों की चर्चा है, इसकी सूचना पहले दी जा चुकी है।

२. यह सारा विषय वैदिक कर्मकाण्ड के नितान्त अनुरूप है।

३. षडध्व के विस्तृत परिचय के लिये उपोद्घात (पृ० १७४-२०२) और इसमें उद्धृत ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये।

४. क्षेमराज ने 'अन्यत्र' पद से स्वच्छन्दतन्त्र का ग्रहण किया है।

साधक के लिए मन्त्र साधन की विधि बताने के साथ ही यहाँ मन्त्र जप द्वारा प्राप्त होने वाली विविध सिद्धियों का भी वर्णन किया गया है।

षष्ठ अधिकार—

भगवती यहाँ अमृतेश (मृत्युंजय) की आराधना की विधि बताने के लिये भगवान् से प्रार्थना करती है और भगवान् स्थूल, सूक्ष्म और पर नामक त्रिविध उपायों के वर्णन का उपक्रम करते हैं। इनकी संक्षिप्त परिभाषा प्रस्तुत करने के बाद यहाँ याग, होम, जप, ध्यान, मुद्रा, मन्त्र आदि का स्थूल उपायों में समावेश किया गया है।

सप्तम अधिकार—

इस अधिकार में सूक्ष्म उपाय वर्णित है। षट् चक्र, षोडश आधार, तीन लक्ष्य, पांच व्योम, (शून्य), बारह ग्रन्थि, तीन शक्ति, तीन धाम, तीन नाडी, दस नाडी, नाडीवृन्द आदि का वर्णन करते हुए यहां बताया गया है कि इनके सहारे योगी दिव्यदेह हो जाता है, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। योग में रुचि रखने वाले साधकों के लिये यह प्रकरण बड़ा महत्त्व का है। शक्ति के आरोह और अवरोह क्रम को समझाते हुए और [1]खेचरी मुद्रा का वर्णन करते हुए यहां शिव और शक्ति की सामरस्यमयी स्थिति को बताया गया है और अन्त में कहा गया है कि यह सूक्ष्म उपाय [2]कालवंचक है, अर्थात् इसका सहारा लेने वाला योगी काल को अपने पास फटकने नहीं देता।

---

१. तन्त्रशास्त्र में खेचरी मुद्रा का विशेष माहात्म्य है। तन्त्रालोक के ३२वें मुद्राह्निक में पूर्वशास्त्र (मालिनीविजय), योग संचार, वीरावली, कामिकागम, कुलगुह्वर और भर्गशिखाकुल में निर्दिष्ट खेचरी मुद्रा के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन किया गया है। सभी मुद्राएं खेचरी का ही प्रपंच हैं। मुद्रास्वरूप के सामान्य परिचय के लिये नित्या० उपोद्घात (पृ० ७५-७८) देखिये।

२. भर्तृहरि आदि सिद्ध योगियों की कालवंचकता का वर्णन हम लौकिक गाथाओं में भी सुनते हैं। यह सत्य है कि ऐसे योगी कालजयी होते हैं, इनका यश, शरीर कभी नहीं मिटता। गोरखनाथ, भर्तृहरि इसी योग-विधि के उपासक थे और ऐसा विश्वास किया जाता है कि श्रद्धालु जिज्ञासु के सामने ये अब भी अपने पांच मौलिक स्वरूप में प्रकट होते हैं।

अष्टम अधिकार—

यहाँ पर उपाय वर्णित है। उपनिषद् की पद्धति से अव्यय शिवतत्त्व का वर्णन करने के बाद यहां अष्टांग[1] योग का प्रतिपादन किया गया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि-योग के अंगों के ये नाम पातंजल योग-सम्मत होते हुए भी यहाँ उनकी व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है। इसके साथ ही यहां [2]आणव, शाक्त और शांभव समावेश भी वर्णित हैं। इन उपायों का सहारा लेने वाले योगी को काल कभी कवलित नहीं कर सकता। षडध्वातीत, चैतन्य लक्षण, स्वात्मस्वरूप शिवतत्त्व का, बन्ध-मोक्ष व्यवस्था का, शक्ति के विकास क्रम का, सर्वज्ञता[3] आदि छ: गुणों का, शिव के साभास और निराभास स्वरूप का, केवल शांभव उपाय के अवलम्बन का और अत्यन्त निर्मल शिव पद का वर्णन करने के बाद यहाँ स्थूल, सूक्ष्म और पर उपाय प्रकरण का उपसंहार किया गया है और बताया गया है कि इन उपायों से की गई मृत्युंजय की उपासना चिन्तामणि के समान अभीष्ट फल को देने वाली है। द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, एकवीर, यामल आदि शास्त्रों में भावभेद से इसी की उपासना वर्णित है। सात करोड़ मन्त्रों में मृत्युंजय मन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ है। इसकी उपासना से भावहीन, शक्तिहीन मन्त्र भी सिद्ध हो जाते हैं।

---

१. अष्टांग योग यहां पर उपाय के रूप में वर्णित है। इससे कुण्डलिनी योग की अपेक्षा अष्टांग योग की वरीयता सिद्ध होती है।

२. नेत्रतन्त्र में इनका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु क्षेमराज की व्याख्या के अनुसार यहां आणव, शाक्त और शाम्भव समावेश का तथा अनुपाय प्रक्रिया का भी विवेचन हुआ है।

३. "सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः। अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ।।" (१२।३३) वायुपुराण में महेश्वर के ये छः गुण वर्णित हैं। ये ही छः गुण यहां (८।३६-३०,२१। २७-२८) और स्वच्छन्दतन्त्र (४।४४५-४४६) में भी उल्लिखित हैं। शिव का इन गुणों से युक्त स्वरूप साभास और निर्गुण स्वरूप निराभास है। इन स्वरूपों की चर्चा आगे (२२।२२-२३, ५५-५६) भी हुई है। स्पन्द-प्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव ने ज्ञान आदि वैष्णव षाड्गुण्य और सर्वज्ञता आदि शैव षाड्गुण्य में अभेद स्थापित किया है। लु० उपोद्घात पृ० १९० की ३ टिप्पणी देखिये।

नवम अधिकार—

यहाँ देवी पुनः पूछती है कि हे देव ! आपने कहा है कि सभी आगमों में भावभेद से एक ही भगवान् वर्णित है, तो आप यह बताइये कि [1]वाम, दक्षिण, सिद्धान्त, सौर, वैष्णव, वैदिक आदि मतों में इसकी उपासना किस विधि से की जाती है ? इस पर भगवान् परमार्थ तत्त्व का निरूपण करते हुए कहते हैं कि चिन्तामणि के समान यह परम तत्त्व भी भावना के भेद से शिव सदाशिव, भैरव, तुम्बरु, सोम, सूर्य, वह्नि आदि का स्वरूप धारण कर साधकों को यथेष्ट फल देता है। नेत्र, मृत्युजित् और अमृतेश पद की व्याख्या करने के बाद यहाँ सिद्धान्त शास्त्र की पद्धति से सदाशिव स्वरूप की आराधना विधि का वर्णन किया गया है।

दशम अधिकार—

यहाँ भैरवागम (दक्षिण) की पद्धति से भयानक स्वरूप वाले भगवान् भैरव [2]की उपासना वर्णित है। भगवान् भैरव और कोटराक्षी अघोरेशी के स्वरूप का वर्णन करने के बाद यहां यामल स्वरूप की पूजाविधि वर्णित है है। यामल स्वरूप की चारों दिशाओं में [3]सिद्धा, रक्ता, शुष्का और उत्पलहस्ता नामक देवियों का और चारों विदिशाओं में काली, कराली, महाकाली और भद्रकाली का ध्यान, पूजा आदि किया जाता है। कुम्भीर नामक पशु का स्वरूप भी यहाँ वर्णित है, जो कि शुष्का देवी का वाहन है। क्रोधन, वृन्तक, कर्षण और गजानन—ये चार यामल स्वरूप के द्वारपाल हैं। अन्त में कामना के भेद से द्रव्यों के रूप और वर्ण का भेद बताते हुए विभिन्न प्रयोगों का यहां वर्णन किया गया है।

---

१. यहाँ कुलाम्नाय और बौद्ध मत का उल्लेख नहीं हुआ है, जबकि आगे इन मतों में वर्णित भगवत्स्वरूप की भी उपासना-विधि बताई गई है।

२. भैरव पद की निरुक्ति और उसके स्वरूप के विवेचन के लिए विज्ञान भैरव का "भया सर्वं रवयति" (श्लोक १२७) यह श्लोक और उस ग्रन्थ पर लिखा गया हमारा उपोद्घात (पृ० ६) देखिये। भैरव पद की संक्षिप्त निरुक्ति यहाँ भी (२१।७४) दी गई है।

३. योगवासिष्ठ (नि० पू० १९।२०-२१) में जया, विजया, जयन्ती और अपराजिता नामक वाम स्रोत पूजित देवियों के साथ सिद्धा, रक्ता, अलम्बुषा और उत्पला नामक दक्षिण स्रोत पूजित देवियों का भी उल्लेख कर बताया गया है कि ये आठ देवियाँ सभी मातृ देवियों की नायिकाएं हैं। यह ध्यान देने की बात है कि योगवासिष्ठ (नि० पू० १९।२३) में यहां तुम्बुरु और भैरव दोनों का एक साथ उल्लेख है और उक्त आठ देवियां भी एक साथ चर्चित हैं।

एकादश अधिकार—

यहां उत्तर (वाम) तन्त्र की पद्धति से भगवान् के तुम्बुरु स्वरूप की आराधनाविधि वर्णित है। तुम्बुरु स्वरूप के ध्यान का वर्णन करने के बाद यहां बताया गया है कि चारों दिशाओं में जम्भिनी, मोहिनी, सुभगा और दुर्भगा नामक दूतियों का तथा क्रोधन, वृन्तक, गजकर्ण और महावल नामक किंकरों का एवं तुम्बुरुनाथ के दाहिने और बाये गायत्री तथा सावित्री का विन्यास करना चाहिये। जया, विजया, अजिता और अपराजिता नामक देवियों के, दूतियों और किंकरों के, गायत्री और सावित्री के ध्यान और वाहन आदि का वर्णन करने के बाद यहाँ रक्षा और शान्ति के लिये चक्रराज का विधान बताया गया है।

बारहवां अधिकार—

यहाँ कुलाम्नाय की पद्धति से याग, होम, जप, आदि का विधान वर्णित है। भगवान् भैरव का और आठों दिशाओं में अथवा पंक्ति के क्रम से ब्राह्मी प्रभृति आठ मातृकाओं का विन्यास और उनके स्वरूप, आयुध तथा वाहन का वर्णन करने के बाद यहाँ बताया गया है कि इनकी उपासना से राजा से लेकर कृषक पर्यन्त सभी मानव अभीष्ट फल प्राप्त कर सकते हैं। अन्त में काम्य होम के लिये निश्चित द्रव्यों का यहाँ उल्लेख किया गया है।

तेरहवां अधिकार—

इस अधिकार में पहले [1]जयाख्यसंहिता की पद्धति से नारायण स्वरूप का तथा जया, लक्ष्मी, कीर्ति और माया नामक देवियों का ध्यान वर्णित है। बाद में [2]मायावामनसंहिता की पद्धति से विश्वरूप के साथ कर्पूरी, चन्दनी, कस्तूरी और कुंकुमी नामक देवियों के तथा नरसिंह, वराह, वामन,

---

१. यहाँ वर्णित नारायण और उनकी शक्तियों का ध्यान मुद्रित जयाख्यसंहिता (६।७३-९१) में देखा जा सकता है।

२. मायावामनसंहिता को लु० उपोद्घात (पृ० ५८) में हमने जया के साहचर्य से पांचरात्र संहिता माना है, किन्तु साथ में यह भी बताया है कि पांचरात्र संहिताओं की नामावली में इसका नाम नहीं मिलता। उत्पल वैष्णव (स्प० प्र०, पृ० ९२) के कथन से ज्ञात होता है कि नेत्रतन्त्र के समान इस संहिता में भी विभिन्न देवों की उपासनाविधि वर्णित है। ऐसा होने पर भी नेत्रतन्त्र का समावेश शैव तन्त्रों में ही किया जाता है। मायावामनसंहिता में किस मत का प्रधानतया प्रतिपादन किया गया है, इसका निश्चय तभी हो सकता है, जब कि ऊर्ध्वलिङ्ग बालरूपधारी विश्वरूप और कर्पूरी, चन्दनी, कस्तूरी एवं कुंकुमी देवियों की उपासना के सम्प्रदाय का पता चल जाय। दिग्वस्त्र आदि विशेषण शैव सम्प्रदाय के तथा बालरूप, अर्धलक्ष्मीयुत आदि विशेषण वैष्णव सम्प्रदाय के सूचक हैं। अधिक संभावना है कि ऊर्ध्वलिङ्गी बालरूपधारी विश्वरूप पाशुपत मत से संबद्ध हों।

कपिल आदि स्वरूपों के पूजन का विधान है। यहाँ सौरसंहिता की पद्धति से सूर्य आदि ग्रह और नक्षत्र परिवार की तथा विश्वकर्मा, रुद्र, ब्रह्मा और बुद्ध की भी ध्यान-पूजन-विधि वर्णित है। अन्त में यहाँ बताया गया है कि कार्तिकेय, काम, विनायक आदि सभी स्वरूप, गारुड, भूततन्त्र न्याय, जैन, योग आदि में वर्णित सभी उपास्य देवता एक ही भगवान् के विविध आकार हैं। इनकी पूजा में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रखना चाहिये। [1]ध्यान केवल इतना ही रखना चाहिये कि विभिन्न पूजाविधियों को एक-दूसरे के साथ मिला न दिया जाय। अन्त में मन्त्रराज मृत्युंजय की महिमा का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इसके एक बार के ध्यान-पूजन आदि से सब प्रकार की सिद्धियां हस्तगत हो जाती है और [2]राष्ट्र की श्रीवृद्धि होती है।

चौदहवां अधिकार—

यहां देवी पुनः प्रश्न पूछती है कि हे भगवन्! यदि इसी एक मन्त्र से सब कुछ सिद्ध हो जाता है, तो फिर अन्य शास्त्रों में वर्णित मन्त्रों की क्या आवश्यकता रह जायगी? इसके उत्तर में भगवान् शिव और शक्ति के यामल स्वरूप का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इस आदि सृष्टि से ही मन्त्रों की सृष्टि होती है। यह सारी सृष्टि मन्त्रनाथ का ही विलास है। सप्तकोटि महामन्त्र आद्यन्त से निरोधित हैं। ये मन्त्रराज से संपुटित होकर ही वीर्यवान बनते हैं। इस रहस्य को पूरी तरह से गुप्त रखना चाहिये।

पन्द्रहवाँ अधिकार—

इस प्रकरण में मन्त्रराज द्वारा संपन्न होने वाली रक्षाविधि का तथा अत्यन्त उग्र रक्षोघ्न धूप का विधान है। रक्षोघ्न द्रव्य सर्षप, सिद्धार्थक और नीराजन के नाम से यहां वर्णित हैं। यह रक्षोघ्न द्रव्य शुक्ल, रक्त, पीत और कृष्ण के भेद से युगानुरूप चार भेदों में विभक्त है, किन्तु आजकल इसके दो ही

---

१. मीमांसा में स्वशाखाप्रत्ययन्याय प्रसिद्ध है। तदनुसार व्यक्ति को अपनी शाखा में वर्णित पद्धति से ही अनुष्ठान करना चाहिये। इसी विषय की ओर यहां इंगित किया गया है। जिस विषय का उल्लेख अपनी शाखा में नहीं है, उसको दूसरी शाखा से लिया जा सकता है। इस वैदिक मान्यता को ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द (पृ० २२५) ने स्वीकार किया है।

२. राष्ट्र की श्रीवृद्धि के लिए १९वें अधिकार में भी अनेक प्रयोग बताये गये हैं।

रूप उपलब्ध हैं। प्रसंगवश रक्षोघ्न द्रव्य का वर्णन करने के बाद यहां कुछ काम्य प्रयोगों का वर्णन किया गया है और अन्त में दृष्टान्तों के द्वारा मन्त्रराज का माहात्म्य वर्णित हैं और यह भी बताया गया है कि मन्त्र सभी प्रकार की सिद्धियों को किस तरह से प्रदान करते हैं।

सोलहवां अधिकार—

यहां देवी पुन: प्रश्न पूछती है कि कलिकाल में मनुष्य भांति-भांति के दुःखों से पीड़ित हैं। इसके दुःखों के निवारण का आप कोई सरल उपाय बताइये। इस पर कलिकाल के मानवों की दुःस्थिति का वर्णन करते हुए भगवान मृत्युंजय मन्त्रराज को ही इस सब संकटों के निवारण का एकमात्र उपाय बताते हैं। अपनी भावना के अनुसार इनकी विविध पद्धतियों से उपासना की जा सकती है। आगे मृत्युंजय की यजन-विधि का वर्णन करते हुए यहाँ याग-स्थान को गुप्त रखने का निर्देश दिया गया है, क्योंकि हिंसक मानवों द्वारा मन्त्रसिद्धि में दस प्रकार से बाधाएं डाली जा सकती हैं। आचार्य (गुरु) की विशेषताओं का विस्तार से वर्णन करते हुए यहां बताया गया है कि योग्य आचार्य द्वारा प्रदत्त मन्त्र ही भोग और मोक्ष का प्रदाता होता है। कर्मी, योगी और ज्ञानी के भेद से आचार्य तीन तरह का होता है और इनमें ज्ञानी गुरु सर्वश्रेष्ठ होता है। ऐसे गुरु के द्वारा दीक्षित शिष्य के सभी पाप क्षीण हो जाते हैं और उसको परम पद की प्राप्ति होती है। क्रियाशक्ति, योगशक्ति और ज्ञानशक्ति के स्वरूप को बताते हुए शिव इनकी परस्पर सापेक्षता का वर्णन करते हुए शक्तिमान् के स्वरूप का निरूपण कर कहते हैं कि शक्तिहीन मन्त्र निष्फल हैं। इसलिये शान्तिक, पौष्टिक आदि कर्मों की सिद्धि के लिये मन्त्रों में शक्ति का आधान आवश्यक है। इसके उपरान्त यहां विविध काम्य प्रयोगों का वर्णन किया गया है। अन्त में बताया गया है कि दीक्षित शिष्य को भक्तिभाव से अपने गुरु का पूजन अवश्य करना चाहिए।

सत्रहवां अधिकार—

इस अधिकार में चक्रराज के लेखन और पूजन की विधि बताई गई है। सर्वविध रक्षा और पुष्टि आदि के निमित्त इसका विनियोग बताते हुए यहाँ पुन: अनेक काम्य प्रयोगों का वर्णन किया गया है।

अठारहवां अधिकार—

यहाँ देवी दुष्ट मानवों द्वारा मन्त्र की सिद्धि में डाली जाने वाली बाधाओं के तथा उनके द्वारा प्रयुक्त कृत्या, खार्खोद (मृत्यु, उच्चाटन आदि के लिए प्रयुक्त होने वाला यन्त्र) आदि के निवारण का उपाय तथा प्रत्यंगिरा के

प्रयोग की विधि पूछती हैं। इस पर भगवान् कहते हैं कि मन्त्रवाद को भली-भांति समझकर सिद्ध किये गये मन्त्रों के सहारे ये सब कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। मन्त्रवाद के दीपन, बोधन आदि नौ प्रकारों का; संपुट, ग्रथित आदि ११ प्रकार के मन्त्र प्रयोगों का; सिद्ध, साध्य आदि तथा उदय, व्याप्ति, ध्यान, मुद्रा आदि के स्वरूप का वर्णन करते हुए यहां बताया गया है कि इन सब विधियों से मन्त्रों में शक्ति का आधान करना चाहिये। यहां पुन: मन्त्रराज मृत्युंजय की महिमा का वर्णन किया गया है। आगे कलिकाल के नाना दोषों से ग्रस्त प्राणियों के कल्याण के लिये श्रीयाग का विधान विस्तार से वताया गया है। इस श्रीयाग की फलश्रुति भी विस्तार से वर्णित है और वताया गया है कि युद्ध के अवसर पर इसकी आराधना करने से अवश्य ही विजय प्राप्त होती है और शत्रु द्वारा प्रयुक्त सभी बाधाएं दूर हो जाती हैं। इस याग का अनुष्ठान अत्यन्त गुप्त रूप से करना चाहिये और अपनी भावना के अनुसार शैव, वैष्णव, सिद्धान्त आदि में से किसी भी पद्धति से यह किया जा सकता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिये इसकी एकवीर [1]पद्धति से उपासना करनी चाहिये। भोगार्थी के लिये यहां महालक्ष्मी की उपासना की दूसरी पद्धति और उसकी फलश्रुति कही गई है और प्रसंगवश [2]निर्वाण का स्वरूप वताया गया है। अन्त में संक्षेप में लूतादोष, विषदोष आदि से हुई अपमृत्यु की शान्ति के लिए कुछ प्रयोग वर्णित हैं।

उन्नीसवां अधिकार—

यहाँ देवी छायाछिद्र, दृष्टिपात, वालपीडा आदि दोषों के निवारण का उपाय पूछती हैं। इस पर भगवान् भूत-पिशाच आदि की उत्पत्ति का इतिहास बताते हुए कहते हैं कि इन्द्र आदि देवताओं की प्रार्थना पर दैत्यों के विनाश के लिये मैंने ही [3]स्वच्छन्द भैरव का स्वरूप धारण कर मातृगण, भूत-पिशाच

---

१. क्षेमराज ने (पृ० ९८) परात्रिंशिका और मतत्रिंशिका को एकवीर पद्धति का प्रतिपादक ग्रन्थ माना जाता है, इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। यहाँ एकवीर पद्धति का अभिप्राय एकमात्र अमृतेश की उपासना से है।

२. नदी जैसे समुद्र में मिलकर तदाकार हो जाती है, वैसे ही भवसागर से मुक्त जीव शिव वन जाता है। इस प्रकार शिवभाव की प्राप्ति को ही यहाँ (१८।१११) निर्वाण कहा गया है।

३. स्वच्छदभैरव की इस चर्चा से भी नेत्रतन्त्र की अपेक्षा स्वच्छन्दतन्त्र की प्राचीनता सिद्ध होती है।

आदि की सृष्टि की थीं। दैत्यों के विनाश के वाद मेरे वरदान से उन्मत्त होकर ये जव प्रजा का उत्पीड़न करने लगे, तो देवों की प्रार्थना पर मैंने प्राणियों की रक्षा के लिये मन्त्रों की सृष्टि की। इससे भयभीत होकर जव वे मेरे पास आये तो उनको मैंने स्थल, जल आदि में विभक्त कर दिया और उनके लिये मर्यादा बांध दी कि वे किस प्रकार के पुरुषों और स्त्रियों को पीड़ा पहुंचावेंगे। छायाछिद्र, दृष्टिपात आदि का स्वरूप वताते हुए भगवान् कहते हैं कि ऐसी स्थिति में विना विलम्ब के इनका उपचार करना चाहिये। इसके वाद यहां मातृगण, विनायक, यक्ष आदि की तुष्टि के लिये याग, पूजन, वलि आदि का विधान कर पुनः मृत्युंजय मन्त्र का माहात्म्य वताया गया है। [1]वलि शब्द का निर्वचन भी यहाँ दिया गया है। विविध बाधाओं से वचने के सामान्य नियमों का वर्णन करने के वाद यहां अपने परिवार की, भक्त शिष्यों की तथा राज-परिवार की रक्षा के लिये विविध प्रयोग वताये गये हैं। इसी प्रसंग में यहां अस्त्रयाग, नीराजन आदि का तथा गो, अश्व, गज आदि की रक्षा का विधान कर दुर्भिक्ष, दुष्टग्रह आदि उपद्रवों की शान्ति तथा राष्ट्र की वृद्धि के लिये भी अनेक प्रयोग वताये गये हैं।

यहाँ देवी रक्षा का स्वरूप समझने के लिये प्रश्न करती है कि यह रक्षा[2] आत्मा की की जाती है या शरीर की अथवा किसी तीसरी वस्तु की? इस पर शिव कहते हैं कि ऐसा प्रश्न तो मेरे सामने गरुड़ आदि ने भी नहीं रखा था। इनना कहकर आणव, कार्म और मायीय मल का स्वरूप समझाते हुए और [3]भोग शब्द की व्याख्या करते हुए भगवान् वताते हैं कि जब तक ईश्वर का अनुग्रह नहीं होता, तब तक पशु (जीवात्मा) बैल की तरह पाश (वन्धन) में वंधा रहता है। शिव की अनुग्रह शक्ति का और उसके विभिन्न स्वरूपों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि ऐसी स्थिति में जीव की सबसे बड़ी

---

१. नष्ट हुई स्मृति और ओजस्विता को, विजय, ऐश्वर्य, शरीरस्वास्थ्य, आयु और सुख को जो सबको वलपूर्वक देती है, उसे 'बलि' कहते हैं।

२. इन प्रश्नों का आगे कोई स्पष्ट समाधान नहीं मिलता, किन्तु त्रिविध मल का जो निरूपण किया गया है, उससे यह अभिप्राय निकलता है कि इन मलों से आवृत आत्मा की और उसके शरीर की भी रक्षा यहां अभिप्रेत है। अन्ततः त्रिविध मल का शोधन ही दीक्षा-व्यापार का परम प्रयोजन है।

३. यहाँ (१९।१४७-१४८) विकल्प को ही भोग वताया गया है और कहा गया है कि यह सारा संसार विकल्पमात्र है। भोग शब्द की विस्तृत व्याख्या के लिए लु० उपोद्घात (पृ० १६५-१६६) देखना चाहिये।

रक्षा दीक्षा के द्वारा ही हो सकती है। जीव-रक्षा, शरीर-रक्षा आदि का वर्णन करते हुए यहाँ इस रक्षाप्रकरण का उपसंहार किया गया है और बताया गया है कि इस विषय का विस्तार [1]अन्यत्र किया गया है। इसके उपरान्त आधार रक्षा आदि आठ रक्षाओं का निरूपण करते हुए बताया गया है कि नेत्रनाथ मृत्युंजय भट्टारक पर कृत (सत्य), त्रेता आदि युगों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु अपनी-अपनी भावना के अनुरूप वह चिन्तामणि के समान अभीष्ट फल को देता है। अत: सबको इसी मन्त्रराज की उपासना करनी चाहिये।

बीसवां अधिकार—

यहां पहले देवी पूछती है कि हे भगवन्! आप यह बताइये कि योगिनी, शाकिनी आदि देवियां दूसरे प्राणियों के शरीर से प्राणों का अपहरण क्यों कर लेती है? वे इतनी क्रूर किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये बन जाती हैं? इस पर शिव उत्तर देते हैं कि मात्र [2]पति (शिव) के शासन (आज्ञा) का पालन करने के लिये बिना राग-द्वेष के वे ऐसा करती हैं। पशुओं की सृष्टि [3]यज्ञ के लिये हुई है, अत: देवदेव भगवान् शिव (पति) के यजन के लिये वे ऐसा करती हैं। इससे पशुओं का कल्याण ही होता है, क्योंकि इस तरह से वे सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं और उनको ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति होती है। पर, सूक्ष्म और स्थूल—त्रिविध योग-प्रक्रिया के द्वारा वे ऐसा करती हैं। यह उनका वध नहीं है, किन्तु इस तरह से वे व्यापक शिवतत्त्व में विलीन हो जाते हैं। तीनों मलों से मुक्त हो जाने पर पुन: उनको दूसरा

---

१. यहाँ (१९।१८२) बताया गया है कि इस तरह से संक्षेप में भूतविनिर्णय किया गया, इसका विस्तार अन्यत्र देखना चाहिये। क्षेमराज ने विस्तार के लिये तोतुल और क्रियाकालगुणोत्तर को उद्धृत किया है। हमने पहले बताया है कि क्रियाकालगुणोत्तर में गारुडतन्त्र और भूततन्त्र इन दोनों के विषयों का समावेश है। तोतुल एक गारुडतन्त्र है, किन्तु इसमें भी संभव है, भूततन्त्रों का विषय समाविष्ट हो और इस तरह से उक्त दोनों ही तन्त्रों में भूत-प्रेत, गन्धर्व-पिशाच आदि से ग्रस्त व्यक्तियों के उपचार की विधि का विस्तार से निर्णय किया गया हो।

२. शैवागमों में भगवान् शिव को पति, जीवात्मा को पशु और त्रिविध अथवा पंचविध मल को पाश कहा गया है। इनके विशेष विवरण के लिये लु० उपोद्घात (पृ० १२३-१५१) देखिये।

३. यज्ञीय हिंसा के लिये भी प्राय: ये ही बातें कही जाती हैं।

शरीर नहीं धारण करना पड़ता। इस प्रसंग में पर, सूक्ष्म और स्थूल योग-प्रक्रिया की संक्षिप्त व्याख्या करते हुए भगवान् कहते हैं कि वे देवियां इनमें से किसी एक प्रक्रिया से जब पशु के प्राणों का अपहरण करती हैं, तो इससे प्राणी का कल्याण ही होता है। त्रिविध योग द्वारा प्राप्त होने वाली उपलब्धियों का वर्णन कर यहाँ बताया गया है कि जो इस त्रिविध योग का अभ्यास नहीं करता, वह नरक में जाता है। मन्त्रवाद का सहारा कहाँ लेना, कहाँ नहीं, इसका निरूपण करने के साथ यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि इसका उपयोग बहुत ही सावधानी के साथ करना चाहिये। उत्तम सिद्धि अथवा मोक्ष की कामना वाला व्यक्ति कभी भी मन्त्रवाद का सहारा न ले। केवल लोक-कल्याण के लिये ही मन्त्रवाद का उपयोग करना चाहिये। विपरीत आचरण करने वाला नष्ट हो जाता है। मन्त्रसृष्टिविषयक इतिहास का उल्लेख करते हुए यहाँ पुनः इस विषय में सावधानी रखने का आदेश देते हुए मन्त्रों के वास्तविक स्वरूप का वर्णन कर अन्त में मृत्युंजय मन्त्र का माहात्म्य बताया गया है।

इक्कीसवां अधिकार—

इस अधिकार में देवी मन्त्रों के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न पूछती है और अनेक तर्कों के सहारे यह सिद्ध कर देती है कि मन्त्र शिवात्मक, शक्त्यात्मक तथा आणवात्मक नहीं हो सकते और इन तीन तत्त्वों के अतिरिक्त यहाँ किसी की स्थिति नहीं है। ऐसी अवस्था में मन्त्रों में अद्भुत शक्ति के दर्शन कैसे होते हैं, संक्षेप में मुझे आप यह समझाइये। इन प्रश्नों को सुनकर शिव प्रसन्न हो जाते हैं और कहते हैं कि तत्त्वत्रय के अतिरिक्त इस संसार में कुछ भी नहीं है, अतः मन्त्र भी शिवात्मक, शक्त्यात्मक अथवा आणवात्मक ही हैं। इसके उपरान्त यहाँ जगत् की तत्त्वत्रयात्मकता का विस्तार से वर्णन किया गया है। शिव, शक्ति और आणव नामक तत्त्वों का, इनकी अद्वयता का, निरोभाव तथा अनुग्रह व्यापारों का और सृष्टि का स्वरूप बताते हुए भगवान् कहते हैं कि इस सृष्टि के शिव निमित्तकारण और शक्ति उपादानकारण है। इस विषय को यहाँ दृष्टान्तों के द्वारा स्पष्ट किया गया है। तदुपरान्त इस पूरे प्रकरण का उपसंहार करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि मन्त्र भी त्रितत्त्वात्मक है। उन्मना, समना आदि ध्वनियों का, नादस्वरूप शब्दब्रह्म की विविध अवस्थाओं का वर्णन करते हुए यहाँ बताया गया है कि यह मन्त्रों का शिवात्मक स्वरूप है। इनका शक्त्यात्मक स्वरूप ५० वर्णों वाली सूक्ष्म मध्यमा वाणीमय मातृका से बना है। इसी से सारे मन्त्र उत्पन्न होते हैं। अमृतेश, मृत्युंजय और भैरव

[1]पद की निरुक्ति के साथ मन्त्र [2]पद की भी निरुक्ति बताते हुए यहाँ पुनः मन्त्रों की शिवात्मता और शक्त्यात्मता को सुपुष्ट करते हुए अन्त में मन्त्रों की आणवात्मता का निरूपण किया गया है और इसकी सिद्धि के लिये [3]मन्त्र, ध्यान, तथा मुद्रा नामक तीन उपायों का और इनके दीक्षा, मण्डल आदि विस्तारों का उल्लेख हुआ है।

बाइसवां अधिकार—

यहां देवी पुनः प्रश्न करती है कि हे भगवन् ! अब तक आपने असंख्य मन्त्रों का उपदेश किया है। उनमें मन्त्रराज मृत्युंजय ही सर्वोत्कृष्ट है, इसका क्या कारण है ? मेरे इस संशय को आप दूर कीजिये। तब नेत्रतन्त्रात्मक मृत्युंजय मन्त्र की उत्कृष्टता के कारण बताते हुए भगवान् नेत्र पद की विशद व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि इसी नेत्रतत्त्व से अमोघ शक्ति वाले मन्त्रों की उत्पत्ति होती है। मन्त्रनाथ के विभिन्न अक्षरों की व्याप्ति को बताते हुए षडध्व, षट्कारण, प्रणवकला आदि का उपदेश करते हुए लयावस्था का, साभास और निराभास स्वरूप का वर्णन करने के बाद अकार से लेकर उन्मनी पर्यन्त नादकलाओं का, [4]सद्योजात से लेकर ईशान पर्यन्त पंचवक्त्रकलाओं का तथा इनके स्वरूप का वर्णन किया गया है और बताया गया है कि समना-

---

१. शैवागमों में भुवन, तत्त्व आदि की परिपाटी को ब्रह्माण्ड,प्रकृत ण्ड, मायाण्ड और शक्त्यण्ड नामक चार अण्डों में विभक्त किया गया है। इन सभी अण्डों के भरणकर्ता शिव को ही यहां(२१।७४) 'भैरव' कहा गया है।

२. साधक को संसार-सागर से मुक्त कर परशिवतत्त्व में संयोजित कर देते हैं, अर्थात् जीव को पाशजाल से मुक्त कर उसमें शिवत्वभाव की अभिव्यक्ति कर देते हैं और मनन करने वाले साधक की रक्षा भी करते हैं, अतः इनको 'मन्त्र' कहा जाता है (२१।७५-७६)

३. तीन संख्या वाले पदार्थों का उल्लेख करते हुए महेश्वरानन्द (म० म० प० पृ० ८८-८९) ने मन्त्र, मुद्रा और निरीहा का रहस्य-विभाग में अन्तर्भाव किया है। नेत्रतन्त्र में मुद्रा के विषय में कुछ विशेष नहीं कहा गया है।

४. पंचवक्त्र कलाओं का वर्णन स्वच्छन्दतन्त्र (१।५३-५९) में भी है। वहाँ विपरीत क्रम से, अर्थात् ईशान से सद्योजात पर्यन्त इन कलाओं के नाम वर्णित हैं। स्वल्प पाठभेद के सिवाय कलाओं के नामों और उनके क्रम में भी कोई अन्तर नहीं है।

पर्यन्त पाशजाल से उत्तीर्ण साधक ही शिवपद को प्राप्त कर सकता है। शिव की साभास और निराभास स्थिति का वर्णन कर यहां कहा गया है कि इस स्थिति तक पहुंचा हुआ व्यक्ति ही मन्त्रों के रहस्य को जान सकता है और उनको भोग और मोक्ष का प्रदाता बना सकता है। ऐसा न होने पर मन्त्रों की सामर्थ्य क्षीण हो जाती है। मन्त्रों की उदय, व्याप्ति आदि अवस्थाओं को जो जानते हैं, मन्त्र उनके सेवक बन जाते हैं। यह सब एकमात्र मृत्युंजय मन्त्र की आराधना से संभव हो सकता है। अन्त में यहां इस तन्त्र के अधिकारी और अनधिकारी व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है।

नेत्रतन्त्र के इस संक्षिप्त विवरण को देखने से पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा कि नेत्रतत्त्व[1] ही इसका प्रधान प्रतिपाद्य है तथा मृत्युजित् और अमृतेश के नाम से भी यह तत्त्व प्रसिद्ध है। इस नेत्रतत्त्व को जानने के तीन उपाय यहाँ (२।११) बताये गये हैं—मन्त्र, योग और ज्ञान। पूरे ग्रन्थ में इन्हीं का विस्तार से निरूपण किया गया है। संक्षिप्त विवरण में और यहाँ दी गई टिप्पणियों में हम इस ग्रन्थ के प्रायः सभी सामान्य विषयों का परिचय दे चुके हैं। अब हम क्रमशः नेत्रतत्त्व के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के लिये वर्णित उपायों—मन्त्र, योग और ज्ञान—जैसे विशेष महत्त्व के विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

नेत्रतत्त्व का स्वरूप

यहां प्रथम अधिकार (श्लो० २२-४७) में नेत्रतत्त्व का स्वरूप वर्णित है। यह शुद्ध व्यापक और सर्वतोमुख है। सभी प्राणियों की अन्तरात्मा में यह स्थित है और यही सबका जीवन है। यही स्वसंवेद्य शिवतत्त्व है। यही सब में बल, वीर्य और ओज का संचार करता है। इस शिवतत्त्व के साथ इच्छा (विमर्श) शक्ति स्वाभाविक रूप में उसी तरह जुड़ी हुई है, जैसे कि[2] अग्नि के साथ उसकी ऊष्मा (गर्मी) और सूर्य के साथ उसकी किरणें। इस इच्छा शक्ति से ही सारे जगत् की सृष्टि होती है। सर्वज्ञता[3] आदि गुण उसमें व्यक्त और अव्यक्त रूप से रहते हैं। यह इच्छाशक्ति ही ज्ञान और क्रियाशक्ति का भी रूप धारण कर लेती है। सर्वज्ञता आदि छः गुण इस क्रियाशक्ति में स्पष्ट भासित

---

१. नेत्र, मृत्युजित् और अमृतेश शब्दों का अर्थ आगे दिया गया है।

२. विज्ञानभैरव के १८-२१ श्लोकों में इन्हीं उदाहरणों से शक्ति और शक्तिमान् में अभेद स्थापित किया गया है।

३. इस विषय पर आगे विचार किया गया है।

होने लगते हैं। यही अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाली और उनका उपसंहार करने वाली भी है। ये[1] इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियां ही सूर्य, सोम और अग्नि के रूप में और शिव के तीन नेत्रों के रूप में प्रसिद्ध होती हैं। भगवान् शिव काल, काम आदि का दहन और जगत् का आप्यायन, प्रकाशन आदि इन्हीं की सहायता से करते हैं। इस तरह से नेत्रतत्त्व का इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक सकल स्वरूप बनता है। इनका निष्कल स्वरूप विशुद्ध ज्ञानमय और परमानन्दमय है।

यह नेत्रतत्त्व सबको मोक्ष प्रदान करने वाला है। यह सबका दुःख दूर करता है, अतः इसे मृत्युजित् भी कहा जाता है। यह सभी प्रकार की आधि-व्याधियों को और दारिद्र्य को दूर करने वाला है। अमोघ, अमल (निर्मल), शान्तस्वरूप यह तत्त्व करोड़ों सूर्यों और वह्नियों से भी अधिक तेजस्वी है। इसी से सब कुछ प्रकाशित होता है। इससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इसी के स्वरूप हैं। यही रुद्र के महापाशुपत अस्त्र का, विष्णु के सुदर्शन चक्र और ब्रह्मा के ब्रह्मदण्ड का रूप धारण कर लेता है और इनकी सहायता से सबकी रक्षा करता है। यही त्रिविध मल से आवृत अणुओं (जीवात्माओं) का उद्धार करता है। छाया-दोष, भूत-पिशाच आदि से डरे हुए, मानसिक बाधाओं से ग्रस्त और पशुओं से पीडित व्यक्तियों की यही रक्षा करता है एवं परम ध्रुवपद मोक्ष का प्रदाता भी है। अधिक क्या कहा जाय, जो कुछ इस संसार में ऐश्वर्यमय और ऊर्जा से ओतप्रोत है, वह सब इस नेत्रतत्त्व का ही स्वरूप है। यह सभी प्राणियों का रक्षक है।

नेत्र आदि पदों की निरुक्ति बताते हुए आगे (९ १२-१३) कहा गया है कि नियन्त्रित, अर्थात् माया के बन्धन में जकड़े हुए जीवों की यह रक्षा (त्राण) करता है, इसलिये इसको नेत्र कहते हैं। मृत्यु से अर्थात् संसार में आवागमन के चक्कर से जीवों का यह उद्धार करता है, इसलिये इसको मृत्युजित् कहते हैं और अमृत पद का प्रदाता होने से यह अमृतेश कहलाता है। यह सर्वव्यापक देव चिन्तामणि के समान भावना के भेद से अनेक प्रकार के रूप धारण कर लेता हैं। आगे (२१।७२-७३) अमृतेश, मृत्युजित् और भैरव पदों की निरुक्ति बताते हुए कहा गया है कि यह देवदेवेश पर, अपर और परापर स्वरूप धारण कर अपने बीजत्रयात्मक मन्त्रमय वीर्य के सृष्टि और संहार व्यापार की तृतीय अमृतमय बीज में आहुति देकर समरस रूप में स्थित हो जाता है, इसलिये इसे

---

१. मालिनीविजय (३।५-८) में इन तीनों शक्तियों के लक्षण बताये गये हैं। आगे इस विषय पर विचार किया जायगा।

अमृतेश कहते हैं। मृत्युजित् पद की व्याख्या यहां पूर्ववत् है। इसको भैरव इस लिये कहा गया है कि यह[1] ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड और शक्त्यण्ड—इन चतुर्विध अण्डों का भरण-पोषण करने वाला है। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि भैरवावतार भगवान् मृत्युंजय भट्टारक ही यहाँ नेत्रतत्त्व, मृत्युजित् अथवा अमृतेश के नाम से व्याख्यात हैं। इस स्वरूप की प्राप्ति का पहला उपाय मन्त्र है। मन्त्र देवता का विग्रह माना जाता है। मृत्युजित् भट्टारक का मन्त्र मृत्युंजय सभी मन्त्रों में श्रेष्ठ है। इसीलिये इसको यहां मन्त्रराज कहा गया है। इसका स्वरूप और माहात्म्य यहां विस्तार से वर्णित है। पाठकों की सुविधा के लिये हम उसका यहां निरूपण कर रहे हैं।

मृत्युंजय मन्त्रराज

यह भगवान् का मन्त्रमय विग्रह है। शरीर के अंगों में जैसे नेत्र की प्रधानता रहती है, उसी तरह से सप्तकोटि महामन्त्रों में वह प्रधान है। द्वितीय अधिकार (श्लो० १०-२८) में इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए इसके तीनों बीजाक्षरों का उद्धार कर उनकी महिमा गाई गई है। मरणासन्न व्यक्ति की रक्षा के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले मृत्युंजय मन्त्र और उसके बीजाक्षरों से हम सब प्रायः परिचित हैं। चौदहवें अधिकार में यहां मन्त्रराज की बडी महिमा गाई गई है। बताया गया है कि यह सारी सृष्टि मन्त्रराज का ही विलास है। मन्त्र तो असंख्य हैं। सकल, निष्कल और परिवार देवताओं के भेद से इनकी गिनती कर पाना कठिन है। ये सभी मन्त्र आद्यन्त से निरोधित होने से किसी भी प्रकार की सिद्धि को देने में असमर्थ रहते हैं। मृत्युंजय मन्त्रराज से सपुटित होकर ही ये वीर्यवान् बन सकते हैं। पन्द्रहवें अधिकार में मन्त्रराज की आराधना से संपन्न होने वाली रक्षाविधि का वर्णन है। सोलहवें अधिकार में मृत्युंजय मन्त्रराज को सब कष्टों के निवारण का एकमात्र उपाय बताया गया है और कहा गया है कि अपनी-अपनी भावना के अनुसार इसकी विविध पद्धतियों से उपासना की जा सकती है। मन्त्रवाद के प्रसंग में अठारहवें अधिकार (श्लो० १६-२०) में और उन्नीसवें अधिकार (श्लो० ७८-९५) में भी इसकी महिमा गाई गई है और वहीं (१९।२१९) यह भी बताया गया है कि मृत्युंजय भट्टारक पर कृत (सत्य), त्रेता आदि युगों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अपनी-अपनी भावना के अनुसार वह चिन्तामणि के समान सदा उनको अभीष्ट फल देता है। अन्त में यहा प्रपंच रहित शिव के साथ मृत्युंजय मन्त्र का अभेद

---

१. चतुर्विध अण्डों का स्वरूप परमार्थसार, तन्त्रालोक आदि में देखना चाहिये।

स्थापित किया गया है। बीसवें अधिकार के अन्त में भी बताया गया है कि इस मन्त्रराज की आज्ञा का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता।

बाईसवें अधिकार (श्लो० १-१३) में मृत्युंजय मन्त्रराज का अधिक विस्तार से विवेचन किया गया है। यहाँ देवी पूछती है कि हे भगवन्! अब तक आपने असंख्य मन्त्रों का उपदेश किया है, उनमें मन्त्रराज मृत्युंजय ही सर्वोत्तम है, इसका क्या कारण है? इस पर नेत्रतत्त्वात्मक मृत्युंजय मन्त्र की उत्कृष्टता के कारण बताते हुए भगवान् कहते हैं कि यह मन्त्र नित्य, नियामक, निष्प्रपंच, निराभास शिव-स्वरूप से अभिन्न है। यही तारक शिव है। यह सबकी रक्षा करता है। त्रस्त प्राणियों को भयमुक्त करता है। उनको मोक्ष की प्राप्ति कराता है। संसार रूपी महान् भय से सबको तार देता है। इस तरह से मोक्ष मार्ग की तरफ ले जाने और सर्वविधभय से त्राण (रक्षा) दिलाने के कारण इसको नेत्र मन्त्र भी कहते हैं। यह सब प्राणियों का जीवनदाता है। इस लिये भी इसको नेत्र कहते हैं। यह सभी मन्त्रों का स्वामी है। उस अधिकार के अन्त में (श्लो० ६३-६८) बताया गया है कि अमृतेश, मृत्युंजय मन्त्र के प्रसाद से सभी मन्त्र शिवमय हो जाते हैं। इस तरह से हम देखते हैं कि इस पूरे ग्रन्थ में भगवान् भैरव मृत्युजित् और उनके वाचक महामन्त्र मृत्युंजय की ही महिमा गाई गई है।

प्रधानतः नेत्रतत्त्व (मृत्युजिन्नाथ) और मृत्युंजय मन्त्रराज के प्रतिपादक इस ग्रन्थ में मन्त्रों के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री मिलती है। हमने पहले बताता है कि अभिनव गुप्त ने इस ग्रन्थ को उद्धृत किया है। क्षेमराज मन्त्र प्रकरण की व्याख्या करते समय उच्छुष्मतन्त्र को स्मरण करते हैं। बौद्ध तन्त्रों[1] में भी यह उद्धृत है। शारदातिलक आदि ग्रन्थों की अपेक्षा यह प्रतिपादन अवश्य ही प्राचीन है। नेत्रतन्त्र में मन्त्रवाद के नाम से इस विषय पर विचार किया गया है। अतः हम भी इसी शीर्षक के अन्तर्गत इस विषय का विवेचन करेंगे।

मन्त्रवाद—

आठवें अधिकार (श्लो० ५९-६३) में मृत्युंजय महामन्त्र की महिमा का वर्णन करते हुए बताया गया है कि [2]भावहीन, शक्तिहीन, कीलित, वर्ण और

---

१. देखिये—अद्वयवज्रसंग्रह, पृ०२८

२. इस प्रकरण में आये सभी पारिभाषिक शब्दों का विवरण क्षेमराज ने अपनी व्याख्या में दिया है। नित्या० उपोद्घात (पृ० ६९-७५) भी देखिये। इस विषय की विशेष जानकारी के लिये डॉ० शिवशंकर अवस्थी का ग्रन्थ 'मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य' देखिये।

मात्रा से विहीन, गुरु परम्परा और आगमपरम्परा से वर्जित, भ्रष्ट आम्नाय वाले, आगम का परित्याग करने वालों के द्वारा विघ्नित मन्त्र हजारों वार जपने पर भी कभी सिद्धि नहीं दे सकते। किन्तु ये सभी प्रकार के मन्त्र, असिद्ध और रिपु (शत्रु) संज्ञावाले मन्त्र और सभी [1]अंशकों से वर्जित मन्त्र भी नेत्रनाथ से संपुटित होकर, अमृतेश मन्त्र से जीवित होकर अनायास अभीष्ट फल को प्रदान करने लगते हैं।

सोलहवें अधिकार (श्लो० ७) में वीज, कूट, पिण्ड और माला मन्त्रों की चर्चा है।[2] वीज परा वाणी के, पिण्ड पश्यन्ती के, माला मन्त्र मध्यमा के और कूट मन्त्र पश्यन्ती-मध्यमा के वाचक माने गये हैं। वहीं (श्लो० ३३-३६) यह भी वताया गया है कि शत्रुजन मन्त्रों में दशविध दोषों की उद्भावना कर देते हैं। उन दोषों के नाम हैं—१. कीलन, २. भेदन, ३. मोहन, ४. संत्रास, ५. ताडन, ६. जंभन, ७. स्तंभन, ८. रिपुत्वकरण, ९. प्रत्यंगिरत्व और १०. सर्वहानिविधायित्व। इसलिये मन्त्रसाधक को चाहिये कि वह अत्यन्त गुप्त स्थान पर अपने घर में ही याग, होम, जप आदि करे।

अठारहवें अधिकार (श्लो० ६-८) में वताया गया है कि इन दोषों के परिहार के लिये साधक को चाहिये कि वह मन्त्रों के १ दीपन, २. बोधन, ३. ताडन, ४. अभिषेचन, ५. विमलीकरण, ६. इन्धननिवेशन, ७. संतर्पण, ८. गुप्तिभाव और ९. आप्यायन की विधि को भलीभाँति जान ले। मन्त्रवाद की इन विधियों को जानने वाला साधक ही मन्त्रों को सिद्ध कर सकता है। वहीं आगे (श्लो० ९-१५) कहा गया है कि साधक को मन्त्रों के विनियोग के नौ प्रकारों को भलीभांति जान लेना चाहिये। इनका सही उपयोग करने पर अभीष्ट कार्य अवश्य ही सिद्धि होते हैं। इन ११ प्रकारों के नाम ये हैं—१. संपुट, २. ग्रथित, ३. ग्रस्त, ४. समस्त, ५. विदर्भित, ६. आक्रान्त, ७. आद्यन्त, ८. गर्भस्थ, ९. सर्वतोवृत, १०. युक्तिविदर्भ और ११. विदर्भ-ग्रथित। इन ११ प्रकारों से विनियुक्त मन्त्र सभी सिद्धियों को प्रदान करते हैं। मन्त्रों के सिद्धि, साध्य, सुसिद्ध और अरि नामक चार भेदों का भी यहाँ वर्णन किया गया है और कहा गया है कि इन भेदों को जानकर साधक अनुकूल मन्त्रों की ही आराधना करे। अन्त में वताया गया है कि मन्त्रों के उदय और विलय के स्थानों की, उनकी व्याप्ति की, मन्त्रों के ध्यान और उनके लिये उपदिष्ट

---

१. अंशकापादन विधि का निरूपण स्वच्छन्दतन्त्र के आठवें पटल में किया गया है।

२ तुलना के लिये देखिये—सात्वतसंहिता, उपोद्घात, पृ० ३७-४०

मुद्राओं की भी जानकारी साधक को होनी चाहिये। इस तरह की अन्य भी सारी मन्त्रविषयक विधियों को जानकर भावना के अनुसार मन्त्रों की आराधना करने से ये अभीष्ट फल के प्रदाता बनते हैं।

मन्त्र हमें सब प्रकार की सिद्धियों के देने में किस तरह से समर्थ होते हैं, इसका निरूपण यहाँ १५ वें अधिकार (श्लो० २६-२८) में किया गया है। भगवान् कहते हैं कि आराधकों की रक्षा करने वाले मन्त्रों की स्थिति ज्ञानशक्ति में रहती है, अर्थात् भगवान् की ज्ञानशक्ति इनमें वीर्य का संचार करती है। यह वीर्य-सम्पन्न ज्ञानशक्ति चित्त में रहती है, अर्थात् साधक का चित्त अपने आराध्य मन्त्र के बलवीर्य के अनुसन्धान में, उसको ओजस्वी बनाने में लग जाता है, सात्त्विक भाव में लक्ष्मी का निवास माना गया है। उक्त अभ्यास से चित्त का रजोमय और तमोमय अंश जब विलीन हो जाता है, तो शुद्ध सात्त्विक भाव का उदय होता है। उसी स्थिति में अत्यन्त निर्मल हुए ये मन्त्र अवश्य ही सर्वविध सिद्धियों के प्रदाता बन जाते हैं।

मन्त्रों की [1]अचिन्त्य शक्ति की चर्चा के प्रसंग में १६ वें अधिकार (श्लो० ७०-७३) में बताया गया है कि मन्त्र परमेश्वर के मुख से, [2]अर्थात् परा शक्ति से प्राप्त होते हैं, अतः उनकी अचिन्त्य शक्ति के विषय में कोई संदेह नहीं करना चाहिये। शिव और शक्ति के प्रसाद से आविर्भूत इन मन्त्रों का साक्षात्कार करने में जो व्यक्ति समर्थ हो जाता है, वह इनकी सहायता से शान्तिक, पौष्टिक आदि कृत्यों को सिद्ध कर सकता है और विष, भूत, ग्रह आदि की बाधाओं को दूर कर सकता है। परमार्थतः इन मन्त्रों का भी परम कारण शिव ही है, अतः इन मन्त्रों की शक्ति अमोघ है। ज्ञान और योग के बल से इनकी शक्ति (वीर्य) को उद्‌बुद्ध करने की मात्र आवश्यकता है। १९ वें अधिकार (श्लो० २७-२८) में भगवान् कहते हैं कि भूत-पिशाच, डाकिनी आदि क्रूर सत्त्वों से प्राणियों की रक्षा के लिए मैंने मन्त्रों की सृष्टि की। शिव और शक्ति के प्रभाव से मनन करने वालों की रक्षा के लिये आविर्भूत इन मन्त्रों की आराधना करने से क्रूर सत्त्व कभी भी पास में नहीं फटकने पाते। मन्त्र-सृष्टिविषयक इतिहास को २० वें अधिकार के अन्त में (श्लो० ६८-७०) पुनः दोहराया गया है और वहां (श्लो० ५७-७४) यह स्पष्ट चेतावनी दी गई है कि सर्वत्र मन्त्रवाद का सहारा नहीं लेना चाहिये। मनुष्यों के, कुटुम्बी जनों के, राजाओं के कल्याण के लिये ही इन पर अनुग्रह करने की दृष्टि से इसका सहारा

---

१. मन्त्रों की अमोघ शक्ति का वर्णन आगे (२०।७३-७४) किया गया है।
२. शक्ति को शैवी मुख कहा जाता है। देखिये—विज्ञानभैरव, श्लो० २०।

लेना चाहिये। मन्त्रवाद का आग्रहवश सहारा नहीं लेना चाहिये। ऐसा करने वाला नष्ट हो जाता है। उत्तम सिद्धि चाहने वाला और मोक्ष की इच्छा वाला व्यक्ति तो इसका सहारा कभी भी न ले, यह परमेश्वर की स्पष्ट आज्ञा है।

मन्त्रविषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्न देवी २१ वें अधिकार के आरंभ में करती है। वहां (श्लो० १) वह पूछती है कि मन्त्र शिवात्मक हैं, शक्त्यात्मक हैं या आणवात्मक ? ये निराकार हैं या साकार स्वरूप वाले ? इनका प्रभाव कैसा है ? ये भोग और मोक्ष को देने में कैसे समर्थ होते हैं और किससे प्रेरित होकर वे यह सब करते हैं ? देवी विस्तार से यहां मन्त्रों की शिवात्मता, शक्त्यात्मता और आणवात्मता का खण्डन करती है और कहती है कि इन तीन तत्त्वों के अतिरिक्त जगत् में कुछ भी नहीं है। ऐसी स्थिति में मन्त्रों की इस वीर्यवत्ता का कारण क्या है ? इसके उत्तर में भगवान् शिव इस पूरे अधिकार में मन्त्रों की तत्त्वत्रयात्मकता का प्रतिपादन करते हैं। इस विषय पर हम आगे विचार करेंगे। अन्य तन्त्र-ग्रन्थों की तरह यहां (२१।७५-७६) भी मन्त्र की परिभाषा दी गई है। तदनुसार इनको मन्त्र इसलिये कहा जाता है कि ये संसार रूपी पाश से प्राणियों को मुक्त करा देते हैं और पर शिवतत्त्व से इनको संयुक्त कर देते हैं। मनन करने वाले, मन्त्रों की आराधना करने वाले साधकों की ये रक्षा करते हैं, इसलिये भी इनको मन्त्र कहा जाता है। इस प्रकार पाशमोचन और शिवत्वापादन ये दोनों ही मन्त्रदेवता की अनुग्रह शक्ति के व्यापार हैं। अन्त में २२ वें अधिकार (श्लो० ५८-६४) में बताया गया है कि जो व्यक्ति मन्त्रों की त्रितत्त्वात्मकता को भलीभाँति जान लेता है, वही मन्त्र को वीर्यवान् बना सकता है। तभी ये भोग और मोक्ष के प्रदाता बनते हैं। मन्त्रों की उदय, विलय, व्याप्ति आदि अवस्थाओं को जानने वाले साधक के ये मन्त्र सेवक बन जाते हैं, नतमस्तक हो आज्ञा की प्रतीक्षा में उसके सामने खड़े रहते हैं।

उत्तरषट्क[1] में बताया गया है कि साधक के सामने मन्त्र पांच प्रकार से उपस्थित होते हैं। ये प्रकार हैं—स्पर्शन, अवलोकन, संभाषा, बिन्दुदर्शन और स्वयमावेशन। मन्त्र के साथ साधक का जो पहला साक्षात्कार होता है, इसे

---

१. नित्याषोडशिकार्णव की ऋजुविमर्शिनी व्याख्या (पृ०२५१) और उस पर दी गई टिप्पणी देखिये। उत्तरषट्क की मातृका टीका के साथ उपलब्ध है। यह त्रिपुरा सम्प्रदाय का विशिष्ट प्राचीन ग्रन्थ रुद्रयामल का भाग माना गया है।

स्पर्शन कहते हैं। ऐसा होने पर साधक के शरीर में कंप-कंपी सी आने लगती है। यह साक्षात्कार हृदय स्थान में होता है। मन्त्र का साधक को देखना ही अवलोकन कहलाता है। ऐसा होने पर साधक का शरीर हिलने-डुलने लगता है। यह साक्षात्कार कण्ठस्थान में होता है। साधक के साथ मन्त्र का वार्तालाप संभाषा कहलाता है। इससे साधक ठगा सा रह जाता है, उसको समस्त विद्याओं और मन्त्रों का साक्षात्कार होने लगता है। बिन्दु पद यहाँ मन्त्र की आत्मा का बोधक है। मन्त्र साधक के सामने जब अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है, तो यह बिन्दु-दर्शन कहलाता है, यह अनुभव भ्रूमध्य में होता है। ऐसा होने पर साधक में अणिमा आदि गुणों का आविर्भाव हो जाता है। मन्त्र जब साधक के शरीर में आविष्ट हो जाता है, अर्थात् साधक को मन्त्रमय बना देता है, तो इसे स्वयमावेशन कहते हैं। मतशास्त्र के आधार पर उत्तरषट्क के व्याख्याकार ने यह विवरण दिया है।

मन्त्रवाद में मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य और योनिमुद्रा का जानना आवश्यक माना गया है। निरुक्त (१।५।२) में बताया गया है कि जो व्यक्ति वेद को पढ़कर भी उसके अर्थ को नहीं जानता, वह मूढबुद्धि कोरा भारवाही है। इसीलिये योगिनीहृदय के मन्त्रसंकेत प्रकरण में श्रीविद्या का षड्विध अर्थ विस्तार से बताया गया है। मीमांसाशास्त्र में मन्त्रमयी देवता मानी गई है। ऋजु-विमर्शिनीकार (पृ० १७१) भी मन्त्रों में देवता का निवास मानते हैं। स्वच्छन्दोद्योत (२।१३९) में उद्धृत श्लोक में बताया गया है कि मन्त्र को मणि के समान और मन्त्रदेवता को उस मणि की प्रभा (कान्ति) के समान मानकर जप, ध्यान आदि करना चाहिए। इन प्रमाणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मन्त्र की देवता को ही मन्त्रचैतन्य कहा जाता है। योनिमुद्रा का निरूपण विविध शास्त्रों में हुआ है। [1]उत्तरषट्क का कहना है कि मन्त्रसाधक पारायण करते समय जो कुछ मन्त्रवर्णों का गलत-सही उच्चारण करता है, योनिमुद्रा के निबन्धन से उन सब दोषों का परिहार हो जाता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य और योनिमुद्रा को जाने बिना हजार माथापच्ची करने पर भी मन्त्र कभी सिद्ध नहीं हो सकते।

मन्त्रसंबन्धी कुछ सूचनाएं देकर हम इस प्रकरण को समाप्त करना चाहते हैं। [2]राजराजभट्टारक में बताया गया है कि मन्त्र न तो वर्णात्मक है, न दस

---

१. वही, पृ० ७० पर अर्थरत्नावली टीका देखिये।

२. इस अनुच्छेद में उद्धृत ग्रन्थों के लिये लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग का उपोद्घात (पृ० १८३-१८४) देखिये। मन्त्रवीर्य (चैतन्य) के सम्बन्ध में भी यहाँ महत्त्वपूर्ण सूचनाएं दी गई हैं।

भुजाओं वाला और न पांच मुंह वाला ही। वास्तव में संकल्प की पूर्व कोटि में उठा नाद का उल्लास ही मन्त्र है। इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्रजप के साथ किया गया नादानुसन्धान ही वास्तविक मन्त्रजप है। इसीलिये सर्वज्ञानोत्तर में बताया गया है कि जिनका उच्चारण किया जाता है, वे वास्तविक मन्त्र नहीं है और संविदुल्लास में कहा गया है कि मधुर इक्षुदण्ड (ईख) का रस हृदय को तृप्त करता हुआ पेट में उतर जाता है और मुँह में उसकी नीरस खोइया बची रह जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि मुँह द्वारा उच्चरित मन्त्र उस ईख की खोइया के समान है, मन्त्र का वास्तविक रहस्य तो [1]नादानुसंधान में ही छिपा है। हंसपारमेश्वर में भी बताया गया है कि वर्णात्मक मन्त्र पशुभाव के माने जाते है, सुषुम्ना मार्ग से उच्चरित मन्त्र ही शिवभाव को प्राप्त करा सकते हैं।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि नेत्रतन्त्र में मन्त्रवाद शब्द का प्रयोग मन्त्रों के भोगपरक विनियोग के लिए ही हुआ है। इससे उत्तम सिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मन्त्रवाद से मुक्त नादानुसन्धानात्मक त्रिविध मन्त्रों का निरूपण आगे किया जायगा, जिनका कि विनियोग उत्तम सिद्धियों और मोक्ष की प्राप्ति के लिये ही होता है।

ऊपर बताया गया है कि गुरुपरम्परा और आगमपरम्परा से वर्जित और आद्यन्तहीन मन्त्र सिद्धिदायक नहीं हो सकते। पुस्तकों से पढ़कर याद किये गये मन्त्र भी निष्फल माने गये हैं।[2] दीक्षा के उपरान्त आचार्य (गुरु) द्वारा विधिवत् प्रदत्त मन्त्र ही भोग और मोक्ष के प्रदाता बन सकते हैं। इसी लिये तन्त्रागम ग्रन्थों में प्रायः सर्वत्र गुरु की महिमा गाई गई है। यहाँ भी १३वें अधिकार (श्लो० ४०-८६) में आचार्य के विषय में बहुत कुछ कहा गया है।

आचार्य (गुरु)—

गुरु को तत्त्ववित् (प्रकाशात्मक आनन्दघन परम शिव को जानने वाला) और अध्ववित् (क्रियाशक्ति के विस्तार से उत्पन्न इस षडध्वमय संसार के वास्तविक स्वरूप को जानने वाला) होना चाहिये। ऐसा ही गुरु शिष्य को

---

१. नादानुसंधान शब्द का प्रयोग यहाँ हठयोग अथवा लययोग के ग्रन्थों में निर्दिष्ट अर्थ में न होकर शैव-शाक्त तन्त्रों में प्रतिपादित प्रणव कलाओं की भावना के अर्थ में किया गया है। योगिनीहृदय में वर्णित इस विधि का संक्षिप्त स्वरूप नित्या० उपोद्घात (पृ० ११०-११२) में देखिये।

२. मालिनीविजय (४।८) में बताया गया है कि दीक्षा के बिना व्यक्ति को शैवशास्त्र वर्णित योगविधि अथवा मन्त्र की आराधना का अधिकार नहीं मिल सकता। क्षेमराज ने इस विषय पर आगे (२२।७२) विचार किया है।

पाशों से मुक्त कर सकता है। जो गुरु स्वयं शिवतत्त्व को जाने विना शिष्य को दीक्षा देता है, वह अन्धपरम्परा न्याय को ही चरितार्थ करता है। शिव और शक्ति के आदेश से मन्त्रों की प्रवृत्ति हुई है, अत: ये शिव के ही समान माने जाते हैं। इनका साक्षात्कार तत्त्वज्ञ गुरु ही कर सकता है। ऐसे गुरु के द्वारा उपदिष्ट निर्मल मन्त्र ही सिद्धिदायक हो सकते हैं, क्योंकि मन्त्रों के समान वह आचार्य भी शिवमय हो जाता है। अपनी क्रियाशक्ति के प्रभाव से कुण्डली शक्ति को जाग्रत् कर और कुण्ड की व्याप्ति को जानकर गुरु सर्वज्ञ बन सकता है। ऐसा षडध्वातीत परमशिव का साक्षात्कार करने वाला योगी ही मायासागर में पतित जीवों का उद्धार कर सकता है। जो स्वयं षडध्वपतित है, अर्थात् भोगवाद में फंसा हुआ है, वह दैशिक (आचार्य) भला दूसरे का उद्धार कैसे कर सकता है? षडध्वात्मक यह जगत् बन्धनभूत है, क्योंकि माणिय, आणव और कार्म नामक त्रिविध मलों से यह आवृत है। अत: षडध्वपतित गुरु पशु (अज्ञानी जीव) को इन पाशों (त्रिविध मलों) से कभी मुक्ति नहीं दिला सकता। इसके विपरीत तत्त्ववित् आचार्य साक्षात् शिव ही माना गया है।

यहाँ (१६।६६) बताया गया है कि आचार्य [1]कर्मी, योगी और ज्ञानी के भेद से तीन प्रकार का होता है। कर्म और योग के मूल में भी ज्ञान की स्थिति रहती है, अत: इनकी स्थिति ज्ञान से पृथक् नहीं मानी जा सकती। इस तरह से यहाँ ज्ञानी [2]आचार्य को ही श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि यह इच्छा, क्रिया और ज्ञानशक्ति से सम्पन्न शिव और शक्ति के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है। ऐसे आचार्य द्वारा उपदिष्ट मन्त्रों में अचिन्त्य सामर्थ्य विद्यमान रहती है। उसको मन्त्रदेवता का साक्षात्कार हो जाता है, वह साक्षात् शिव हो जाता है। ज्ञान, योग और [3]क्रिया (मन्त्र) शक्ति से सम्पन्न ऐसा ही आचार्य शिष्यों को दीक्षा देने का अधिकारी हो सकता है।

दीक्षा का स्वरूप बताते हुए यहाँ (१६।७४-७५) कहा गया है कि यह पाशों (त्रिविध मलों) का समूल नाश कर परम पद को प्रदान करती है। [4]योजनिका क्रम से गुरु शिव और शक्ति के प्रभाव से शिष्य को परम पद में

---

१. कर्मी शब्द का प्रयोग यहां मन्त्रवाद के ज्ञाता गुरु के लिये किया गया है।

२. क्षेमराज ने आगे (२२।७२) गुरु की ज्ञानमूलकता का प्रतिपादन किया है। ज्ञानवान् गुरु की श्रेष्ठता अन्य ग्रन्थों में भी वर्णित है। देखिये—लुप्ता० उपोद्घात (पृ० १६२-१६४)।

३. क्रियाशक्ति ही मन्त्रशक्ति का रूप धारण करती है, इस पर आगे विचार किया जायगा।

४. स्वच्छन्दतन्त्र के चतुर्थ पटल को योजनिका पटल कहा जाता है। इस पर स्वच्छन्द के उपोद्घात में विचार किया जायगा।

प्रतिष्ठित करने में समर्थ हो जाता है। माया से आवृत, अत्यन्त मलिन, भोग में आसक्त, नाना प्रकार की अभिलाषाओं से घिरे हुए व्यक्ति को भी यह [1]क्रिया और ज्ञान से सम्पन्न दीक्षा मोक्ष प्रदान करती है। क्रिया शब्द यहाँ षडध्वपतित क्रिया का वाचक नहीं है। वास्तव में ज्ञानरूपा, अवधूती, उन्मना-नामक परा शक्ति को ही यहाँ [2]क्रिया कहा गया है। योगशक्ति और ज्ञान-शक्ति का निरूपण तो प्राय: सभी शास्त्रों में हुआ है। वास्तव में इनका भी भगवान् शिव की सभी प्रकार के दुःखों से छुटकारा दिलाने वाली इस क्रिया-(मन्त्र)शक्ति में ही समावेश हो जाता है। यही शक्ति बन्ध और मोक्ष की भी कारण है। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त यह सारा स्थावरजंगमात्मक जगत् शिव और शक्ति से समन्वित है। शक्तिमान् ही कार्य करने में समर्थ हो सकता है। शक्तिहीन आचार्य कुछ भी नहीं कर सकता। इस लिये आचार्य को चाहिये कि वह सदा शिवज्ञान का अभ्यास करे। तभी उसके द्वारा किये गये शान्तिक-पौष्टिक कर्म सफल हो सकते हैं।

टीकाकार क्षेमराज ने आगे (२२।७२) कामिकागम के दो श्लोक उद्धृत किये हैं। उनका अभिप्राय यह है कि दीक्षा के समय ब्राह्मण; क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र; नपुंसक, स्त्री आदि का विचार नहीं करना चाहिये, अर्थात् दीक्षा सबको दी जा सकती है। आचार्य को चाहिये कि वह ज्ञान देते समय पात्र का विचार करे, क्योंकि शिवज्ञान ही गुरुत्व का मुख्य कारण है और गुरु सप्तसत्री का प्रवर्तक माना जाता है। अत: योग्य व्यक्ति को समझ-बूझ कर ज्ञान का अधिकारी बनाना चाहिये। गुरु की ज्ञानमूलकता का उल्लेख दीक्षोत्तरागम में भी हुआ है। इसकी चर्चा करते हुए तन्त्रालोककार (२३।२२।२३) कहते हैं कि दीक्षा, व्याख्या, कृपा, मैत्री, शास्त्रचिन्ता, शिवैक्यविचार और अन्न, विद्या आदि का दान—ये सात सत्र हैं। ज्ञानवान् गुरु ही इन कार्यों को कर सकता है, अत: यह ठीक ही है कि पात्रापात्र का विचार किये विना ज्ञान का दान न किया जाय।

नेत्रतत्त्व के परिज्ञान के लिये यहाँ तीन उपाय बताये गये हैं। उनमें से मन्त्र नामक उपाय का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। अब योग नामक उपाय का का वर्णन किया जायगा। इसके तीन भेद होते हैं— स्थूल, सूक्ष्म और पर। क्रमश: इनका स्वरूप यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. क्षेमराज ने यहाँ (१६।७७-७८) एक श्लोक उद्धृत कर क्रियारहित ज्ञान और ज्ञानरहित क्रिया का निषेध किया है।

२. यहाँ (१६।७७-७८) भी क्षेमराज ने गमशास्त्र के प्रमाण पर क्रिया और योग की एकता सिद्ध की है।

त्रिविध योग

छठे अधिकार के आरंभ में भगवती कहती है कि त्रिविध—भौम, दिव्य और अन्तरिक्ष—सिद्धयों को और मोक्ष को देने वाले मृत्युंजय मन्त्रराज के बावत मैंने आपकी बात सुनी। अब मैं उस अमृतेश भट्टारक की आराधना की विधि सुनना चाहती हूं। इस पर भगवान् त्रिविध योग के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं। वे कहते हैं कि होम, जप, ध्यान, मुद्रा और नाना प्रकार के मन्त्र—ये सब स्थूल योग के अन्तर्गत आते हैं। षट्चक्र, षोडश आधार के माध्यम से तथा कलाओं और नाड़ियों के उदय आदि व्यापारों के निभालन से सूक्ष्म योग की सिद्धि होती है। मृत्युजिन्नाथ के सर्वात्मक अद्वय मोक्षप्रद स्वरूप की भावना को पर योग कहा जाता है।

स्थूल योग—

त्रिविध योग के इस संक्षिप्त परिचय के बाद पूरे अधिकार (श्लो० ९-५०) में स्थूल उपायों के रूप में विविध रक्षाकर, शान्तिकर, रोगहर, पुष्टिकर, महारक्षाकर, राजरक्षाकर तान्त्रिक प्रयोगों और अभिषेक विधियों का वर्णन किया गया है। चक्रराज (यन्त्र) के लेखन और पूजन की विधि सत्रहवें अधिकार में बताई गई है। १५-१९ अधिकारों में प्रधानतः स्थूल उपायों का ही वर्णन है। इन सबका समावेश मन्त्रवाद में किया जा सकता है। त्रिविध योग की संक्षिप्त चर्चा २० वें अधिकार (श्लो० ९-४८) में भी आई है। यहाँ बताया गया है कि योगिनियां त्रिविध योग की सहायता से पशुओं (जीवों) को प्राणों से वियुक्त कर उनको शिवपद से संयुक्त कर देती हैं। स्थूल योग की विधि बताते हुए यहाँ (श्लो० ३८-३९) बताया गया है कि योगिनी आदि शक्तियां स्थूल शरीर में वर्तमान जीव के पुर्यष्टकमय सूक्ष्म देह को प्रतिकृति आदि के माध्यम से, मन्त्र और [1]मुद्रा की सहायता से, पांसव विधि से ध्यान और योग के बल से एवं छुम्मक विधि से बाहर निकाल लेती हैं। इससे बचने का उपाय बताते हुए यहाँ (श्लो० ४६-४८,५८-६३) कहा गया है कि आचार्य को ऐसे प्राणी की रक्षा स्थूल उपायों की सहायता से करनी चाहिये। अन्त में यहा बताया गया है कि ऐसी ही विषम स्थिति में मन्त्रवाद का सहारा लिया जा सकता है।

सूक्ष्म योग—

पूरे सातवें अधिकार में और २०वें अधिकार के २२-३७,४४-४५ श्लोकों में इसका निरूपण हुआ है। [2]छः चक्र, सोलह आधार, तीन लक्ष्य, पांच

---

१. मन्त्र-मुद्रा विधान, पांसव विधि और छुम्मक विधि का स्वरूप क्षेमराज की टीका (२०।३८-३९) में देखिये।

२. नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी इससे मिलता-जुलता वर्णन मिलता है।

व्योम (शून्य), बारह ग्रन्थि, तीन धाम, तीन नाड़ी, दस नाड़ी,७२ हजार नाड़ी और साढे तीन करोड़ नाडियों वाले, व्याधियों से भरे इस मलिन शरीर को जो योगी सूक्ष्म ध्यान (योग) के माध्यम से जान लेता है, तो -सका शरीर सभी व्याधियों से मुक्त होकर दिव्य बन जाता है। यहाँ जन्म. नाभि, हृदय, तालु, बिन्दु और नाद स्थान में नाडि, माया, योग, भेदन, दीप्ति और शान्त नामक छ: चक्र माने गये हैं। अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, मेढ़, पायु, कन्द, नाडि, जठर हृदय, कूर्मनाड़ी. कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त—ये सोलह आधार हैं।

कुलप्रक्रिया के अनुसार क्षेमराज ने कुल, विष, अग्नि, घट, सर्वकाम, संजीवनी, कूर्म, लोल, लंभक, सौम्य, विद्याकमल, रौद्र, चिन्तामणि, तुर्याधार और नाडयाधार नामक सोलह आधार बताये हैं। इनके स्थानों का निर्देश क्षेमराज की टीका (पृ० ५२-५३) में किया गया है। लक्ष्य बाह्य, आन्तर और उभयात्मक हैं। जन्म, नाभि, हृदय, बिन्दु और नाद—ये पांच व्योम हैं। माया पाशव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, बैन्दव, नाद और शक्ति नामके बारह पाश (ग्रन्थि) होते हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये तीन शक्तियां हैं। सोम, सूर्य और अग्नि ये तीन धाम हैं। इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नामकी तीन नाड़ियां और इनके साथ गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषायशा, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी नामकी सात नाड़ियों के मिलने पर इनकी संख्या १० हो जाती है। इन नाड़ियों के सहारे प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय नामक दस पवनों का शरीर में संचार होता रहता है। दस दिशाओं में फैली हुई इन दस मुख्य नाड़ियों की संख्या मध्यम व्याप्ति के अनुसार ७२ हजार और महाव्याप्ति के अनुसार साढे तीन करोड़ हो जाती है। इन सबका आधार यह स्थूल शरीर आणव, मायीय और कार्म मल से आवृत होने से मलिन हो जाता है। सूक्ष्म ध्यान के माध्यम से इसकी शुद्धि की जा सकती है।

स्वसंवेद्य परम शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति अविनाभाव (समवाय) संबन्ध से जुड़ी हुई है। इस चितिशक्ति को सुषुम्ना नाड़ी में स्थित उदान मार्ग से ऊपर उठाना चाहिये। उस दशा में साधक को चाहिये कि वह अपनी पूर्णाहन्ता में प्रतिष्ठित हो मन्त्रराज का जप करता रहे। मन्त्रवीर्य के प्रभाव से पहले वह योगी [1]जन्माधार में प्रतिष्ठित हो जाता है। यहाँ से वह नादरूपी सुई की सहायता से सोलह आधार और बारह ग्रन्थियों का भेदन कर सुषुम्ना मार्ग से ध्रुवपद (द्वादशान्त धाम) तक पहुंच सकता है। इस स्थान में

---

१. नेत्रतन्त्र (७।३१-३२) में जन्मस्थान, कन्दस्थान, कूर्मस्थान, स्थानपंचक, मत्स्योदर, मूलाधार—ये सब जन्माधार के पर्याय बताये गये हैं।

नित्योदित परा शक्ति और परम शिव निष्कल स्वरूप में विराजमान रहते है। अपने हृदयकमल में इस स्वरूप का ध्यान करने से परानन्दस्वरूप अद्भुत रसायन की प्राप्ति होती है। योगी ऐसी भावना करे कि यह रसायन अनन्त नाड़ियों के माध्यम से उसकी रग-रग में भर गया है। इस सूक्ष्म योगविधि के अभ्यास से योगी अजर-अमर हो जाता है, साक्षात् मृत्युजित् भट्टारक बन जाता है। शाक्तानन्द में समावेश दिलाने वाली इस विधि को क्षेमराज ने कौलिक प्रक्रिया नाम दिया है।

आगे तन्त्रप्रक्रिया की विधि इस तरह से वर्णित है—साधक योगी अपने चित्त को कन्दभूमि में स्पन्दनशील प्राणशक्ति के साथ एकाकार कर दे। मत्तगन्धस्थान के संकोच-विकास द्वारा प्राणशक्ति को अत्यन्त सूक्ष्म बनाकर उसको ऊर्ध्वमुख कर दे। कन्दभूमि में जब यह शक्ति जाग उठती है, तो योगी खेचरी अवस्था (मुद्रा) को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में मन्त्रवीर्य से संपन्न योगी ज्ञानशूल से छः चक्रों, सोलह आधारों, बारह ग्रन्थियों का भेदन कर द्वादशान्त धाम में प्रविष्ट हो जाता है। वहाँ परमशिव का साक्षात्कार कर वह इसको समना पद में उतार लाता है और उसको सृष्ट्युन्मुख कर देता है। यहाँ परमानन्दमय अमृत को प्राप्त कर योगी समना पद में उतर कर आये महाप्रकाशमय परमशिव को विक्षुब्ध कर अपान के उल्लास की, अर्थात् चन्द्रोदय की प्रतीक्षा करे। चन्द्रोदय हो जाने पर उससे शुद्ध अमृत प्राप्त कर अपनी अन्तर्मुख शक्ति को सुषुम्ना मार्ग से नीचे उतार लावे और उस शुद्ध अमृत से अपने सभी चक्रों और आधारों को सींचे। इस तरह से यह अमृत हृदय तक, बाद में नाभि पर्यन्त और अन्ततः पादांगुष्ठ पर्यन्त सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है। साधक के रोम-रोम तक पहुंचा हुआ यह अमृत उसके शरीर को निर्मल बना देता है। वह इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति से समवेत परमशिव से अभिन्न हो जाता है।

श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्रविवरण, सौन्दर्यलहरी आदि ग्रन्थों में छः चक्रों के—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा—ये नाम दिये हैं। ऊपर वर्णित नाड़ि आदि छः चक्रों के और इनके स्थानों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु नेत्रतन्त्रवर्णित नामों की सार्थकता का वर्णन क्षेमराज ने इस तरह से किया है—प्रथम चक्र का नाम नाड़ि इसलिये है कि यह समस्त नाड़ियों के प्रसार का प्रमुख कारण है। द्वितीय चक्र को माया इसलिये कहते हैं कि पतंजलि महामुनि के अनुसार नाभिचक्र में ध्यान करने से सारे कायव्यूह का ज्ञान हो जाता है और इस तरह से यह चक्र सारे जागतिक माया प्रपंच का कारण है। योगी इसी चक्र में स्थित होकर अपने चित्त को एकाग्र करते हैं, इसलिये तृतीय चक्र का नाम योग रखा गया है। चतुर्थ चक्र को

भेदन इसलिये कहते हैं कि योगी प्रयत्नपूर्वक इसको भेदकर आगे बढ़ते हैं। पंचम चक्र ज्योति:स्वरूप होने से दीप्ति नाम वाला है। षष्ठ चक्र शान्ति को देने वाला होने से शान्त नाम से अभिहित है।

बीसवें अधिकार में शाक्त उपाय के रूप में इसकी व्याख्या की गई है। वहां बताया गया है कि [1]सहज नाद का परामर्श करने वाली ज्ञान शक्ति से इसकी प्रतीति हो सकती है। सिद्ध और योगिनियां इसी उपाय का सहारा लेते हैं। अज्ञानी जीवों का ज्ञान मल से आवृत है। अपने निर्मल ज्ञान से योगिनियां अज्ञ पशु को अभिभूत कर देती हैं। कभी-कभी ये उसका प्राण भी ले लेती है। तत्त्वार्थचिन्तामणि के प्रसंग में योगशास्त्र की [2]गोलक विधि का हम उल्लेख कर चुके हैं। इस प्रसंग में क्षेमराज ने एक श्लोक उद्धृत किया गया है। उसका अर्थ यह है कि प्राण का संचार वायुतत्त्व के सहारे होता है। वायुतत्त्व की स्थिति बुद्धि में है तथा बुद्धि अहंकार में स्थित है। यह [3]अहंकार चित् तत्त्व के सहारे टिका हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार योगी जिसके शरीर में [4]प्रवेश करना चाहता है, उसके शरीर में अपनी अहंप्रतीति को दृढ़ करता हुआ सौ मात्रा [5]काल पर्यन्त वहाँ रह कर उसके प्राण को क्षुब्ध कर देता है, तब अपनी इन्द्रियों की शक्ति से उसकी इन्द्रियों को अपने अधीन बनाकर साध्य के पूरे शरीर को अपने स्पन्दन व्यापार से आवृत कर उसके पुर्यष्टक (सूक्ष्म शरीर) को अपनी प्राण शक्ति से आवृत कर लेता है। इस प्रक्रिया से वह प्राणी पूरी तरह से इसके वश में हो जाता है। उस शरीर के माध्यम से तब योगी जो चाहता है, करा लेता है। [6]मुद्रा और मन्त्रों के प्रयोग से वह उसके प्राणों को भी ले सकता है।

---

१. सहज नाद को यहाँ अराव-राव-राविणी ध्वनि कहा गया है। अष्टविध और दशविध ध्वनि की चर्चा क्षेमराज ने आगे (२१।३६-३९) की है।

२. नित्याषोडशिकार्णव की व्याख्या अर्थरत्नावली (पृ० २३०-२३१) में ब्रह्म ग्रन्थि को गोलकाकार बताया है और इसके लिए उत्तरषट्क का प्रमाण दिया है। लगता है कुण्डलिनी योग की विधि ही यहां इस शब्द से विवक्षित है।

३. यह क्रम सांख्यदर्शन वर्णित क्रम से विपरीत लगता है, किन्तु क्रमदर्शन में यही क्रम मिलता है। देखिये—लुप्ता० उपोद्घात, पृ० १९५ की १ ली टिप्पणी। यहाँ यह शब्द परिमित अहन्ता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। लुप्ता० में संगृहीत अद्वयसंपत्तिवार्त्तिक के वचन भी देखिये।

४. दीक्षा के अवसर पर भी आचार्य इसी प्रक्रिया का सहारा लेता है। "भारतीय संस्कृति और साधना" का "योग और परकाय प्रवेश" शीर्षक निबन्ध देखिये (भा० २, पृ० २५-३२)।

५. मात्रा का लक्षण वाचस्पति मिश्र ने योगभाष्य के 'उद्घात' शब्द की व्याख्या के प्रसंग (२।५०) में बताया है।

६. मुद्रा और मन्त्र के इस स्वरूप के लिये क्षेमराज की व्याख्या (२०।३६) देखिये।

उक्त योगिनियां इसी विधि से अज्ञ जीवों के प्राणों का अपहरण करती रहती है। योगी को चाहिये कि ऐसे प्राणियों की रक्षा के लिये वह सूक्ष्म उपाय का ही सहारा ले। ज्ञान और योग के बल से सम्पन्न, मन्त्र और तन्त्र (प्रयोग विधि) में विशारद योगी पूर्ववर्णित कौलिक या तान्त्रिक प्रक्रिया में से किसी एक विधि से अपनी शक्ति को जगाकर चक्र, ग्रन्थि आदि का भेदन करते हुए अभीष्ट प्राणी की रक्षा के उद्देश्य से उसे सभी दोषों से मुक्त करा दे। ऐसे प्राणियों की रक्षा के लिये एकमात्र उपाय यह सूक्ष्म योग ही है।

पर योग—

आठवें अधिकार में पर योग का वर्णन है। [1]अष्टांग योग को ही यहाँ पर योग कहा गया है, किन्तु यह अष्टांग योग पातंजल योग से विलक्षण है। यहाँ संसार से विरति को यम और परम तत्त्व की भावना को नियम बताया गया है। प्राण और अपान के बीच के मध्यम मार्ग, अर्थात् उदान पथ से ऊपर उठती हुई प्राणशक्ति में और संविद्रूपा ज्ञानशक्ति में स्वयं को प्रतिष्ठित कर देने का ही नाम यहाँ आसन है। प्राण, अपान आदि स्थानों में सम्पन्न होने वाले रेचक, पूरक आदि स्थूल भेदों को और आन्तर मध्य धाम में संपन्न होने वाले सूक्ष्म प्राणायाम को भी छोड़ देने पर जो सूक्ष्मातीत परम संवित् की स्फुरत्ता का अनुभव होता है, उसी स्थिति को यहां प्राणायाम कहा गया है। इसे प्राप्त कर योगी फिर कभी उससे वियुक्त नहीं होता।

शब्द, स्पर्श आदि विषयों और उनके सात्त्विक, राजस आदि स्वरूपों में मनुष्य की चित्तवृत्ति रमने लगती है। इस तरह की विकल्पात्मक वृत्तियों से चित्त को हटाकर उसको शुद्ध संवित्स्वरूप में प्रतिष्ठित करना ही यहाँ प्रत्याहार है। इसके अभ्यास से साधक सभी सांसारिक पाशों से मुक्त हो जाता है। बुद्धि के गुणों से ऊपर उठकर निष्कलस्वरूप, अव्यय, व्यापक, स्वसंवेद्य परमशिव का स्मरण ही ध्यान है। साधक जब अपने चैतन्य स्वरूप में समाविष्ट हो अपनी चित्तवृत्ति को इसी शुद्ध विमर्श में स्थिर कर देता है, तो यह स्थिति धारणा कहलाती है। यह साधक को संसार के बन्धनों से मुक्त कर देती है।

जिस चित्त में सभी प्राणियों के प्रति समता की दृष्टि स्थिर हो जाती है, वही वास्तविक समाधि है। इसके बिना आंख बन्द कर बैठने से केवल पाखण्ड की ही पुष्टि होती है। इस जगत् में अपने-पराये का भेद छोड़कर, अहन्ता और इदन्ता को एकाकार बनाकर शुद्ध विकल्पों के माध्यम से सब कुछ

---

१. तन्त्रशास्त्र में प्रधानत: षडंग योग का विवेचन हुआ है। इसका स्वरूप नित्या० उपोद्घात (पृ० ११७-११९) में देखा जा सकता है। षडंग योग का उल्लेख यहाँ (पृ० ४) क्षेमराज ने किया है। नेत्रतन्त्र में दी गई अष्टांग योग की व्याख्या उससे भी विलक्षण है।

शिवमय है, उसके सिवाय और कुछ भी नहीं है, ऐसी भावना करना ही यहाँ वास्तविक समाधि कहलाती है। स्वसंवेद्य संवित्स्वरूप जिस चित्तवृत्ति में सदा भासित होता रहना, वही समाधि यहां सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। भुवन (विविध लोक), भाव (सुख-दुःख आदि), देह आदि की जड़ वर्ग में और [1]सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर एवं शिव की चेतन वर्ग में गणना होती है। इन दोनों राशियों में विद्यमान नित्य और शाश्वत ([2]विवर्त और परिणाम से रहित) चेतन तत्त्व को भली भांति पहचान कर अपनी चित्तवृत्ति को उन्ही में स्थिर कर देने का नाम समाधि है।

अष्टांग योग के लक्षणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये लक्षण पातंजल योग से विलक्षण हैं। समाधि के यहाँ चार स्वरूप बताये गये हैं। क्षेमराज के अनुसार ये क्रमशः आणव, शाक्त, अनुपाय प्राप्य सततोदित और शांभव समावेश (समाधि) का निर्देश करते हैं। इस अष्टांग योग के अभ्यास से साधक सहज रूप से मृत्युंजय भट्टारक अमृतेश के स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है। वह काल को जीत लेता है। उसको काल कवलित नहीं कर सकता। छत्तीस तत्त्वों, कालाग्नि से लेकर अनाश्रित पर्यन्त २२४ भुवनों[3], ८१ पदों, ५० वर्णों और ईशान आदि की ३८ कलाओं से अतीत, आदि, मध्य और अन्त से रहित, सारे प्रपंचों से अतीत परम पद को प्राप्त कर लेता है।

बीसवें अधिकार के आरम्भ में योगिनियों द्वारा त्रिविध उपायों से पशुओं के प्रोक्षण की चर्चा आई है। पर उपाय के प्रसंग में वहाँ (श्लो० ११-२२) बताया गया है कि सर्वात्मक, अनन्त, निर्मल, निष्क्रिय, व्यापक, परमेश्वर, कारणों का भी कारण, सभी प्राणियों की अन्तरात्मा में निवास करने वाला और सब पर अनुग्रह करने वाला शिव ही पर योग का लक्ष्य है। इस निर्मल स्वरूप में

---

१. प्रमातृसप्तक के नाम से तन्त्रालोक आदि ग्रन्थों में इनका विस्तार से वर्णन मिलता है।

२. इस विषय पर स्वच्छन्दतन्त्र के उपोद्घात में विचार किया जायगा।

३. भुवनों और पदों का विवरण सिद्धान्त शैवशास्त्र के ग्रन्थों में विस्तार से दिया गया है। देखिये—तन्त्रयात्रा (पृ० २५-३०) तथा लुप्ता० उपोद्घात (पृ० १-२-१८३, १९७-१९९)। ईशान आदि की ३८ कलाओं का विवरण यहीं (२२।२६-३४) दिया गया है। अन्यत्र निवृत्ति, प्रतिष्ठा आदि का पांच कलाओं के रूप में उल्लेख हुआ है। यहाँ के वर्णन से ऐसा लगता है कि मन्त्र में अन्य पांच अध्यायों का विषय बताया गया है, जब कि अन्यत्र कला अथवा वर्ण में बचे पांच अध्यायों का समावेश माना जाता है। देखिये—लुप्ता० उपोद्घात (पृ० २०२)।

योगिनियां सदा समाविष्ट रहती हैं, कभी उससे वियुक्त नहीं होती। परम शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति में लीन ये योगिनियां उसकी इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति से संपृक्त होकर याग और योग में निमग्न हो जाती है। इस अवस्था में वे जिस पशु का प्रोक्षण करती हैं, वह शिव स्वरूप हो जाता है, पर प्रकाश में विलीन हो जाता है।

आगे वहीं (श्लो० ४१-४३) बताया गया है कि योगिनियों के इस आक्रमण से बचने या बचाने के लिये साधक को चाहिये कि वह मृत्युजिद् भट्टारक के व्यापक मन्त्रमय परस्वरूप को भलीभांति समझकर पर योग की प्रक्रिया से साध्य जीव के प्राणों की अपनी शुभ इच्छाशक्ति से रक्षा करे। ऐसा करने के पहले उसको हिंसक योगिनियों की सब तरह की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये और फिर प्रबल मन्त्रशक्ति के प्रभाव से उनके आक्रमण को नष्ट कर अभीष्ट प्राणी की रक्षा करनी चाहिये।

इस प्रकार नेत्रतन्त्र प्रतिपादित त्रिविध योग का यह परिचय पूरा होता है। ६-८ अधिकारों में स्थूल, सूक्ष्म और पर के क्रम से इनका निरूपण हुआ है, जब कि २० वें अधिकार में पर, सूक्ष्म और स्थूल के क्रम से। योग का स्वरूप उक्त तीन अधिकारों में बताया गया है। बीसवें अधिकार में तो योगिनियों द्वारा उक्त उपायों से प्रोक्षण के लिये परिगृहीत पशुओं की, मन्त्रविद् आचार्य उन्हीं उपायों की महायता से किस प्रकार रक्षा करे, इसकी विधि बताई गई है। अब हम नेत्रतत्त्व के स्वरूप को जानने के तृतीय उपाय ज्ञान की विवेचना के प्रसंग में तत्त्वत्रय का निरूपण करने जा रहे हैं।

तत्त्वत्रय

यहाँ (२१।१६-४६) बताया गया है कि तत्त्वत्रय के बिना जागतिक सामान्य वस्तुओं की ही नहीं, मन्त्रों की भी कोई स्थिति नहीं बन सकती। यहाँ सब कुछ त्रितत्त्वमय है। शुद्ध और अशुद्ध सभी अध्वा त्रितत्त्वमय हैं। त्रिविध मन्त्रों का निरूपण आगे किया जायगा। तत्त्वत्रय का—शिव, शक्ति और अणु (जीवात्मा) का स्वरूप यहाँ बताया जा रहा है।

शिव--

परमधाम, सर्वात्मक, शुद्ध, अनादिकारण, ध्रुव, अप्रमेय, अनिर्देश्य, अनामय, अनुपम, निराभास, परम शान्त, सर्वावयववर्जित, व्यापक, सर्वतोभद्र, सर्वज्ञता आदि गुणों से युक्त, विज्ञानघन, अपने आनन्द से आनन्दित, निरानन्द, निर्विकल्प, निराचार, अद्वय, नित्योदित, निर्विकार, निर्मल, निरुपप्लव, सर्वोपमानरहित, सर्वभावविवर्जित, सर्वरूपकलातीत, शाश्वत, अन्तरात्मा, सबका प्रेरक तत्त्व ही यहाँ शिव कहा गया है। इसके सिवाय संसार में और कुछ भी नहीं है। यह सर्वज्ञता आदि छः गुणों से मण्डित होने से महेश्वर कहलाता है।

शक्ति—

इस महेश्वर की समवायिनी शक्ति का स्वरूप भी इसी तरह का है। भगवान् की यह शक्ति अप्रमेय और आदि-अन्त से रहित है। अनुमान प्रमाण से इसको जाना जा सकता है। [1]सूर्य की किरणों के समान और अग्नि की ऊष्मा (गरमी) के ममान यह शिव के साथ अविनाभाव से स्थित है। सबको आनन्दित करने वाली यह शक्ति शिव की इच्छा के अनुसार चलती है। शिव के सभी धर्म इसमें विद्यमान हैं। यह सब पर सदा अनुग्रह करने में लगी रहती है। यह सारा जगत् इस परम शक्ति का ही [2]विवर्त है, अर्थात् इस जगत् के विविध रूपों में यह शक्ति ही सर्वत्र भासित हो रही है। वह सदा आनन्द से भरी रहती है। परम शिव तो निरानन्द हैं, सदा अपने महासामरस्यमय स्वरूप में निलीन रहते हैं। शक्ति के कारण ही शिव में सर्वज्ञता आदि गुण प्रकट होते हैं। इस तरह यह शक्ति शिव से अभिन्न है और शिव भी इससे अभिन्न हैं। इन दोनों की स्थिति अद्वयात्मक है। इसी में सारा विश्व सिमटा हुआ है।

शिव की यह सर्वतोमुखी शक्ति जब इच्छाशक्ति के रूप में सृष्ट्युन्मुख होती है, तो सबसे पहले सर्वज्ञता आदि गुणों का आविर्भाव होता है। ये गुण ही ईश्वर की ज्ञानशक्ति का स्वरूप धारण करते हैं। अनादि बोध ही तो शिव की ज्ञानशक्ति है। यह ज्ञानशक्ति ही अपने स्वातन्त्र्य के सहारे क्रियाशक्ति बन जाती है। बाद में यह क्रियाशक्ति आठ वर्ग, पचास वर्ण, स्फोट आदि ध्वनियों वाली, समस्त शास्त्रों की जननी [3]मातृका का, वाक्शक्ति का रूप धारण कर लेती है। ध्वनि, वर्ण, स्फोट, मातृका, शास्त्र यह सब क्रियाशक्ति का ही विस्तार है। यह भी शिव से पृथक् नहीं है। यही प्रमाता में कर्तृत्व का कारण बनती है। शिव परिपूर्ण है, स्वतन्त्र है, उससे भिन्न ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उसमें कर्तृत्व का आरोप कर सके, उसको क्षुब्ध कर सके। अतः भगवान् का स्वातन्त्र्य ही यहाँ शक्ति के नाम से जान लिया जाता है।

---

१. इन्हीं उदाहरणों से विज्ञानभैरव (श्लो० १८-२१) में भी शक्ति और शक्तिमान् की अभिन्नता सिद्ध की गई है।

२. त्रिकदर्शन में परिणामवाद और विवर्तवाद—दोनों को अस्वीकार कर आभासवाद की स्थापना की गई है। इस विषय पर हम स्वच्छन्दतन्त्र के उपोद्घात में विचार करेंगे।

३. मातृका, वाक्चतुष्टय, मालिनी, भूतलिपि आदि के परिचय के लिये नित्या० उपोद्घात (पृ० ६२-६९) देखिये। क्षेमराज की टीका में भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है।

अपनी इसी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे शिव सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह नामक [1]पांच कृत्यों को करता है। यह अपनी क्रियाशक्ति से सृष्टि, ज्ञानशक्ति से स्थिति, रुद्रशक्ति से संहार, वामाशक्ति से तिरोभाव और ज्येष्ठाशक्ति से अनुग्रह नामक कृत्य को पूरा करता है। इन पांच कृत्यों को शिव ही करता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि ये शक्तियां उसी में निहित हैं। ये सब शक्तियां उसकी स्वातन्त्र्यशक्ति का विलास मात्र हैं।

आत्मा—

आणव मल के कारण मायाशक्ति से संकुचित हुआ जीवात्मा परिमित स्वरूप वाला हो जाता है। इनकी संख्या अनन्त है। परमेश्वर का अनुग्रह होने पर इनको पुनः अपने शिवस्वरूप का बोध हो जाता है। जीवात्मा और ईश्वर की अनुग्रह शक्ति का स्वरूप १९वें अधिकार (श्लो० १४५-१६०) में बताया गया है। वास्तव में पुरुष सूक्ष्म, निर्गुण और निष्क्रिय है, किन्तु आणव, कार्म और मायीय मल से आवृत होकर वह मलिन, अस्वतन्त्र और अशक्त हो जाता है। निर्मल चिदात्मा सांसारिक भोगों में कैसे आसक्त हो सकता है? भोग तो विकल्पात्मक संसार की देन है। शुद्धस्वरूप निर्मल आत्मा इनमें आसक्त नहीं हो सकता। इस आसक्ति से ही जीव की मलिनता सिद्ध होती है। इसी के कारण वह संसार के मायाजाल में फंस जाता है। इस तरह संसारी जीव की निर्मलता समाप्त हो जाती है। ऐसा ही जीवात्मा बद्ध कहलाता है। जीवात्मा के बन्धन का कारण उक्त [2]त्रिविध मल ही है।

त्रिविध मल—

इनमें आणव मल अत्यन्त सूक्ष्म है। कार्य के द्वारा ही इसका अनुमान किया जा सकता है। वह कार्य है अभिलाष, सांसारिक विषयों के प्रति अनुराग। यह अभिलाष ही जीवात्मा को भोग के प्रति उन्मुख करता है। इसी को आणव मल कहते हैं। कार्म मल के कारण जीवात्मा सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है। इसकी उत्पत्ति देश, काल, शरीर आदि में अनादिकाल से

---

१. शिव के इन पांच कृत्यों का निरूपण हमने लुप्ता० उपोद्घात (पृ० १२७-१२९) में किया है। सात्वतसंहिता के उपोद्घात (पृ० ३१, टि० २) में वैष्णव और शाक्त तन्त्रों में प्रतिपादित पंचकृत्यों का उल्लेख है।

२. शैव तन्त्रों में पाँच अथवा चार पाश माने गये हैं। इनमें से तिरोधान शक्ति और महामाया (कुण्डलिनी) को हटा देने पर इनकी संख्या तीन रह जाती है। त्रिक ग्रन्थों में इन्हीं का त्रिविध मल के नाम से निरूपण हुआ है। विस्तार के लिये लुप्ता० उपोद्घात (पृ० १३६-१५१) देखिये।

चले आ रहे कर्मप्रवाह से होती है। काल से लेकर पृथिवी पर्यन्त तीस[1] तत्त्व मायीय मल के अन्तर्गत हैं।

बन्ध और मोक्ष—

इन तीन मलों से आवृत जीवात्मा अपने को उसी तरह से बन्धन में डाल लेता है, जैसे कि भ्रमरकीट[2] स्वयं अपने को अपने ही बनाये कोश में बांध लेता है। ऐसे जीव पर जब तक ईश्वर का अनुग्रह नहीं होता, तब तक वह इसी स्थिति में पड़ा रहता है। कार्यकारणभाव के नियामक रूप में ईश्वर की सत्ता माननी पड़ती है। बैल को रस्सी से बांधकर जैसे उसके सामने चारा डाल दिया जाता है, उसी तरह से यह परतन्त्र पशु जीवात्मा भी सांसारिक भोगों को भोगता है। इस स्थिति से उसको छुटकारा भगवान् की अनुग्रह शक्ति ही दिला सकती है। यह अनुग्रह शक्ति शिव से उसी तरह अभिन्न है, जैसे सूर्य से उसकी किरणें और अग्नि से उसकी गरमी। यह शक्ति एक होते भी कार्य के भेद से इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति का रूप धारण करती है। शिव की अघोर शक्ति ही इच्छाशक्ति, घोरशक्ति ज्ञानशक्ति और घोरघोरतर शक्ति क्रियाशक्ति बन जाती है। शिव की सृष्टि, स्थिति, संहार और तिरोधान शक्ति से जकड़ा हुआ जीव बद्ध और अनुग्रह शक्ति की सहायता से इस बन्धन के कट जाने पर वह मुक्त कहलाता है।

मुक्ति के साधन के रूप में यहां त्रिविध मन्त्रों का निरूपण किया गया है। अब हम उन्हीं का विवेचन करते हैं।

त्रिविध मन्त्र

मन्त्रों की तत्त्वत्रयात्मकता का निरूपण यहां २१वें (श्लो० ५७-८२) और २२वें (श्लो० १४-५८) अधिकार में विस्तार से किया गया है। शिव अनादिमान्, प्रथम, अचल, शाश्वत धाम है। अपनी इच्छा से यह अपना प्रसार करता है। इसकी इच्छाशक्ति ही पहले परम सूक्ष्म 'उन्मना' शक्ति का रूप धारण करती है। प्रकाशस्वरूपिणी यह शक्ति जब सृष्ट्युन्मुख होती है, तो उसे 'समना' कहते हैं। यह शक्ति सदा षडध्वात्मक संसार के सृष्टि-संहार में लगी रहती है। बाद में यही शक्ति [3]'कुण्डला' नाम की तीसरी महाशक्ति का रूप

---

१. तत्त्वप्रकाश की अघोरशिवाचार्य कृत व्याख्या (श्लो० १२) में और सर्वदर्शनसंग्रह (पृ० ७०) में इसका पुर्यष्टक (सूक्ष्म शरीर) के रूप में उल्लेख है। इसकी स्थिति सांख्य के सूक्ष्म शरीर के तुल्य मानी गई है।

२. द्वैतवादी सिद्धान्तशैव दर्शन में मल को द्रव्य माना गया है। इस दृष्टान्त से उक्त मत का खण्डन हो जाता है। इस विषय पर क्षेमराज ने स्वच्छन्दोद्योत में विचार किया है। इस पर वहीं प्रकाश डाला जायगा।

३. नेत्रतन्त्र में कुण्डला (पृ० ५६, २२३) और कौण्डली (पृ० २३४) शब्द का प्रयोग प्रणव की नवीं 'शक्ति' नाम की कला के लिये किया गया है। इसका प्रयोग कुण्डलिनी शक्ति के लिये भी किया जाता है।

धारण करती है। परनादामर्शात्मक, प्रकाशानन्दघन, शिवस्वरूप से ध्वनिरूप स्फोटनामक शब्दब्रह्म का प्रसार होता है। यह अपने तीव्र वेग से सारे जगत् को भर देता है। इसी को नाद कहते हैं, यही सदाशिव है। यह अनाहत नादभट्टारक जहाँ विश्राम लेता है, वही मन्त्र की निरोधिका नाम की कला कहलाती है। इस कला से आवृत मन्त्र की महिमा कुण्ठित हो जाती है। निरोधिका नाम की यह मान्त्री कला समस्त जगत् को अपने में समेटे हुए बिन्दु के नाम से जानी जाती है। जब इसके सिर पर शिवामृत की वर्षा होती है, तो इसका अर्धचन्द्र आकार स्फुट हो जाता है, जो कि स्थूल सृष्टि का कारण है। यहीं से जगत् का सारा सृष्टि-संहार व्यापार चल पड़ता है। प्रणव के मकार से रुद्र की, उकार से विष्णु की और अकार से ब्रह्मा की सृष्टि होनी है।

क्षेमराज ने यहां कुण्डला शक्ति से व्यापिनी का तथा नाद से नादान्त का भी ग्रहण किया है। ऐसा करने पर ही आगे (२२।२१-२२) के वर्णन से संगति बैठ सकती है। इस प्रकार भगवान् शिव की यह मन्त्रसृष्टि परिपूर्ण होती है। इनमें कुण्डलापर्यन्त सृष्टि शिवात्मक, विन्दुपर्यन्त शक्त्यात्मक और मकार-उकार-अकारात्मक सृष्टि आणवात्मक मानी गई है। इस तरह से मन्त्रों की त्रितत्त्वात्मकता निष्पन्न होती है। यह विस्तार परा और पश्यन्ती का माना गया है। इससे आगे आठ वर्ग और पचास वर्णों वाली सूक्ष्म मातृका को [1]मध्यमा वाणी का विस्तार कहा गया है। इसी से सारे मन्त्रों की सृष्टि होती है। इस तरह से सर्ववेदित्व, सर्वशक्तित्व, सर्वकर्तृत्व, सर्वानुग्रहकर्तृत्व, आत्मत्व आदि त्रिविध तत्त्वों के धर्म मन्त्रों में भी आ जाते हैं।

मृत्युंजय मन्त्रराज की कलाओं से तत्त्व, वर्ण, पद, भुवन, कला और मन्त्रों की एवं ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव तथा शिव नामक छः कारणों की सृष्टि होती है। उक्त कलाओं के साथ मन्त्रराज का उच्चारण कर साधक जब विश्राम दशा में पहुँचता है, तो ये छहों कारण विगलित हो जाते हैं, परमशिव पद में विलीन हो जाते हैं। अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधी, नाद, नादान्त, कौण्डली (शक्ति), व्यापिनी और समना—ये ११ मन्त्र-कलाएं सामय कहलाती हैं। निष्कल आत्मतत्त्व, शक्ति और उन्मना—ये तीन साभास तथा परमतत्त्व (शिव) निराभास है। इस निराभास पद में ही उक्त सारी कलाएं अपने [2]अवान्तर भेदों के साथ लीन हो जाती हैं। इस तरह से

---

१. लुप्ता० उपोद्घात (पृ० १४१-१४३) तथा सात्वत० उपोद्घात (पृ० ३७-३९) से तुलना कीजिये।

२. लय की प्रक्रिया यहाँ (२२।२५-५८) विस्तार से वर्णित है। योगिनी-हृदयदीपिका (पृ० ४५-५१) में भी यह विषय चर्चित है।

मन्त्र की इन कलाओं में भी तीन तत्त्व व्याप्त हैं। मन्त्रों की इस त्रितत्त्वात्मकता को भली-भांति जानने वाला व्यक्ति ही ऊपर वर्णित नादानुसन्धान [1]पद्धति से इनको बल और वीर्य से सम्पन्न कर इनकी सहायता से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

इस तरह से हमने यहाँ नेत्रतत्त्व का, उसके वाचक मन्त्रराज मृत्युंजय का और इनके साक्षात्कार के त्रिविध उपायों—मन्त्र, योग तथा ज्ञान—का क्रमश: मन्त्रवाद, त्रिविध योग एवं तत्त्वत्रय के रूप में परिचय दिया है। अब यह बताने जा रहे हैं कि पूरे ग्रन्थ में शिवाद्वयवाद का ही स्वर मुखरित है।

शिवाद्वयवाद

आठवें अधिकार में पर योग का निरूपण करने के बाद २६-४७ श्लोकों में बताया गया है कि सभी शास्त्रों में परमात्मा का स्वरूप सभी उपाधियों से रहित शुद्ध चैतन्यात्मक माना गया है। स्वात्मस्वरूप की इस निर्मलता को साधक तब तक नहीं देख सकता, जब तक कि परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति से उसका ज्ञान परिशुद्ध नहीं हो जाता। [2]जो व्यक्ति दीक्षा, दान आदि से शोध्य जीवात्मा को निर्मल शिव से भिन्न मानते हैं, वे कभी भी परम पद को प्राप्त नहीं कर सकते। अथवा जो साधक पादांगुष्ठ पर्यन्त विकसित होने वाली सर्वज्ञता आदि गुणों का उन्मीलन करने वाली अपनी निर्मल शक्ति का विकास नहीं कर लेता, तो शैवशास्त्र की दृष्टि से वह बद्ध ही माना जाता है।

जिस स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर, अपनी वृत्तियों को वश में करके पुरुष अतीत और अनागत को जान लेता है, उसी को यहाँ शक्ति अथवा प्रतिभा कहा गया है। यह स्वरूप व्यापक प्रकाशात्मक शिव की ही आनन्दलक्षणा स्थिति है। इस शक्ति की सहायता से योगी जब अपने में सर्वज्ञता आदि गुणों का विकास कर लेता है, तो वह शिव के साभास स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। सर्वज्ञता, नित्यपरितृप्तता, अनादिबोधता, स्वतन्त्रता, अलुप्तशक्तिता और अनन्तशक्तिता नामक छ: गुणों का उसमें विकास हो जाता है। अन्ततः वह शिव के निराभास स्वरूप में लीन हो जाता है। उस समय अपने-पराये का भेद मिट जाता हैं। यहाँ मेरी कोई स्थिति नहीं है और न किसी दूसरे की ही है। ध्येय के रूप में भी कोई बचा नहीं रहता। मन की आनन्द-पदवी में लीन इसी सामरस्यमयी स्थिति को शिव की निराभास दशा कहा जाता है। इस स्थिति में ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, भीतर-बाहर कहीं भी चित्त-

---

१. योगिनीहृदय(३।१७६-१८९) और उसकी टीका दीपिका में यह विषय अधिक स्पष्ट रूप से संक्षेप में वर्णित है। स्वच्छन्दतन्त्र (४।२५५-२५६) में इसकी विस्तार से चर्चा हुई है।

२. यह श्लोकार्ध स्वच्छन्दतन्त्र (४।३९२) में भी मिलता है।

वृत्ति को स्थिर करने की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो सदा-सदा के लिये सहज समाधि में लीन हो जाता है। यह निराभास पद ही परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है। इसको प्राप्त कर योगी जीवन्मुक्त हो जाता है, सांसारिक बन्धनों से ऊपर उठ जाता है। अपनी भावना के बल से वह परम शान्त अत्यन्त निर्मल शिवपद को प्राप्त कर लेता है। अन्त में यहां बताया गया है कि तत्त्व एक ही है। यह सारा तत्त्वत्रयात्मक जगत् मंगलमय भगवान् मृत्युंजय भट्टारक का ही विस्तार है, जिसको कि यहाँ नेत्रतत्त्व अथवा अमृतेश के नाम से भी संबोधित किया गया है।

नेत्रतत्त्व का विवेचन हो या मृत्युंजय मन्त्रराज का, त्रिविध योग का निरूपण हो, या तीन तत्त्वों का—सर्वत्र हम इस शिवाद्वयवाद का ही दर्शन करते हैं। क्रिया, योग और ज्ञान की तथा इच्छा, ज्ञान और शक्ति की एकता को भी हम देख चुके हैं। नादानुसन्धान पद्धति से त्रिविध मन्त्रों का भी उपसंहार शिव के निराभास पद में हो जाता है। यहाँ (२१।५०-५६) शिव को जगत् का निमित्तकारण और शक्ति को [1]उपादानकारण माना गया है। इससे द्वैतवाद की आशंका उठ सकती है, किन्तु यह समझ लेना चाहिये कि शक्ति कोई अलग पदार्थ नहीं है, यह तो उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति है, जो कि उसी के साथ जुड़ी हुई है, कभी उससे अलग नहीं होती। इस तरह से अद्वयवाद के लिये आवश्यक अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता की सिद्धि यहाँ भी हो जाती है। क्षेमराज ने असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद, अविद्यावाद का और आर्हत (जैन), सौगत (बौद्ध), तार्किक (न्याय), सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त (श्रुत्यन्तवित्), सिद्धान्त शैव (द्वैतशास्त्र) आदि दर्शनों का खण्डन कर शिवाद्वयवाद की स्थापना की है। यह उनकी अपनी कल्पना न होकर इस द्वारा शास्त्र के समर्थित है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिवाद्वयवाद के माध्यम से इस ग्रन्थ में विश्वबन्धुत्व की भावना को उजागर किया गया है। यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि अपनी-अपनी भावना के अनुसार व्यक्ति शिव, विष्णु, सूर्य, बुद्ध आदि किसी भी रूप में भगवान् की उपासना कर सकता है। इस दृष्टिकोण का विकास

---

१. यह विषय स्वच्छन्दतन्त्र में भी चर्चित है। इस पर हम वहीं विस्तार से विचार करेंगे।

हम विश्व के सभी धर्मों की [1]उपासना पद्धति को मान्यता देकर कर सकते हैं। इस शास्त्र ने मानवमात्र को दीक्षा, ज्ञान और मुक्ति का अधिकारी माना है। यहाँ (१९।२१९) स्पष्ट घोषणा की गई है कि नेत्रनाथ पर सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भारतीय जनमानस आज कलिकाल की विभीषिका से बुरी तरह परेशान है। नेत्रनाथ के इस स्वरूप की उपासना कर वह इससे त्राण पा सकता है। मन्त्रवाद का यहाँ विस्तार से प्रतिपादन किया गया है, किन्तु साथ ही चेतावनी भी दी गई है कि जो व्यक्ति उत्तम सिद्धि अथवा मोक्ष को चाहता है, उसको मन्त्रवाद का सहारा कभी भी नहीं लेना चाहिये। कुटुम्बी जनों और प्रजा के कल्याण के लिये, उन पर अनुग्रह करने की दृष्टि से ही मन्त्रवाद की सहायता लेने का यहाँ स्पष्ट निर्देश दिया गया है।

भारत में दो तरह की दृष्टियों का साथ-साथ विकास हुआ है। एक दृष्टि है ब्रह्मसूत्र की, जिसमें अपने सिवाय सबको नकार दिया गया है। दूसरी दृष्टि है भगवद्गीता की, जिसमें सांख्य और योग को ही एक नहीं बताया गया है, किन्तु उस समय प्रचलित सभी दृष्टियों में समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास भी किया गया है। भगवत्पाद शंकराचार्य ने पहली दृष्टि का समर्थन किया, जाने-अनजाने स्वामी दयानन्द[2] ने भी उसी मार्ग का सहारा लिया, जबकि दक्षिण के शैव और वैष्णव सन्तों ने तथा उत्तर के सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं ने दूसरी दृष्टि को श्रेयस्कर माना है। आगम और तन्त्रशास्त्र ने भी इसी दृष्टि को उजागर किया। वे भगवान् बुद्ध और महावीर के सार्वभौम उपदेशों को स्वीकार करने में परहेज नहीं करते। वैष्णव धर्म ने इस ओर क्रान्तिकारी कदम उठाये। न जाने क्यों भारतीय समाज में यह दृष्टि धूमिल हो गई। बौद्ध दृष्टि के साथ ही समाज ने तन्त्रागम शास्त्र की समन्वयवादिनी दृष्टि को भी नकार दिया। हमने [3]अन्यत्र लिखा है कि आज हम वैदिक और

---

१. अल्लोपनिषद् और शक्तिसंगमतन्त्र के द्वारा इस ओर कदम रखे गये हैं। इस उपनिषद् की शाक्त उपनिषदों में गणना की जाती है और शक्तिसंगम भी शाक्त तन्त्र है। इसमें (२।२१।५३-५५) चीनस्नान और चीननमस्कार के रूप में वजू और नमाज का उल्लेख हुआ है।

२. स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद की पद्धति से ही अवैदिक मतों का खण्डन किया गया है।

३. आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. २०० देखिये।

तान्त्रिक दोनों धर्मों की अच्छाइयों को भुला वैठे हैं और कालक्रम से प्रविष्ट उनकी बुराइयों से चिपके हुए हैं। तान्त्रिक रहस्यवाद फिर समाज को भ्रमित करने में लगा है और वैदिक दृष्टिकोण अपने संकीर्ण घेरे से हमको वाहर नहीं निकलने देता। इन दोषों से मुक्ति हम तभी पा सकते हैं, जवकि नेत्रतन्त्र की शिक्षा का हम अनुसरण करें, वैदिक और तान्त्रिक धर्म में समन्वय स्थापित करें।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को पुनः सुलभ कराने के लिये परिमल पब्लिकेशन के अध्यक्ष श्री कन्हैयालाल जोशी का प्रयास प्रशंसनीय है। इसके लिये मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ और चाहता हूँ कि वे इस तरह से आगम और तन्त्र-शास्त्र के उद्धार में लगे रहें। पूरे ग्रन्थ का मुद्रण दिल्ली में हुआ है, अतः कुछ त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। विज्ञ पाठक इसके लिए हमें क्षमा करेंगे। उनसे निवेदन है कि शुद्धिपत्र की सहायता से वे ग्रन्थ को संशोधित कर लेंगे।

गीताजयन्ती, संवत् २०४१ — विद्वद्वशंवद

४-१२-८४; वाराणसी। — व्रजवल्लभ द्विवेदी

शास्त्रचूडामण्याचार्य

विषय-सूची

उपोद्घात ५-५०

नेत्रतन्त्र का परिचय—क्षेमराज का नेत्रतन्त्रोद्योत—नेत्रतन्त्र का संक्षेप—नेत्रतन्त्र का स्वरूप—मृत्युंजय मन्त्रराज—मन्त्रवाद—आचार्य (गुरु)—त्रिविध योग—स्थूल, सूक्ष्म और पर—तत्त्व त्रय—शिव, शक्ति और आत्मा—त्रिविध मल—बन्ध और मोक्ष—त्रिविध मन्त्र—शिवाद्वयवाद—उपसंहार ।

१. प्रथमाधिकारे १-१४

मङ्गलाचरणम्—तन्त्रावतारः—पार्वतीप्रश्नः—नेत्रतत्त्वनिरूपणम्—शक्तित्रयनिरूपणम्—त्रिनेत्रकल्पना—नेत्रामृतविमर्शः—नेत्रतत्त्वस्यैव मृत्युजिदिति नामान्तरम्—मृत्युजिन्माहात्म्यम् ।

२. द्वितीयाधिकारे १५-२२

प्राणिनां हिताय कृतः पार्वतीप्रश्नः—नेत्रभूतस्य सर्वोपद्रवनाशकस्य मृत्युजिन्मन्त्रस्य मन्त्रयोगज्ञानगम्यत्वम्—मन्त्रोद्धारे इतिकर्तव्यता—बीजमन्त्रोद्धारप्रकारः—मन्त्राराधनम्—षडङ्गमन्त्रोद्धारः ।

३. तृतीयाधिकारे २३-३८

स्नानसंध्यातर्पणादिविधानम्—यागगृहप्रवेशः—प्राणायाम-करशुद्धिन्यास-मन्त्रमूर्तिन्यास-अङ्गन्यास-मुद्रादिविधानम्—ध्यानम्—मानसं यजनम्—मण्डलविधानम्—आवाहनादिकम्—होमविधानम्—विविधकुण्डवर्णनम्—कुण्डसंस्काराः—वह्निसंस्काराः—स्रुक्स्रुवौ—वेदिका—होमद्रव्याणि—आज्यसंस्काराः—काम्यहोमः ।

४. चतुर्थाधिकारे ३९-४२

षट्प्रकारा तत्त्वदीक्षा कलादिदीक्षा च—वागीशीयोजनम्—गर्भाधानादयः संस्काराः—पाशच्छेददाहादिकम्—शिखाच्छेदहोमादिकम्—परतत्त्वयोजनाप्रकारः ।

५. पञ्चमाधिकारे ४३-४४

अष्टकलशविधानम्—कलशविषयकं पक्षान्तरम्—अभिषिक्तो मन्त्रसाधनं कुर्यात्—काम्यजपविधानम् ।

६. षष्ठाधिकारे ४५-५१

सिद्धित्रयसमन्वितामृतेशविषयकः प्रश्नः—त्रिविधोपायोपदेशारम्भः—स्थूलसूक्ष्मपरपदनिर्वचनम्—स्थूलोपायोपदेशोपक्रमः—विविधाः काम्याः प्रयोगाः।

७. सप्तमाधिकारे ५२-६१

षट्चक्र-षोडशाधार-त्रिलक्ष्य-व्योमपञ्चक-ग्रन्थिद्वादशक-शक्तित्रय-धामत्रय-नाडीत्रयाख्यसूक्ष्मोपायनिरूपणम्—परमशिवात् शक्तिः स्वयं प्रवर्तते—पराशक्तिस्वरूपम्—साधकस्य मृत्युजित्स्वरूपावाप्तिः—कालवञ्चनम् ।

८. अष्टमाधिकारे ६२ ७४

परध्याननिरूपणम्—परध्यानेनाव्ययशिवत्वावाप्तिः—अष्टाङ्गो योगः—यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-समाधीनां विशिष्टं स्वरूपम्—आणव-शाक्त-शाम्भवसमाधिस्वरूपम्—अष्टाङ्गयोगोपासकस्य मृत्युजित्त्वम्—बन्धमोक्षस्वरूपविवेचनम्—शक्तिस्वरूपोपदेशः—साभासो निराभासश्च शिवः—शाम्भवोपायोपदेशः—साधकस्य मृत्युजित्स्वरूपावाप्त्या कालवञ्चकत्वम्—मन्त्रराजमाहात्म्यम् ।

९. नवमाधिकारे ७५-७९

वामदक्षिणसिद्धान्ताद्यागमविषयकः प्रश्नः—देवस्य शिव-सदाशिव-भैरव-तुम्बुरुरूपत्वम्—सदाशिवध्यानपूजादिविधानम् ।

१०. दशमाधिकारे ८०-८५

भैरवध्यानम्—अघोरेशीध्यानम्—यामलस्वरूपध्यानम्—पुष्पधूपासवादिना पूजाविधानम्—सिद्धारक्तादिदेवीचतुष्टयध्यानम्—कुम्भीरस्वरूपम्—काम्याराधनम् ।

११. एकादशाधिकारे ८६-९०

तुम्बुरुध्यानम्—दूत्यः किङ्कराश्च—जयादिदेवीचतुष्टयध्यानम्—रक्षाविधिः—रक्षाचक्रम्—काम्यहोमः ।

१२. द्वादशाधिकारे ९१-९३

कुलाम्नायपद्धत्या योग-होम-जपविधानम्—ब्राह्म्यादिदेव्यष्टकस्वरूपायुधासनादिकं माहात्म्यं च—काम्यहोमः ।

१३. त्रयोदशाधिकारे ९४-१००

नारायणध्यानम्—जयादिदेवीचतुष्टयध्यानम्—विश्वरूपध्यानम्—नरसिंह-वराह-वामन-कपिलादिसमाराधनम्—सूर्यध्यानम्—आवरणार्चनम्—विश्वकर्मध्यानम्—सदाशिवादिध्यानम्—ब्रह्मध्यानम्—बुद्धध्यानम्—विविधदेवसमाराधनम्—विकल्पः, संकरः, शङ्का वा नैव कर्तव्या सकृत् पूजा विधेया ।

१४. चतुर्दशाधिकारे १०१-१०३

मन्त्राराधनविषयकः प्रश्नः—शिवेन कृताऽऽदिसृष्टिर्मन्त्रसृष्टिश्च—सर्वे मन्त्राः सिद्धिदाः—गुप्तो मन्त्रः सुसिद्धिदो भवति ।

१५. पञ्चदशाधिकारे १०४-१०८

मन्त्रनाथस्य सर्वरक्षाकरत्वम्—सर्षप-रक्षोघ्न-सिद्धार्थक-नीराजन-पद-निरुक्तिः—रक्षोघ्नस्य सितादयो भेदाः—रक्षाकराः प्रयोगाः—मन्त्रमाहात्म्यम् ।

१६. षोडशाधिकारे १०९-१३१

समयाचारविषयको देवीप्रश्नः—कलौ मन्त्रराजस्यैव समाराधनं वरमिति भगवदुत्तरम्—मृत्युजिदेव भावभेदेन यष्टव्यः—यजनविधिवर्णनम्—शान्तिपुष्टयादौ सुगुप्तं यजनं विधेयम्—मन्त्राणां कीलनादयो दश दोषाः—दीक्षायोग्यो गुरुः—कुण्डमण्डलादिप्रमाणम्—त्रिविधस्य मलस्य पाशपदवाच्यत्वम्—त्रिविध आचार्यः—दीक्षापदनिरुक्तिः—क्रियापदनिरुक्ति—सर्वं जगत् शक्तिमयम्—शक्तिहीना मन्त्रा न सिद्धयन्ति—यागविधानम्—काम्याः प्रयोगाः—मण्डलचक्रादीनां विन्यासः—गुरुपूजनमावश्यकम् ।

१७. सप्तदशाधिकारे १३२-१३६

चक्रराजविधानम्—काम्याः प्रयोगाः—राजरक्षा—पुष्टिकराः प्रयोगाः ।

१८. अष्टादशाधिकारे १३७-१५८

कृत्याखार्खोदकादिप्रतिविधानम्—प्रत्यङ्गिराप्रयोगः—मन्त्रवादनिरूपणम्—नवप्रकारो मन्त्रवादः—एकादशविधो मन्त्रः—सिद्धसाध्यादिविभागः—उदयास्तमयः—ध्यानमुद्रानिरूपणम्—मन्त्रराजस्य सर्वोत्तमत्वम्—विनायकादिग्रस्तानां कृते श्रीयागविधानम्—मण्डलविधानम्—पूजनम्—दैशिकेतिकर्तव्यतानिर्देशः—देवीध्यानं पूजनं च—विधिवदर्चिता देवी सर्वान् कामान् पूरयति—बुभुक्षोर्भोगसाधकाः प्रयोगाः—पतितोद्धारकाः प्रयोगाः ।

१९. एकोनविंशाधिकारे १५९-१९४

दृष्टिपातादिदोषप्रशमोपायविषयको देवीप्रश्नः—छायाछिद्रादिनिरूपणम्—भूतादीनामुत्पत्तिवर्णनम्—तदुपद्रवोपशान्त्यै मन्त्राणामवतारः—दुराचारान् पुरुषान् भूतादयो बाधन्ते—छायादृष्टिदोषादिनिराकरणोपायाः—ब्राह्म्याद्याः सप्त मातरः—विघ्नेशादिसमाराधनम्—बलिप्रदानम्—आचार्येतिकर्तव्यता—राजरक्षाविधानम्—इन्द्रयागः—महानवमीपूजनम्—अस्त्रयागः—नीराजनविधानम्-गोकुलाश्वगजादिरक्षाकराः प्रयोगाः—नानादोषाणां शान्तये यागः—राष्ट्रवृद्धिकरो होमः—मन्त्रवित्सन्निधौ दोषा न प्रसरन्ति—ग्रहरक्षाविधानम्—रक्षातत्त्वनिर्णयः—त्रिविधो मलः—विकल्पमात्रः संसारः—मलत्रयोपेतः पशुः—शक्त्याऽत्रियुक्तः शिवः—कृत्यभेदेन शक्तेरघोरादयो भेदाः—रक्षा-दीक्षापदनिरुक्तिः—जीवरक्षादिकम्—भूतविनिर्णयः—अष्टविधा रक्षा—मृत्युजिन्माहात्म्यम् ।

२०. विंशाधिकारे १९५-२०७

योगिनीशाकिन्यादिविषयकः प्रश्नः—पशवः पतियागार्थं सृष्टाः—त्रिविधेन योगेन पशूनां योजनम्—परयोगेन दीक्षायां शिवत्वमुपलभ्यते—

मरणलक्षणम्—सूक्ष्मयोगेन पशूनां मोक्षणम्—स्थूलयोगेन पाशवपुरपातनम्—सिद्धमन्त्रो योगी परेषामपि मोचकः—उत्तमां सिद्धिं मोक्षं वेच्छता मन्त्रवादो न कर्तव्यः—जीवानां नृपत्यादीनामनुग्रहार्थमेव मन्त्रवादः कार्यः—जगतां रक्षणाय परमेशेन मन्त्रौषधक्रियायोगा उपदिष्टाः—मृत्युजित् सर्वमन्त्रेश्वरः समाख्यातः।

२१. एकविंशाधिकारे २०८-२२९

मन्त्राः किमात्मका इत्यादिकाः प्रश्नाः—तत्त्वत्रयं विना मन्त्रो वक्तुं न शक्यते—शिवात्मकाः शक्तिरूपा आणवाश्च मन्त्राः—शक्तित्रयनिरूपणम्—मातृकास्वरूपविमर्शः—शिवस्य पञ्चविधं कृत्यम्—शक्तिपञ्चकम्—त्रितत्त्व-विमर्शः—षड्विधा चतुर्भेदा च सृष्टिः—निमित्तकारणं देवः शक्तिश्चोपादान-कारणम्—अकामतः सर्वं चराचरं शक्तिसहचरितः शिवः सृजेत्—सर्वे मन्त्रा-स्त्रितत्त्वजा इति विषयोपसंहारः—उन्मना, समना, कुण्डला च शक्तिः—ध्वनिरूपः स्फोट एव नादः—निरोधिनी—बिन्दुरर्धचन्द्रश्च—मातृका—मृत्यु-जिद्भैरवपदयोर्निरुक्तिः—मननत्राणधर्माणो मन्त्राः—मन्त्राणां शिवशक्त्यात्म-रूपत्वम्—मन्त्रो ध्यानं मुद्रा च—दीक्षामण्डलादिकमस्यैव प्रपञ्चः।

२२. द्वाविंशाधिकारे २३०-२४६

मृत्युञ्जयमन्त्रस्य श्रेष्ठत्वविषयकः प्रश्नः—शिवस्वरूपनिरूपणम्—अस्मादेवामोघशक्तयो मन्त्राः समुत्पन्नाः—नेत्रमन्त्रनिर्वचनम्—मन्त्रनाथस्या-क्षरव्याप्त्या श्रेष्ठत्वनिरूपणम्—कारणषट्कनिर्देशः—षट्त्यागात् सप्तमे लयः—प्रणवस्य सामयाः कलाः—निराभासमनुत्तमं परतत्त्वम्—कारणलयप्रकारः—सद्योजातादिकलानिरूपणम्—स्थूलाध्वनिरूपणम्—सूक्ष्माध्वनिरूपणम्—अर्ध-चन्द्र-निरोधिका-नाद-शक्ति-व्यापिनी-समनाकलाः—तत्त्वत्रयव्याप्तिः—आत्मभूता मन्त्राः—शक्तिस्था मन्त्रा भोगमोक्षप्रदाः—शिवीभूताः शिवप्रदाः—अमृतेशस्य मृत्युजिद्भैरवस्य माहात्म्यम्—साधकस्यामृतेशत्वावाप्तिः—पात्रापात्रनिर्णयः—फलश्रुतिः।

नेत्रतन्त्रस्मृतग्रन्थमतमतान्तराणि २४७

नेत्रतन्त्रोद्द्योतधृतग्रन्थग्रन्थकारमतमतान्तराणि २४८

अनिर्दिष्टस्थलान्युद्द्योतधृतवचनानि २५१

परिवर्धनानि २५२

संशोधनानि त्रुटिपूरणं च २५३

———

नेत्रतन्त्रम्

(मृत्युञ्जयभट्टारकः)

श्रीमत्क्षेमराजरचितोद्द्योताख्यव्याख्योपेतम्

प्रथमोऽधिकारः

द्वारेशा नवरन्ध्रगा हृदयगो वास्तुर्गणेशो मनः
शब्दाद्या गुरवः समीरदशकं त्वाधारशक्त्यात्मकम् ।
चिद्देवोऽथ विमर्शशक्तिसहितः षाड्गुण्यमञ्जावलि-
र्लोकेशः करणानि यस्य महिमा तं नेत्रनाथं स्तुमः ॥
यन्मन्त्रावलिनायकं भवति यत् स्वं वीर्यमन्तर्बहि-
र्यन्त्राणं भविनां विभूतिकृदणो यद्विश्वरक्षाकरम् ।
ज्योतिस्तत्परमं परामृतमयं विश्वात्म तुर्यं त्रिकं
नेत्रं पञ्चकसप्तकात्म शिवयोर्नौम्येकवीरं मृडम् ॥
योऽन्तर्विश्वं झटिति कलयन्नक्षचक्रेश्वरीभिः
स्वात्मैकात्म्यं गमयति निरानन्दधाराधिरूढैः ।
यः पूर्णत्वाद्वहिरपि तथैवोच्छलत्स्वात्मरूपो
वोधोल्लासो जयति स गुरुः कोऽप्यपूर्वो रहस्यः ॥
सर्वाभासविकासि चिन्मयमहः स्वच्छस्वतन्त्रस्फुरद्
यद्द्वैतेन्धनदाहि यच्च परमाद्वैतामृतेनोच्छलत् ।
द्वैताद्वैतदृगन्धकारहरणं धामत्रयैकात्मकं
शैवं नेत्रमनुग्रहाय जगतोऽमुत्रैतदुद्द्योतते ॥
अभिनवबोधादित्यद्युतिविकसितहृत्सरोजान्मे
रसयत सरसाः परिमलमसारसंसारवासनाशान्त्यै ॥

इहानुजिघृक्षामनाः परसंविद्देवीप्रबोधितोऽवतितारयिषितसर्वागमरहस्यै-स्तच्छासनानुगुण्येन नमस्कार्यंनमस्कारं कश्चित्तन्त्रावतारक आह—

त्रिधा तिसृष्ववस्थासु रूपमास्थाय शक्तिमान् ।
उद्भवस्थितिसंहारान् कृत्स्नविश्वस्य शक्तितः ॥१॥

विधाता यो नमस्तस्मै शुद्धामृतमयात्मने ।
शिवाय ब्रह्मविष्ण्वीशपराय परमात्मने ॥२॥

तस्मै शिवाय चिदानन्दधनश्रेयोरूपाय परमात्मने नमो देहप्राणादिमितात्मप्रह्वीभावेन तं समाविशामि। कीदृशे ब्रह्मविष्ण्वीशेभ्यो ब्रह्माद्यनाश्रितान्तेभ्यः पराय प्रकृष्टाय एतत्पालनपूरणकर्त्रे च। ईशशब्दः सामान्येन रुद्रेश्वरसदाशिवानाश्रितान्तानाह। परत्वादेव शुद्धो महामाययाप्यकलुषोऽतश्चामृतमयो जगदानन्दात्मा आत्मा स्वभावो यस्य। ईदृगेव हि परमात्माग्रग्रन्थे वर्णयिष्यते—

'परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम्।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु कथ्यते॥' (८।२८)

इति। कस्मै तस्मै इत्याह—त्रिधेत्यादि। यः शक्तिमान् स्वतन्त्रः शक्तितः स्वातन्त्र्यशक्त्या तिसृषु बहिर्ब्रह्मप्रकृतिमायाण्डरूपासु अन्तर्हृदादिजागराद्यात्मिकासु तेनैवावस्थात्रा आभासितत्वादवस्थासु त्रिधा ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपं रूपमास्थाय गृहीत्वा मायान्तस्य कृत्स्नस्योद्भवस्थितिसंहारान् यथायोगं विधाता विदधाति तच्छीलः। तथा तिसृषु लयाधिकारभोगाख्यास्ववस्थासु त्रिधा अनाश्रितसदाशिवेश्वरात्मरूपमाश्रित्य शुद्धाध्वात्मनः कृत्स्नस्य विश्वस्य यथोचितं युगपदुद्भवादीन् विधाता। स्थितिसंहृतिविशेषात्मानौ विलयानुग्रहौ स्थितिसंहाराभ्यामेव स्वीकृतौ इति पञ्चकृत्यकृद् देवदेवः। एतद्व्याख्याद्वयानुरूपश्चाग्रिमो ग्रन्थः—

'सृष्टिं स्थितिं च संहारं त्रितनुर्विदधाम्यहम्।' (१।३१)

इत्यस्ति। किंच, तिसृषु परापरापरापराभूमिषु त्रिधा क्रियाज्ञानेच्छाख्यारूपमास्थाय य उद्भवादीन् विधाता। यद्वक्ष्यति—

'एवं ममेच्छा ज्ञानाख्या क्रियाख्या शक्तिरुच्यते।' (१।२६)

इति।

'क्रियाशक्त्या तु सृजति ज्ञानशक्त्या जगत्स्थितिम्।
संहारं रुद्रशक्त्या च।' (२१।४३)

इति। अपिच, परासु मेयमानमात्रात्मिकासु तिसृष्ववस्थासु नरशक्तिशिवभेदात्त्रिधा रूपमास्थाय कृत्स्नस्य विश्वस्योद्भवादीन् विधाता यः। यद्भविष्यति—

'एवमुक्तेन विधिना मन्त्राः सर्वे त्रितत्त्वतः।...
भवन्ति सर्वतः सर्वे।' (२१।५७-५८)

इत्यादि। अपि च तिसृषूच्चारहवनविश्रान्त्यात्मिकास्ववस्थास्वक्षरभेदात् त्रिधा सान्तं रूपमास्थाय कालाग्न्यादेश्चरमकलान्तस्य कृत्स्नस्य विश्वस्योर्ध्वम्भवनचिदग्न्यन्तःकारप्रकाशानन्दसद्भावरूपानुद्भवादीन् यो विधाता। यदभिधास्यति—

'प्रणवः प्राणिनां प्राणः' (२२।१४)

इत्यादि 'पूर्णया' (२२।१७) इत्यन्तम्। अन्यच्च तिसृष्वन्तर्वामदक्षिणमध्य-भूमिषु वहिश्च निशादिनसन्ध्यारूपास्ववस्थासु त्रिधा नेत्रनाडीसंचारविशेषरूपं सोमसूर्यवह्न्यात्म च रूपमास्थाय कृत्स्नस्य विश्वस्य आप्यायप्रकाशदाहादिरूपान् उद्भवादीन् यो विधाता। यदादेक्ष्यति—

'सूर्याचन्द्रमसौ वह्निस्त्रिधामपरिकल्पना।
त्रिनेत्रकल्पना मह्यं तदर्थमिह दृश्यते॥
दहनाप्यायने तेन प्राकाश्यं विदधाम्यहम्।' (१।३०-३१)

इति। सूत्रेऽवस्थाशब्दो भावसाधनोऽधिकरणसाधनश्च यथायोगं योज्यः। एवं सत्पाठमिममदृष्ट्वा 'यस्त्रिधा तिसृष्ववस्थासु' इति 'विदधाति' इति च पठित्वा यत्तद्व्याद्धकुर्वाणा उपहास्या एव॥२॥

एवमिष्टदेवतां नमस्कृत्य तन्त्रावतारक आयातिक्रममुपक्रमते वक्तुम्—

कैलासशिखरासीनं देवदेवं महेश्वरम्।
क्रीडमानं गणैः सार्धं पार्वत्या सहितं हरम्॥३॥
दृष्ट्वा प्रमुदितं देवं प्राणिनां हितकाम्यया।
उत्संगादवतीर्याशु पादौ जग्राह पार्वती॥४॥
पप्रच्छ परया भक्त्या संतोष्य परमेश्वरम्।

महेश्वराख्यं देवानां ब्रह्मादीनां देवं प्रभु देवं द्योतनादिसतत्त्वं सकलभेदतिमिरहरत्वात् भोगमोक्षप्रापकत्वाच्च हरम्। उक्तं च—

'हरति पशुभ्यः पाशान् पुंसोऽप्यूर्ध्वं नयति यः स हरः'

इति पार्वत्या सहितमित्युमापतिं कैलासवासिनं परमशिवमत एव बाह्यगणैः सह क्रीडन्तमपि वस्तुतो गणैः स्वमरीचिचयैः सह विश्वनिर्माणादिक्रीडां ताच्छील्येन विदधतम्, अतश्च स्वमरीचिचक्रविश्रान्तेः प्रकर्षेण मुदितं परमानन्दघनम्, अत एव च के शिरसि एला स्फुरन्ती शक्तिः, तस्यामास आसनं यस्य व्यापिनीसमनात्मनः शिखरस्यात्युच्चस्य धाम्नः, तत्रासीनमुन्मनापरतत्त्वस्फारमयं दृष्ट्वा निश्चत्य अवसरज्ञा देवी विनयाद् मरीचिचयमुत्सङ्गमुज्झित्वा आशु पादग्रहणपूर्वं परस्वरूपाराधनपरया भक्त्या संतोष्य प्राणवदनुजिघृक्षया पृष्टवती॥४॥

यत् पप्रच्छ तद् दर्शयति—

श्रीदेवी उवाच

भगवन् देवदेवेश लोकनाथ जगत्पते॥५॥

यत् त्वया महदाश्चर्यं कृतं विस्मयकारकम् ।
सर्वस्य जगतो देव किन्तु मे परमेश्वर ॥६॥

दुर्विज्ञेयं दुरासादं रहस्यं न प्रकाशितम् ।
कार्तिकेयस्य च न मे न सुरेषु गणेषु वा ॥७॥

योगेश्वरीणां मातॄणामृषीणां मे योगिनां नहि ।
तदद्य मे जगन्नाथ प्रसन्नोऽसि यदि प्रभो ॥८॥

प्रार्थयामि प्रपन्नाहं निःशेषं वक्तुमर्हसि ।

हे भगवन् ज्ञानैश्वर्याद्यतिशयशालिन्, आराध्यदेवदेवानां ब्रह्मादीनामीश स्वामिन्, लोकानां नाथ स्वामिन्, समभिलषितसिद्धये लोकैः प्रार्थ्यमान जगतो विश्वस्य पते पालक देव क्रीडादिपर परमेश्वर परमशिवमूर्ते, इत्यामन्त्रणानि सकलनिष्कलोभयस्वरूपामर्शनेन भगवतः सार्वात्म्यप्रथनपराणि भक्त्यतिशयद्योतनादात्मसंमुखीकाराय । त्वया यद् महदाश्चर्यं कृतं भाविविशेषपूर्वदर्शयिष्यमाणसंहाराप्यायकृन्नेत्रप्रकाशनरूपम् तन्न ममैव, अपि तु सर्वस्य विस्मयकृत्, तच्च दुःखेन ज्ञायते निश्चीयते आसाद्यते प्राप्यते समाविश्यते च रहस्यं यतोऽतश्च नाद्यापि कस्यापि प्रकाशितम् । योगेश्वर्यो बाह्याः खेचर्याद्याः, मातरो ब्राह्म्याद्याः, ऋषयस्तीव्रतपसः, योगिनः षडंगादियोगेनेश्वराराधकाः । तदित्याश्चर्यम् । मे इति त्वद्भक्तिजुषः । प्रसन्न इति मायाकालुष्यशान्त्यान्तर्नैर्मल्यं गतः । जगन्नाथेति वाक्यान्तरस्थत्वान्न पुनरुक्तम् । यतो जगन्नाथोऽसि, अतोऽहं प्रपन्ना त्वदाराधनैकपरा सती त्वां प्रार्थये, एतन्निःशेषं मे प्रपन्नाया वक्तुमर्हसि ॥८॥

अत्र तन्त्रावतारकः सङ्गतिं करोति—

एवं देव्या वचः श्रुत्वा प्रहासवदनोऽब्रवीत् ॥९॥

प्रकृष्टो हासः परनाददशासमावेशोऽट्टहासो वदनेऽभिधाने यस्य—

'अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात् ।
ध्वनिरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रम् ।'

इत्याम्नायेषूक्तत्वात् । अथ च प्रहाससात्त्विकभावोदयात् प्रफुल्लं वक्त्रं यस्य ॥९॥

किमब्रवीदित्याह—

श्रीभगवानुवाच

किं किं वदस्व सुश्रोणि रहस्यं ते हृदि स्थितम् ।
सर्वं वक्ष्याम्यसंदेहं तोषितोऽहं त्वयानघे ॥१०॥

यतोऽवसरज्ञतया परानुजिघृक्षाप्रवणतया च अहं त्वया तोषितः, अतः सर्वं रहस्यं निःसन्देहं ते वक्ष्यामि । किं किं ते हृदये स्थितं वदस्व इत्युक्त्या विशेषप्रश्ने देवीं प्रोत्साहयति । अथ च यद्रहस्यं तत्ते हृदि स्वान्तरवस्थितं केवलमनुन्मीलितम् । वदसि इति पाठे स्पष्टोऽर्थः ॥१०॥

एवं देवेन सामान्येन वक्तुं यत् प्रतिज्ञातं तद्दृढीकर्तुम्—

श्रीदेव्युवाच

भगवन् देवदेवेश चित्राश्चर्यप्रवर्तक ।
आश्चर्यमीदृशं रम्यं न श्रुतं तच्छृणोम्यहम् ॥११॥
विभो प्रसन्नवदन परमानन्दकारक ।
अमात्सर्येण भगवन् कथनीयं त्वया मम ॥१२॥

ईदृशमिति हृत्स्थितं स्फुटीकरिष्यमाणं न श्रुतमिति नाद्यापि निर्णीततत्त्वं तत् शृणोमि अधिजिगमिषामि ॥१२॥

एतत् स्फुटयति—

यत्तदापोमयं देव चक्षुः सर्वत्र दृश्यते ।
तस्मादग्निः कथं रौद्र उत्पन्नः कालदाहकः ॥१३॥
येन वै दृष्टमात्रस्तु मित्रजो भस्मसात्कृतः ।
किं तद्रौद्रं कृतं देव वह्निकालदिधक्षया ॥१४॥
प्रज्वालितं जगत्सर्वं ब्रह्मादिस्थावरान्तकम् ।
कामस्तथैव निर्दग्धो लीलया परमेश्वर ॥१५॥
क्रोधनेत्रानलं नाथ दृश्यते यन्न कस्यचित् ।
कृतं यद् देवदेवेन महाविस्मयकारकम् ॥१६॥
देव नेत्रान्तरे वह्निस्त्वदृते कस्य दृश्यते ।
किं वा वह्निमयं चक्षुस्तत्कथं न विभाव्यते ॥१७॥
येन वै चक्षुषा कृत्स्नं प्रसरंश्च जगत्पते ।
सर्वामृतमयेनैव जगदाप्यायसे क्षणात् ॥१८॥
मामानन्दयसे देव प्रसन्नेनैव चक्षुषा ।
अमृताकारवच्छुभ्रं जगदाप्यायकारकम् ॥१९॥
तस्मात्कालानलप्रख्यः कुतो वह्निः प्रजायते ।
एतत्सर्वं समासेन भगवन् वक्तुमर्हसि ॥२०॥

यच्चक्षुरिति गोलकरूपं दृश्यते सर्वैरुपलभ्यते, तदाप इति सितरूपबाहुल्यात् ।

'मम नेत्रोदकं देवि·········।

दशधा निःसृता गंगा।' (स्व० १०।१७४-१७५)

इति श्रीमत्स्वच्छन्दे देवेनाभिहितत्वाच्च अब्रूपम्। यद्यपि तार्किकैस्तेजोरूपमनुमीयते चक्षुः, तथापि यद् दृश्यते तदुक्तहेतोरब्रूपमेव, अत एवामयं न विद्यते मयो हिंसा यतस्तस्मात् कालदाही कथमिति विरुद्धोऽग्निर्जातः। किं तद् रौद्रं कृतमिति कालकामादिदाहाय जगत्प्रदीपक त्वया एतत् स्वातन्त्र्यात् किं वा उत्थापितं यद् यस्मात् क्रोधावसरे न कस्यापीक्ष्यते तन्नूनं देवदेवेन सर्वेन्द्रियशक्तिचक्रभासकेन भूष्णुना एतदीदृक् कृतम्। तच्च त्वामृतेऽन्यत्रादृश्यमानत्वाद् महदाश्चर्यकृत्। किंवेति कालदाहादिकार्यानुगुण्याद् अन्यैस्तथाभ्युपगमाच्च यदि वाह्नं चक्षुः, तत् कथमन्यप्रकाशहेतुर्दीपादिवन्न दृश्यते, मा वा तथा दर्शि, कथं त्वनेन वाह्नेन त्वं प्रसरन् जगदाप्यायसे मामानन्दयसि च अमृताकारः। तदिति तदेतस्माद् कारणात् तर्हि अमृतोदयहेतोरेतत् कथम्, कथं च अमृतमयादस्मात् कालकामादिदाही कालाग्निकल्पो जातः, इत्येतद्विरुद्धमाभासमानं समर्थयस्व परमेश्वरेति ॥२०॥

देव्या पृष्टः—

श्रीभगवानुवाच

अतिकौतूहलाविष्टा पृच्छस्येतच्छृणु प्रिये।

शृणु इत्युक्त्वा देवीमभिमुखीकृत्य विशेषनिश्चयं कर्तुं प्रतिजानीते—

यन्मे नेत्रान्तरे वह्निर्यद्वामृतमनुत्तमम् ॥२१॥

तत्सर्वं कथयिष्यामि योगयुक्त्या शृणु प्रिये।

मन्नेत्रान्तर्वह्न्यमृतद्वयं यदनुत्तमं रहस्यमिति प्रागुक्तम्, अतश्च पाशानां कालादेश्च दाहकं परधामावेशात्म जगदाप्यायकृद् यद् योगयुक्त्या, पराद्वयस्फारानुप्रवेशेन कथयिष्यामि त्वं च तथैव शृणु अन्तर्विमृश। तदेतदादिवाक्यम्। अत्र परवह्न्यमृतात्मनेत्ररहस्यमभिधेयम्। तस्य अनुत्तममिति विशेषणेन भोगमोक्षाख्यं प्रयोजनं प्रत्युपायत्वं सूचितम्। परादिरदिव्यान्तः षोढा संबन्धः प्रसिद्ध एव ॥२१॥

नेत्रतत्त्वाभिधायित्वाद् नेत्रमित्यस्य नाम प्रतिज्ञातं स्फुटयति—

यत्स्वरूपं निजं शुद्धं व्यापकं सर्वतोमुखम् ॥२२॥

सर्वभूतान्तरावस्थं सर्वप्राणिषु जीवनम्।

योगगम्यं दुरासादं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥२३॥

स्वं स्ववीर्यं स्वसंवेद्यं ममैव परमं पदम् ।
तद्वीर्यं सर्ववीर्याणां तद्वै बलवतां बलम् ॥२४॥
तदोजश्चौजसां सर्वं शाश्वतं ह्यचलं ध्रुवम् ।
सा ममेच्छा परा शक्तिः शक्तियुक्ता स्वभावजा ॥२५॥
वह्नेरूष्मेव विज्ञेया रश्मिरूपा रवेरिव ।
सर्वस्य जगतो वापि स्वा शक्तिः कारणात्मिका ॥२६॥
सर्वज्ञादिगुणास्तत्र व्यक्ताव्यक्ताश्च संस्थिताः ।
सैवेच्छा ज्ञानरूपा च क्रियादिगुणविस्तृता ॥२७॥
ज्ञानादिषड्गुणा ये ते तत्रस्थाः प्रभवन्ति हि ।
सा वै महाक्रियारूपा संस्थितैका क्रिया मता ॥२८॥
अणिमादिगुणानष्टौ करोति विकरोति सा ।
एवं ममेच्छा ज्ञानाख्या क्रियाख्या शक्तिरुच्यते ॥२९॥
सूर्याचन्द्रमसौ वह्निस्त्रिधामपरिकल्पना ।
त्रिनेत्रकल्पना मह्यं तदर्थमिह दृश्यते ॥३०॥
दहनाप्यायने तेन प्राकाश्यं विदधाम्यहम् ।

यन्निजमात्मीयं विशेषानुपादानात् प्रमेयप्रमाणप्रमातृरूपस्य विश्वस्य स्वं स्वरूपमात्मीयो यश्चिदात्माशेषव्यवस्थाहेतुः, स्वभावत एव शुद्धं व्यापकं स्वभित्तौ विश्वोद्भासकमपि न विश्वेनाच्छादितं दर्पणवत्, सर्वतो मुखानि प्रसरन्त्यः शक्तयो यस्य सर्वाणि च नीलसुखादिज्ञानानि

'शैवी मुखमिहोच्यते' (वि० भै० २०)

इति स्थित्या मुखानि प्राप्त्युपाया यस्य, सर्वेण च रूपेण प्रधानम् सर्वेषां स्थावरादिब्रह्मान्तानां भूतानामन्तरवस्थमहन्तारूपतया स्फुरत्, सर्वेषु प्राणिष्वभिव्यक्तप्राणादिरूपेषु जीवनम् 'प्राक संवित् प्राणे परिणता' इति स्थित्या गृहीतप्राणादिभूमिकम्, अतश्च योगेन प्राणादिप्रमातृता-प्रशमनेन गम्यम्, दुःखेनासादनीयम्—

'न चैतदप्रसन्नेन शंकरेणोपलभ्यते'

इति नीत्या शक्तिपातवतैवोपदेशगम्यम्, दुःखेन च प्राप्यते,

'कथंचिदुपलब्धेऽपि वासना न प्रजायते ।'

इत्यादिस्थित्या कैश्चिदेवापश्चिमजन्मभिरभियुक्तैः, नत्व निश्चितमतिभिः प्राप्यम्, स्वस्यात्मनश्चित्प्रकाशस्य स्वं वीर्यं विश्वनिर्मातृ विमर्शशक्त्यात्म-बलम् । यच्छ्रीकालीकुलम्—

'तस्य देवादिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी ॥'

इति । स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशं ममैवेति ममोमापतेः परममेव पदम् । एवकारो भिन्नक्रमः । विचित्राणां मन्त्रमुद्रादिसर्ववीर्याणामपि वीर्यम् । बलवतां पवनादीनां तदेव बलम् । सर्वौजसां तदेवौजः यदुक्तम्—

'शक्याशक्यपरामर्शमनपेक्ष्य प्रवर्तनम् ।
तेज इत्युदितं सद्भिः संवेदननभस्वतः ॥'

इति । तच्च सर्वं विश्वात्मकं शाश्वतमविवर्तमचलमपरिणामि ध्रुवं नित्यम् । सेति यदेवंभूतं वीर्यं मम सम्बन्धिनी परा शक्तिः, इच्छा इच्छारूपतां प्राप्ता । कीदृगिच्छा ? स्वभावजा सहजा शक्तियुक्ता गर्भीकृताशेषविश्वशक्त्यभेदविमर्शेति यावत् । उक्तं च श्रीपूर्वे—

'या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥' (मा० वि० ३/५)

इत्यादि । स्वभावजेति स्फुटयति वह्नेरूष्मेव रवेः रश्मिरूपेण चेति शक्तियुक्तेति च व्यनक्ति । सर्वस्येत्यनेन सर्वस्यापि जगतः कारणात्मिका निर्मात्री स्वा आत्मीया चिदानन्दस्वरूपसम्बन्धिनी शक्तिः, नेतु व्यतिरिक्ता । सर्वज्ञेति सर्वज्ञत्वादयो ये गुणास्तेऽपि तत्र प्रथमेच्छायां व्यक्ताव्यक्ता इत्यासूत्रितरूपाः स्थिताः । सैव इच्छेति इच्छाशक्तिरेव—

'एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ॥' (मा० वि० ३/७)

इति श्रीपूर्वोक्तनीत्या ज्ञानशक्तित्वमापाद्य—

'एवंभूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ।
जाता तदैव तत्तद्वत् कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते ॥' (मा० वि० ३/८)

इति स्थित्या क्रियाशक्तिः संपन्ना । कीदृशी ? गुणैर्विस्तृता निःशेषैः कार्यधर्मरूपैर्वैतत्यं प्राप्ता । ज्ञानादीति ये पूर्वमिच्छायामासूत्रितकल्पा उक्ताः सर्वज्ञत्वादयस्ते तत्र क्रियाशक्तौ स्थिता ईश्वरभट्टारकपदे स्फुटीभूताः प्रभवन्ति विजृम्भन्ते । ह्रीतं यत एवमेतो युक्तमुक्तं प्राग् व्यक्ताव्यक्ता इति । सैव महाक्रियेति ईश्वरभट्टारकात्मा क्रियाशक्तिरूपा सैव क्रिया विश्वनिर्माणे प्रभोः कारणरूपा एका अद्वितीया मता । सैव च अणिमादीन् करोति जनयति विकरोति स्थापयति संहरति चेत्यर्थः । एवमुक्तनीत्या मम शक्तिः स्वातन्त्र्यरूपा इच्छादित्रयात्मोच्यते । सूर्येति इच्छादिशक्तित्रय एव मध्यदक्षिणवाममार्गेषु

वह्निसूर्यसोमकल्पना अन्तर्बहिरपि चेच्छादिशक्तिस्फाररूपा एव सूर्यादयः।
यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे--

'ज्ञानशक्तिः प्रभोरेषा तपत्यादित्यविग्रहा।...
तपते चन्द्ररूपेण क्रियाशक्तिः ॥' (स्व० १०।४९८=५०२)

इत्यादि। त्रिनेत्रेति मह्यं मदाकृतिव्यक्तये त्रिनेत्रकल्पना नेत्रत्रयोन्मीलनेह दृश्यते। सापि तदर्थमिति निर्णीतधामत्रयाधिष्ठातृशक्तित्रयाभिव्यक्तये। यदुक्तं भारतेऽपि—

'तिस्रो देव्यो यदा चैनं नित्यमेवाभ्युपासते।
त्र्यम्बकस्तु तदा ज्ञेयः......॥

इति। दहनेति यत एवं परममेव धामोक्तयुक्त्या नेत्ररूपं तेन कालकामदाहजगदाप्यायप्रकाशनादि यत् करोमि तद् युक्तमेव, सर्वशक्तेश्चिद्धाम्नः किमसाध्यमस्तीति यावत्।

अत एव च—

सृष्टिं स्थितिं संहृतिं च त्रितनुर्विदधाम्यहम् ॥३१॥

तिस्रो ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तनवो यस्य सोऽहमेक एव चिन्मयः क्रमेण सृष्ट्यादि करोमि। अथ च गृहीतानाश्रितसदाशिवेश्वरमूर्तिः स्वाधाराध्वविषये सृष्ट्यादिरूपं चकाराद् विलयानुग्रहौ चेति पंचकृत्यादि अहमेवैकः करोमि न तु मद्व्यतिरिक्तास्ते केचित्। एवमीदृशं स्पष्टमक्षरार्थं परित्यज्य ये ब्रह्माद्यधिष्ठानेन भगवतः सृष्ट्यादिकर्तृत्वमाहुस्ते भ्रान्ता एव ॥३१॥

किं च—

तद्वीर्यापूरितं सर्वं मम तेजोपबृंहितम्।
इच्छाज्ञानक्रियारूपं नेत्रामृतमनुत्तमम् ॥३२॥

तेन प्रोक्तस्वातन्त्र्यशक्त्यात्मना वीर्येणापूरितं यन्मदीयं चित्प्रकाशात्मोपबृंहितं व्यापकमाप्यायादिकारि च तेजः, इच्छादिशक्तित्रयसामरस्यात्म, तद् निरूपयिष्यमाणनयनत्राणादिधर्मतया नेत्रमविनाशिपरमानन्दमयत्वाच्च अमृतम् अविद्यमानमन्यदुत्तमं यस्मात् तादृग् अनुत्तममुच्यते।

किं च—

तद्वीर्यं परमं धाम यत्परामृतरूपि च।
यत्तत्तत् परमानन्दं यदेतत् परमं पदम् ॥३३॥
तदेतन्निष्कलं ज्ञानं विशुद्धं नेत्रमुत्तमम्।

तत् प्रागुक्तस्वातन्त्र्यशक्त्यात्म वीर्यं सूर्यादिप्रकाशकत्वात् परमं धाम चिद्रूपत्वेनाविनाशित्वात् परामृतात्म च। यत्तत्त्विति ब्रह्म परमानन्दरूपम्, यदेतदिति सदा स्वप्रकाशं वाह्याभ्यन्तराशेषविश्वप्रतिष्ठास्थानत्वात् परमं प्रकृष्टं पदं धाम। तदेतदिति तच्छब्देनोक्तपरामर्शरूपिणा स्फुटमिव यत् सर्वत्र परामृष्टमभूत् तदधुना स्फुटीकृतमिति, एतच्छब्देन सह तच्छब्दः प्रत्यभिज्ञानमात्मतत्त्वविषयं दर्शयति। निष्कलं सकलकलाभ्यो निष्क्रान्तम्, निष्क्रान्ताश्च कला यतस्तादृग् विशुद्धं परमाद्वयात्म यज्ज्ञानं चित् तद् नेत्रमुच्यते, न तु प्रश्नग्रन्थशंकितावृपगोपालकरूपं नित्यानुमेयतैजसाक्षिरूपं वा ॥३३॥

यत एवमेतत्—

मृत्युजित्तेन चाख्यातं सर्वेषां मोक्षदायकम् ॥३४॥
तत्सिद्धिदं परं देवं सर्वदुःखविमोक्षदम्।

च एवार्थे। तेनेति निष्कलचिदात्मना रूपेण मृत्युजिदेतदुक्तं भाविमृत्युञ्जयप्रकारासूत्रणं चैतत्। सर्वेषां मोक्षदायकमित्यनेन नित्यकर्मदीक्षाभिषेकाधिकारा उपक्षिप्ताः। वक्ष्यति च—

'विप्रादिप्राणिनः सर्वे सर्वदोषभयार्दिताः।
येन वै स्मृतिमात्रेण मुच्यन्ते॥' (२/१६)

इति। सर्वेषामित्यनेन च वक्ष्यमाणपराद्वयव्याप्त्या सर्वस्रोतःप्रसिद्धतत्तद्देवतोपासिनां विष्ण्वादिसुगतान्ताराधिनां तुल्यैव मोक्षभूमिरित्यासूत्रितम्। तत्सिद्धिदमिति भाविसिद्ध्यधिकारोपक्षेपः। परं देवमिति द्योतनादिसतत्त्वस्वरूपसमावेशः कटाक्षितः। यद्वक्ष्यति—

'निमेषोन्मेषमात्रेण यदि चैवोपलभ्यते।
ततः प्रभृति मुक्तोऽसौ न पुनर्जन्म चाप्नुयात्॥' (८।९)

इति। अत एव परसत्तानुप्रविष्टानां देहादिप्रमातृतां विना भाविदुःखास्पर्शात् सर्वदुःखविमोक्षदम् ॥३४॥

सर्वव्याधिहरं देवं सर्वामयहरं शिवम् ॥३५॥
दारिद्र्यशमनं नित्यं मृत्युजित् सर्वतोमुखम्।

सर्वान् विविधान् आधीन् आमयांश्च ज्वरादिरोगान् षष्ठपञ्चदशाधिकारवक्ष्यमाणमन्त्रयन्त्रादिविचित्राकारैर्हरति, अतश्च शिवं श्रेयोरूपम्। दारिद्र्यशमनमित्यष्टादशाधिकारवक्ष्यमाणश्रीमहालक्ष्मीयागादिविधिरुपक्षिप्तः। नित्यं मृत्युजिदित्यनेनाष्टमाधिकार उक्तः परो मृत्युञ्जयप्रकारः कटाक्षितः सर्वतोमुखं च कृत्वा मृत्युजिदित्यनेन सप्तमाधिकारगतसूक्ष्मध्यानहेतुको मृत्युजित्प्रकारः, तथा ध्यानहोमादिजा अपि तत्प्रकाराः सूचिताः। यद्वक्ष्यति—

'यदा व्याधिभिराक्रान्तस्त्वपमृत्युगतोऽपि वा ।
तदा श्वेतोपचारेण पूज्यं क्षीरघृतेन वा ॥
तिलैः क्षीरसमिद्भिर्वा होमाच्छान्ति समश्नुते ।' (६।३७-३८)

इत्यादि ॥३५॥

अपि च—

अमोघममलं शान्तं सर्वदं सर्वमोचनम् ॥३६॥
सूर्यकोटिसहस्राणां वह्न्ययुतसहस्रशः ।
यत्तेजसा समं तस्य कलां नार्घति षोडशीम ॥३७॥
सर्वतेजोमयं यस्मात् त्वप्रधृष्यं सुरासुरैः ।
तेन नेत्राग्निना सर्वं निर्दहामि क्षणाद् ध्रुवम् ॥३८॥
तेनैवाप्यायनं भूयः प्राकाश्यं विदधामि च ।

परमानन्दात्मकपार्यन्तिकफलात्मकत्वाद् अमोघम् । सदा सर्वावस्थं द्योतमानत्वादमलम् । भेदोपशमात् शान्तं चिन्मात्ररूपम् तथापि सर्वदं विश्वनिर्मातृसर्गादिकर्तृत्वेऽप्यनुग्रहैकपरत्वात् सर्वमोचनं सर्वमायुर्बलादि ददाति । यद्वक्ष्यति—

'आयुर्बलं यशः प्रीतिर्धृतिर्मेधा वपुः श्रियः ।
सर्वं प्रवर्तते तस्य भूभृतां राज्यमुत्तमम् ॥' (६।४६)

इत्यादि । निःसंख्यसूर्यवह्न्यादीनां तेजसा समं यत् किंचित् कल्पनया कल्प्यते तदपि कल्पितत्वादेव तस्येति प्रकृतस्य महाधाम्नः षोडशीमपि कलां नार्घति सूक्ष्मतमेनाप्यंशेन न सदृशमकल्पितपरप्रमात्रेकरूपत्वात् । अप्रधृष्यमनभिभवनीम्, सर्वं निर्दहामीति महाप्रलयादौ का तु कथा कालकामयोः, ध्रुवं निश्चितं तेनैव च भूयः पुनराप्यायनं प्राकाश्यं चेति कल्पान्तान्ते सर्वविषयं करोमि, का तु कथा क्षीणधातुजन्त्वाप्यायमारुताद्यावृताक्ष्याशाप्रकाशनस्य । अनेन चैकविंशाधिकार-भाविसृष्ट्याद्युपक्षिप्तम् ॥३८॥

किं च—

तस्मात् परतरं नान्यत् किंचिद्वीर्यं प्रदृश्यते ॥३९॥
तदेवास्त्रमयं रौद्रमणुसन्तारणं परम् ।

एतदेव परमं वीर्यम् । यद्वक्ष्यति—

'मन्त्रकोट्यो ह्यनन्ताश्च व्यक्ताव्यक्ता व्यवस्थिताः ।
सर्वास्ताः सिद्धिदास्तेन आद्यन्ततुटिरोधिताः' ॥ (१४।९)

इति । अनेन चतुर्दशद्वाविंशाधिकारस्थं सर्वमन्त्रोत्तमत्वमुद्दिष्टम्, अत एव रौद्रं भेदच्छेदि अस्त्रमयं ज्ञानासिरूपं सदणूनां जीवानां परमेतत्सन्तारणम् ॥३९॥

तथा—

क्षयदं सर्वशत्रूणां शस्त्रं ह्येतत् प्रकीर्तितम् ॥४०॥
सर्वेषामेव भूतानामायुर्धत्ते तदायुधम् ।

सर्वशत्रुक्षयहेतुत्वात् शस्त्रं शसेर्हिंसार्थत्वात् । यद्वक्ष्यति—

'परराष्ट्रविभीतानां नृपाणां विजयावहम्' (१७।६)

इति । सर्वेषामिति स्थावरादीनां चतुर्दशानां भूतानामायुः प्राणान् धत्ते स्वच्छस्वतन्त्रचिदेकरूपत्वात् तच्चायुधं विशेषानुक्तेः सर्वं महावीर्यरूपत्वात् ॥४०॥

तदाह—

तदेकं बहुधा वीर्यं भेदानन्त्यविसर्पितम् ॥४१॥

भेदानन्त्येन नानावैचित्र्येण प्रसृतम् ॥४१॥

एतदेव स्फुटयति—

महापाशुपतं मह्यं विष्णोस्तच्च सुदर्शनम् ।
ब्रह्मणो ब्रह्मदण्डस्तु सर्वेषां स्वं स्वमायुधम् ॥४२॥

मह्यमिति मदर्थम्, स्पष्टं शिष्टम् ॥४२॥

यच्चैतत्—

अनेकाकाररूपेण आयुधं तदनेकधा ।
सुराणां स्वं स्वरूपेण मया वीर्यं समर्पितम् ॥४३॥

सर्वेषां देवानामनेकाकाररूपेण स्वरूपेण सह अनेकायुधं यत् तन्मया स्वं वीर्यं समर्पितं तथा तथा वैचित्र्येणाभासितमिति यावत् ॥४३॥

ननु एकः[1] शिवोऽविकारी तच्छक्तिश्चाप्यतो न तौ शक्तौ । बहुधा स्थातुं, यद्वा चैतन्यविनाकृतौ विकारित्वात् ॥' इति भेदवादिभिर्युक्तिरुपक्षिप्ता, तत् कथमेतदुच्यते—

योगशक्त्या तु योगेशे तेन व्याप्तमिदं जगत् ।

'योगोऽस्य शक्तयः स्वाक्या विस्फूर्जन्ति समन्ततः ॥'

इत्याम्नायोक्तनीत्या योगस्य वामादिशक्तीनां या शक्तिः सामर्थ्यम्, तया जगत् विश्वं तेन व्याप्तं प्रत्यंशमोतं प्रोतं तदैकात्म्येनेति यावत् । तदुक्तं शिवसूत्रेषु—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (शि० ३।३०)

---

1. नादकारिकायाः षोडशी कारिका ।

इति ॥

किं च—

भीतानां सा परा रक्षा त्रस्तानामभयं परम् ॥४४॥
शत्रुभिश्चार्दितानां तु मोक्षदं परमं ध्रुवम् ।

भीतानामित्येकोनविंशाधिकारवक्ष्यमाणतत्तच्छायादोषभूतग्रहयक्षशाकिन्या-द्युन्मुद्रितानां परा रक्षा तदधिकारवक्ष्यमाणं परमुन्मुद्रणम् । त्रस्तानां च परमभयम् । यद्वक्ष्यति—

'त्राणं करोति सर्वेषां तारणं त्रस्तचेतसाम्' (२२।११)

इति । त्रासो हृद्दहनं तीवं भयम्, शत्रुभिश्चार्दितानां च परमभयम् । यद्वक्ष्यति—

'संग्रामकाले ध्यातव्या खड्गपत्रलतास्थिता ।
जयं प्रयच्छतेऽवश्यं रिपुदर्पापहा भवेत् ॥' (१८।८६)

इत्येतन्मन्त्रराजं महालक्ष्मीमुद्दिश्य । ध्रुवं निश्चितम्, परमं मोक्षदमित्ये-तदस्य मुख्यं स्वरूपम् ॥

उपसंहरति—

किं वातिविस्तरोक्तेन पौनःपुन्येन सुन्दरि ॥४५॥
यद्यत्तीव्रतरं रौद्रं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
प्रसादं वरदं श्रेयः प्राकाश्यं तत्तदेव हि ॥४६॥
तज्ज्ञेयमप्रमेयं च ज्ञानं मन्त्रमहाबलम् ।
त्रातारं सर्वभूतानां गुप्तं गोप्यं सदा त्वया ॥४७॥
तवाद्य कथितं देवि किं भूयः परिपृच्छसि ।

तीव्रतरं झटित्यशक्यमपि घटयेत्, रौद्रं संहर्तृ, श्रीमद् महाविभूति, ऊर्जितमसामान्यबलम्, प्रसादमतिनिर्मलम्, वरदं यथाभीष्टप्रदम्, श्रेयः प्रशान्ताशेषक्लेशस्वात्मविश्रान्तिसारम्, प्रकाश एव प्राकाश्यं सूर्यसोमव-ह्न्यादिज्योतीरूपम् यद्यदिति षडध्वमध्ये यत्किंचिदस्ति तत्सर्वं तदेवेति प्रोक्तप्रकाशानन्दघनस्वरूपमित्यनेन सर्वोत्कर्षाशेषविश्वमयत्वं भगवतो नेत्रनाथस्योक्तम् । हीति यत एवं तस्मात् किं वातिविस्तरोक्तेनेति संगतिः । अनेन च वैश्वात्म्यप्रकाशनेन षोडशाधिकारदर्शयिष्यमाणस-र्वाचारसतत्त्वमुपक्षिप्तम् । तदेव च तत्त्वं विश्वोत्तमत्वाज्ज्ञातव्यं सार्वा-त्म्याच्च ज्ञातुं शक्यमर्हं च । अथ चाप्रमेयं ज्ञानमनवच्छिन्नसंविद्रूपं न तु कस्यापि प्रमाणस्य गोचरः । तदुक्तं त्रिकहृदये—

'स्वपदा स्वशिरश्छायां यथा लङ्घितुमीहते ।
पादोद्देशे शिरो न स्यात्तथेयं बैन्दवी कला ।।'

इति । प्रत्यभिज्ञायामपि—

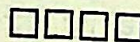
'विश्ववैचित्र्यचित्रस्य' (२।३।१५)

इति । मन्त्राणां कोटिसंख्याकानां महद्बलं परमं वीर्यम् । एतच्च चतुर्दशैकविंशद्द्वाविंशाधिकारेषु भविष्यदुपक्षिप्तम् एतच्च सर्वभूतानां त्राणेन नानानुग्रहप्रपञ्चेन तारं दीप्तम्, त्राणं त्रा तया तारं यत एवं तेनैतद्गुप्तं परं रहस्यम् । अतश्च गोप्यं रक्षणीयं शक्तिपातवतामेव प्रकाश्यं त्वया नान्येषाम् । तव चैतद्योग्याया अतितीव्रशक्तिपातेन परतत्त्वजिज्ञासावसरे कथितम् । 'किं भूयः परिपृच्छसि' इति भाविप्रमेयावकाशदानाय पाटलिकसंगत्यर्थमिति शिवम् ॥

अशेषविश्ववैश्वात्म्यसामरस्येन सुन्दरम् ।
चिदानन्दघनं श्रीमन्नेत्रमैशमुपास्महे ॥

इति श्रीनेत्रतन्त्रे

श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्य—श्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्यटीकोपेते
प्रथमः पटलः ॥१॥



द्वितीयोऽधिकारः

अष्टमूर्ति विश्वमूर्ति यदमूर्ति प्रगीयते ।
मन्त्रमूर्ति नुमो नेत्रं तच्चिन्मूर्ति महेशितुः ॥

'किं भूयः परिपृच्छसि' इत्युक्त्वा दत्तावकाशा अवगततत्त्वानुवाद-पुरःसरं जगदनुजिघृक्षया मन्त्रस्वरूपमवतितारयिषुः श्रीदेव्युवाच—

यद्येवं परमं शान्तमप्रमेयगुणालयम् ।
सर्वानुग्राहकं वीर्यं तव देव मुखाच्छ्रुतम् ॥१॥
भगवन् देवदेवेश लोकानुग्रहकारक ।
त्रियोनिजमिदं सर्वं तिर्यङ्मानुषदेवगम् ॥२॥
आधिव्याधिभयोद्विग्नं विषभूतभयार्दितम् ।
अपमृत्युशताकीर्णं ज्वरकासक्षयान्वितम् ॥३॥
भूर्भुवर्मानुषे लोके विप्रादिप्राणिनस्तथा ।
दुःखदोषशताकीर्णाः कुतस्तेषां सुखं विभो ॥४॥
युगानुरूपमानेन तेषामायुः स्वमानतः ।
जिघांसन्ति बलोपेतास्त्वत्तेजोबलबृंहिताः ॥५॥
अनेकशतशो भेदैर्व्याधिभिश्च सुपीडिताः ।
तेषामनुग्रहार्थाय कृपया प्राणिनां हितम् ॥६॥
वदोपायं जगन्नाथ मुच्यन्ते येन सर्वतः ।

आमन्त्रणानि प्राग्वत् । पूर्वाधिकारे यत्परमं वीर्यं निर्णीतं शान्तत्वादिविशिष्टं तव मुखाच्छ्रुतं यद्येवमुक्तदृशा सर्वानुग्राहकम्, तत् भगवन् विश्वानुग्राहक व्याध्याद्याकीर्णो यश्चतुर्दशविधो भूतसर्गः, ये च भूर्भुवर्मानुषे लोके विप्राद्यास्ते निःसंख्यैर्दुःखैः रागद्वेषादिदोषैश्चाकीर्णास्तेषां च युगानुसारपरिमितमप्यायुः, त्वदीयतेजोबलाभ्यां स्फीताः, अर्थात् शाकिनीभूतयक्षग्रहाद्या व्याधिभिः सह हन्तुमिच्छन्ति, ततस्तेषां सर्वेषां प्राणिनां कृपयानुग्रहं कर्तुं हितमुपायमादिश, येनैते सुष्ठु पीडिताः सर्वे मुच्यन्ते निवृत्तसर्वोपद्रवा अपवृज्यन्ते ॥६॥

ततश्च—

येन येन प्रकारेण ज्ञानयोगेन मन्त्रतः ॥७॥
यद्यत् पश्यसि देवेश तदुपायं वद स्व मे ।

हे देवेश स्व आत्मन् ज्ञानयोगमन्त्रानाश्रित्य येन येन स्थूलेन सूक्ष्मेण परेण वोपायेन तत्प्रश्नितं श्रेयो यत् पश्यसि तस्योपायं वद ॥

अत्र तन्त्रावतारकः सङ्गतिं करोति—

एवं देव्या वचः श्रुत्वा प्रहस्योवाच शंकरः ॥८॥

प्रहस्येति योगयुक्त्या कथयिष्यामि, इत्यादिष्टत्वात् परस्फुरत्ता समावेशाद्विहस्य, अथ च प्राङ्निरूपितनीत्या नादामर्शावेशादट्टहासं कृत्वा, किं तद् यदेतस्य भगवतोऽसाध्यमिति स्मितं विधाय ॥८॥

श्रीभगवानुवाच—

अतिकारुण्यमाविष्टा देवि त्वं पृच्छसीह माम् ।
न मनचिदहं पृष्टो नाख्यातं कस्यचिन्मया ॥९॥

यदिहातिकृपया त्वयाहं पृष्टस्तथा न केनचिदहं पृष्टः, अतश्च 'नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात्' इति नीत्या मयापि न कस्यचिदाख्यातम् ॥९॥

अतश्च—

सत्सु मन्त्रेषु सर्वेषु नेत्रभूतं प्रकीर्तितम् ।
ममाशये न केनापि लक्षितं तु सुदुर्लभम् ॥१०॥
तवाद्य कथयिष्यामि त्रिप्रकारं परं ध्रुवम् ।
मन्त्रयोगज्ञानगम्यं मोक्षदं सिद्धिदं वरम् ॥११॥

यत्त्वया नेत्रस्वरूपं पृष्टं सत्सु प्रधानतया विद्यमानेषु सार्धत्रिकोटिरूपेषु मन्त्रेषु मध्ये विषयेषु च नेत्रभूतम् यथा नेत्रमितरेन्द्रियमध्ये प्रधानभूतम्, सत्सु विद्यमानेषु भावेषु प्रकाशकं च प्रकीर्तितं तथैवैतत् । यद्वक्ष्यति—

'सर्वसाधारणो देवः सर्वसिद्धिफलप्रदः ।
सर्वेषामेव मन्त्राणां जीवभूतो यतः स्मृतः ॥' (१३।४४)

इति । तच्च सर्वशास्त्रोपदेशावसरे ममाशयस्थं केनापि न ज्ञातं सर्वसर्वात्मनः पराद्वयस्य सर्वशास्त्रेषु गूढोक्त्यासूत्रितस्य भेदाधिवासितैर्दुरवधारत्वात् सुष्ठु दुर्लभम् । एतन्मन्त्रयोगज्ञानगम्यत्वात् स्थूलसूक्ष्मपरोपायप्राप्यं त्रिप्रकारं ध्रुवं नित्यं भोगमोक्षफलं तव योग्याया ध्रुवं निश्चितमद्य कथयिष्यामि, इति सोपायसप्रयोजनवस्तुतत्त्वप्रतिपादनं पुनरपि विशेषतः प्रतिजानीते, अत्यन्तोपादेयत्वादस्यार्थस्य ॥११॥

तत्र—

आदौ मन्त्रमयं वक्ष्ये सिद्धित्रयसमन्वितम् ।
साङ्गं स्वमुद्रया युक्तं सर्वत्राणकरं परम् ॥१२॥

यदुपक्रान्तं परं रूपं तद्बोधस्य विमर्शसारत्वान्मन्त्रः प्रकृतं रूपं यस्य तादृक्, भाविभौमान्तरिक्षदिव्यत्वभिन्नसिद्धित्रययुक्, हृदयाद्यङ्गषट्कसहितम्, भाविपद्मामृतमुद्रया युक्तम्, सर्वत्राणकृद् विश्वानुग्रहकृत्, वक्ष्यामि; इति मन्त्रविषयैषा एतदधिकारप्रतिज्ञा ॥१२॥

किं च—

भूतयक्षग्रहोन्मादशाकिनीयोगिनीगणैः ।
भगिनीरुद्रमात्रादिडावीडामरिकादिभिः ॥१३॥

रूपिकाभिरपस्मारैः पिशाचैश्चाप्यनेकशः ।
ब्रह्मरक्षोग्रहाद्यैश्च कोटिशो यदि मुद्रिताः ॥१४॥

अपमृत्युभिराक्रान्ताः कालपाशैर्जिघांसिताः ।
राजानो राजतनया राजपत्न्यो ह्यनेकशः ॥१५॥

विप्रादिप्राणिनः सर्वे सर्वदोषभयार्दिताः ।
येन वै स्मृतिमात्रेण मुच्यन्ते तद्ब्रवीमि ते ॥१६॥

भूतादिभिर्यदि मुद्रिताः समापन्नापमृत्यवश्च कालपाशैर्हन्तुमिष्टाः प्राप्तमृत्यवो राजाद्याः प्रजापालकाः, तत्पाल्या विप्राद्याः, सर्वेभ्यो दोषेभ्यो व्याध्यादिभ्यो यद्भयं तेनार्दिताः, यत्स्मृतेरेव मुच्यन्ते तन्मन्त्रस्वरूपं ते वच्मि, इति संगतिः । भूता शून्यकूपैकवृक्षचत्वरादिस्थानस्थाः । यक्षाः बलिनः सत्त्वविशेषाः । ग्रहा बालग्रहरतिग्रहाद्याः । असंबद्धप्रलाप्यनिमित्तक्रोधकामादिचित्रचित्तवृत्तिदर्शी उन्मादः । रूपपरिवृत्त्यर्थं पशुशोणिताद्याकर्षिणी शाकिनी । पीठजा देव्यो योगिन्यः । ब्राह्म्याद्यंशकोत्था भगिन्यः । ब्राह्म्याद्यास्तु रुद्रमातरः । डाव्यो डामरिकाश्च श्रीसर्ववीरे—

'परचित्तगतं ज्ञानं रूपस्य परिवर्तनम् ।
करोत्यमृतलुब्धा च ज्ञेया सा रुद्रडाकिनी ॥

इत्युपक्रम्य—

डाव्यश्चैवंविधा ज्ञेया गुप्ताचारार्चने रताः ।
स्वादयन्ति न तु घ्नन्ति च्छिद्रान्वेषणतत्पराः ॥
डामर्यस्त्वपरा ज्ञेया मन्त्रतद्गतचेतसः ।
परामृतं समश्नन्ति मानुषं वाहयन्ति च ॥
पर्यटन्त्यखिलां पृथ्वीं रूपं कुर्वन्त्यनेकधा ।'

इति लक्षिताः । हिंसिका रूपिकाः । आकस्मिकपतननैःसंज्ञफेणमोकादिकृदपस्मारः । श्मशानादिवासिन उल्कामुखाः पिशाचाः । ब्रह्मरक्षांसि राक्षसः

विशेषाः । ग्रहा अनिष्टराशिगता भौमाद्याः । वितत्य चैतत्स्वरूपमग्रे दर्शयिष्यामः ॥१६॥

अथ मन्त्रोद्धारे इतिकर्तव्यतामाह—

भूप्रदेशे समे शुद्धे चन्दनागुरुचर्चिते ।
कर्पूरामोदगन्धाढ्ये कुङ्कुमामोदसेविते ॥१७॥
आचार्यस्तु प्रसन्नात्मा चन्दनागुरुचर्चितः ।
उष्णीषाद्यैराभरणैर्भूषितैः सुमहामतिः ॥१८॥
पद्ममष्टदलं कृत्वा मातृकां तत्र चालिखेत् ।

शुद्धे अमिश्रवर्णे । चन्दनेति चन्दनादिना आधारशक्तितया पूजिते इत्यर्थः । प्रसन्नः शिवसमावेशप्राप्तनैर्मल्य आत्मा यस्य । चन्दनेति कृतनित्यानुष्ठानः । सुष्ठु महामतिर्मातृकासतत्त्वज्ञः, अज्ञाता माता मातृका अशेषमन्त्रादिजननी ॥१८॥

कथमित्याह—

त्रितनुं मध्यतो न्यस्य वर्गान् प्रागादितो लिखेत् ॥१९॥

त्रितनुमोंकारम्, मध्यतः कर्णिकायाम्, वर्गान् कचटतपयशाद्यान् क्रमेण प्राच्याद्यैशान्यन्तम् ॥

इत्थं लिखित्वा पाठक्रमेणैव—

पूजयेत् परया भक्त्या पुष्पधूपादिविस्तरैः ।
मन्त्राणां मातरं देवि प्रोद्धरेन्मन्त्रदेवताम् ॥२०॥

प्रोद्धरेदिति पूजानन्तरमित्यर्थः ॥२०॥

उद्धारमाह—

विश्वाद्यं विश्वरूपान्तं विश्वमहामृतकन्दलम् ।
ज्योतिर्ध्वनिः पराशक्तिः शिव एकत्र संस्थितः ॥२१॥

विश्वाद्यं प्राथमिकवर्णम्, विश्वरूपाया मायाया ईकारस्यान्तमन्तगमुवर्णम्, विश्वहा कालस्तद्वाची मकारः । अथ च विश्वस्याद्यः स्रष्टा ब्रह्मा तद्वाचित्वाद-वर्णम्, तथा विश्वरूपस्य विष्णोरन्तो निश्चयो यस्य तदुवर्णम्, विश्वसंहर्ता रुद्रस्तद्वाचित्वान्मकारोऽपि तथेति वाच्यानुसार्यप्युद्धारः । अमृतमशेषविश्ववेद्याभेद-वेदनात्मा विन्दुः, कन्दलमर्धचन्द्रः, ज्योतिर्निरोधिका स्पष्टरेखात्मा, ध्वनिः सर्ववाचकाभेदविमर्शात्मा नादो हकलारूपः, पराशक्तिर्विन्दुद्वयमध्यगा स्पष्टरेखा । अत्र नादेन नादान्तः स्वीकृतः, पराशक्त्याप्यधरवर्त्यपरादिशक्तिरूपाः शक्ति-व्यापिनीसमनाशक्तयोऽन्तःकृताः । शिव उक्तविश्वाभेदविमर्शात्मा परनादरूपतया सर्वोपरि दर्शनीयः, इति धूलिभेदक्रमः ।

'ब्रह्मोपेन्द्रहराण्डवाच्यउमवागैक्यप्रथा नादभू-
म्यारोहाय गलत्स्ववेद्यशशभृल्लेखानिरोधान्तगा।
नादज्ञातृतलोर्ध्वयोर्विगलिते वेद्ये स्फुटान्तर्ध्वनि-
स्पर्शव्याप्तिपदा तदात्तमनना तत्त्वोन्मना तां स्तुमः ॥'

इति हृद्बिन्दुक्रमः। एकत्र संस्थित इत्युक्तितः पदार्थजातस्यैकप्रणवात्मता दर्शिता ॥२१॥

अस्य माहात्म्यमाह—

अनेन ग्रथितं सर्वं सूत्रे मणिगणा इव।
अस्मान्मन्त्राः समुत्पन्नाः सप्तकोट्योऽधिकारिणः ॥२२॥

ग्रथितमुम्भितं व्याप्तमिति यावत्। सप्तकोट्यो मन्त्रा इति प्रथमसर्गे तावतामेवाधिकारोऽभूत्। अनन्तरं तु—

'जातमात्रे जगत्यथ।'

मन्त्राणां कोटयस्तिस्रः सार्धाः शिवनियोजिताः।
अनुगृह्याणुसंघातं याताः पदमनामयम् ॥' (१।४०-४१)

इति श्रीपूर्वेऽभिधानादर्धचतस्रः कोट्योऽधिकृताः ॥२२॥

द्वितीयबीजमुद्धरति—

चित्रभानुपदान्तं तु शशाङ्कशकलोदरम्।
तदङ्कुशोर्ध्वविन्यस्तं तिर्यग्गान्तोर्ध्वयोजितम् ॥२३॥

चित्रभानुपदं पाद्ममाग्नेयपत्रं तदन्तस्थं कवर्गसंबन्धि ङवर्णं, तच्च शशाङ्कशकलमर्धचन्द्र उदरे मध्ये यस्य तादृक्, एवमुद्धारानुसारमग्नीषोमात्म जवर्णं जातम्। तदङ्कुशस्योकारस्य ऊर्ध्वे ति उपरि विन्यस्तं कार्यम्। तथा तिर्यग्गो वायुस्तत्पत्रे योऽन्तः पवर्गापेक्षया मकारस्तेन ऊर्ध्वयोजितं बिन्दुरूप-योजना यस्य। अत्र च बिन्दुरर्धचन्द्रादिप्रमेयासूत्रणपरः ॥२३॥

अस्य माहात्म्यमाह—

एतत्तत्परमं धाम एतत्तत्परमामृतम्।

चिदानन्दघनमित्यर्थः ॥

तृतीयमुद्धरति—

यत्तत्परममुद्दिष्टममृतं लोकविश्रुतम् ॥२४॥
पीयूषकलया युक्तं पूर्णचन्द्रप्रभोपमम्।

यत्तदिति स्वसंवेद्यं सम्यक् स्वरूपस्फुरत्तया समावेशसुखसद्भावावमर्शित्वात् परममुद्दिष्टम्, अमृतं लोकविश्रुतमित्यमृतबीजतया लोके प्रसिद्धं सकारात्मकम्

पीयूषकला अमाख्या षोडशी परा विमर्शशक्तिस्तया युक्तं विश्वसत्तायाः परामृतमयत्वापादनात् पूर्णचन्द्रप्रभातुल्यम् ॥

यत्तत्परममुद्दिष्टमित्युक्त्या तृतीयबीजमाहात्म्यस्योक्तत्वात् समस्तमन्त्रनाथस्य माहात्म्यमाह—

एतत्तत्परमं धाम एतत्तत्परमं पदम् ॥२५॥
एतत्तत्परमं वीर्यमेतत्तत्परमामृतम् ।
तेजसां परमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम् ॥२६॥
सर्वस्य जगतो देवमीश्वरं कारणं परम् ।
स्रष्टा धर्ता च संहर्ता नास्त्यस्य सदृशो बली ॥२७॥
मन्त्राणामालयो ह्येष सर्वसिद्धिगुणास्पदम् ।

तदेतच्छब्दौ स्वरूपप्रत्यभिज्ञापनाय । परममनुत्तरं धाम चित्प्रकाशः, पदं विश्रान्तिभूमिः, वीर्यं सामर्थ्यम्, अमृतमानन्दः, तेजसां कालाग्न्यादिदीप्तीनाम्, ज्योतिषां सूर्येन्दुध्रुवादीनाम्, सर्वस्येति षडध्वरूपस्य जगतो देवं द्योतमानम् उपादानाद्यनपेक्षि परं कारणं स्वचिद्भित्तौ स्वानतिरिक्तस्यातिरिक्तस्येव विश्वस्य भासकम्, अतश्च बली शक्तः, अस्य सदृशो न कश्चित् सर्गादिपञ्चकृत्यकृदस्ति, अस्यैव स्वच्छस्वतन्त्रचिदेकघनत्वात्, सदाशिवादीनां त्वेतदाभासितानामेतदैश्वर्यविप्रुट्प्रोक्षणेनैतदिच्छयैव सृष्ट्यादिकारित्वात् । वक्ष्यति चैतत्—

'शक्त्या तु भगवान् सर्वं करोति हि विभुत्वतः ।
निमित्तकारणं देवो यथा सूर्यमणेः क्रिया ॥
उपादानं तु सा शक्तिः संक्षुब्धा समवायतः ।' (२१।५०-५१)

इति । एतच्च तत्रैव व्याख्यास्यामः । मन्त्राणामालय इति सर्वेषां चिदानन्दात्मवीर्यसारत्वात्, सर्वासां साधकाभीष्टसिद्धीनां गुणानां च सर्वज्ञत्वादीनामास्पदमाश्रयः ॥

अथ—

अधुनाङ्गानि वक्ष्यामि संनद्धो यैस्तु सिद्ध्यति ॥२८॥

अङ्गानि हृदयादीनि, संनद्ध इति नित्यनैमित्तिकादौ कृतपरिग्रहः, सिद्ध्यति भुक्तिं मुक्तिं च लभते साधकादिः, आचार्यस्तु वितरति पुत्रकादेरित्यर्थात् । अनेन च भाविनित्यादिकर्मोपक्षिपता पाटलिकी संगतिर्दर्शिता ॥२८॥

तत्र—

कृतान्तमध्यमं वर्णं स्वरराट्पञ्चमानुगम् ।
प्रभञ्जनान्तशिरसं हृदयं सर्वसिद्धिदम् ॥२९॥

कृतान्तस्य याम्यदलस्थस्य चवर्गस्य मध्यमं वर्णं ज, स्वरराट् इन्द्र; तत्पत्रस्थस्यावर्गस्य पञ्चम उकारोऽनुगोऽधोगतो यस्य, प्रभञ्जनान्तो मकारो बिन्दुरूपः

शिरसि यस्येति मान्त्रं द्वितीयं वीजमेवैतत् हृदयं निर्णीतम्, महामाहात्म्ययोगात् सर्वाः सिद्धीर्ददाति ॥२९॥

शिरोमन्त्रमाह—

सोमान्तमनलाद्येन युक्तं प्रणवयोजितम् ।
एतच्छिरः

सोमदिग्दलगयवर्गान्तं ववर्णम्, अनलस्याग्नेयवर्णस्य रेफस्याद्येन वर्णेन यकारेण युक्तम्, प्रणवेन मिश्रीकृतम् । एवं व-य-ओमेतन्त्रयैकीकारात् शिरः शिरोमन्त्रोऽयम् ॥

अथ—

अनिलान्तेन युक्ता माया शिखा स्मृता ॥३०॥

माया ई, अनिलान्तेन प्राग्वद्बिन्दुना, शिखा स्मृतेत्यविच्छिन्नेन पारम्पर्येण ॥३०॥

कवचमाह—

ईशान्तमीश्वरोर्ध्वं च द्वादशार्धोर्ध्वयोजितम् ।
शिवशक्त्याथ नादेन युक्तं तद्वर्म चोत्तमम् ॥३१॥

ईशदिग्दलगशवर्गान्तं हवर्णं क्षस्य कूटाक्षरत्वेन पृथक्त्वात्, यदि वा ईश ईशानवक्त्रवाची क्षोऽन्ते यस्येति, तदेव ईश्वर ईश्वरभट्टारकवाची बिन्दुरूर्ध्वे शिरसि यस्य । द्वादशानामर्धस्य षष्ठवीजस्योकारस्योर्ध्वे योजितम, शिवशक्त्येत्यनेनोर्ध्वगसर्वमान्त्रप्रमेयमुक्तम्, वर्म कवचम् ॥३१॥

नेत्रमाह—

सभैरवाद्यं प्रणवं सदागतिशिरःस्थितम् ।
नेत्रमन्त्रो महोग्रश्च सर्वकिल्विषनाशनः ॥३२॥

भैरवो झाङ्कारभैरववाचको झकारस्तस्याद्यं ज, सह भैरवस्याद्येन वर्तते यत्प्रणवरूपं तद्वायुवर्णस्य यकारस्य शिरसि उपरि स्थितमिति त्रितयैकीकारात्मकम्, महोग्र इति शाक्तमरुद्वेजितभैरववह्निप्लुष्टाशेषभेदत्वात् तत एव सर्वपापदाही । चकारः परविश्रान्तिप्रदत्वं समुच्चिनोति ॥३२॥

अस्त्रमाह—

अजीवकटसंयुक्तमस्त्रमेतत् प्रकीर्तितम् ।

न विद्यते जीवो यस्मात् सोऽयमजीवकः फकारः संहारवर्णः, स चासौ अजीवकेनाप्राणेनानच्केन टकारेण सम्यक् संहारसारेण युक्तः । अजीवकशब्दो द्विरावर्त्यः ॥

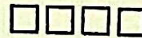
उपसंहरति—

अङ्गषट्कं समाख्यातं मन्त्रराजस्य सिद्धिदम् ॥३३॥

सम्यग् वीर्यसारमाख्यातम्, सिद्धिदमित्याराधकानामर्थात्, अनेनाधिकारान्तरसंगतिः सूचितेति शिवम् ॥३३॥

सर्वज्ञतादिगुणषट्कमयाङ्गसङ्गि-
संपूर्णसुन्दरचिदेकघनप्रकाशम् ।
निःशेषपञ्चविधकृत्यकृदीशनेत्र-
मन्त्रं नुमो निखिलमन्त्रमहेशमेकम् ॥

इति श्रीक्षेमराजविरचिते श्रीनेत्रोद्द्योते मन्त्रोद्धारो द्वितीयोऽधिकारः ॥२॥



तृतीयोऽधिकारः

प्रवर्तन्ते यदुद्द्योते नित्यकर्म महात्मनाम् ।
अशेषक्लेशनुन्नेत्रं नुमस्तन्नीललोहितम् ॥

सिद्धिदमित्युक्तेरितिकर्तव्यतापूरणेन प्रमाणीकाराय नित्यकर्म प्रकाशयितुं श्रीभगवानुवाच—

अधुना यजनं वक्ष्ये येन सिद्ध्यति मन्त्रराट् ।

अधुनेत्याराध्यमन्त्रस्वरूपे प्रकाशिते । यजनमन्तर्बहिर्यागम् । सिद्ध्यति भुक्तिमुक्तिप्रदो भवति ॥

तत्रास्नातस्य यागेऽनधिकारात्—

आदौ स्नानं प्रकुर्वीत सर्वकिल्विषनाशनम् ॥१॥

कथमित्याह—

अस्त्रमन्त्रेण देवेशि मृदमुद्धृत्य मन्त्रवित् ।
शौचं यथोचितं कृत्वा पश्चात् स्नानं समारभेत् ॥२॥

स्मृतिशास्त्रोक्तनीत्या शारीरं शौचं कृत्वास्त्रमन्त्रेण मृदमुद्धृत्य स्नानमारभेतेति संगतिः ॥२॥

तत्रादौ संहारक्रमेण—

पादौ जङ्घे कटिं चोरू पूर्वं मृद्भिस्त्रिभिस्त्रिभिः ।

प्रक्षाल्येति शेषः, त्रिभिरिति लिङ्गव्यत्ययात् । एवमन्यदपि मन्तव्यम् ॥

किमव्यवधानेनेत्याह—

त्रिरन्तरितयोगेन

त्रीन् वारानन्तरितो योगः करक्षालनसंबन्धस्तेन पादौ प्रक्षाल्य हस्तौ प्रक्षालयेत् । ततो जङ्घे ततो हस्तौ, तत ऊरू ततो हस्तौ, ततः कटिरित्येषोऽत्रार्थः ॥

एवं कृत्वा—

सप्तभिः शुद्ध्यते पुनः ॥३॥

करक्षालनाय गृहीताभिर्मृद्भिरित्यर्थात् ॥३॥

अथ—

सप्ताभिमन्त्रितां कृत्वा मृदमस्त्रेण मन्त्रवित् ।
प्रताप्यार्कमुखां पश्चाच्छरीरमनुलेपयेत् ॥४॥

मन्त्रविदिति उक्तपापदाह्यस्त्रवीर्यवित्, अर्कमुखां दर्शितादित्यां तदृष्टौ प्राणार्कस्पृष्टाम्, निजविवक्षितं चैतदनुलेपनम् ॥४॥

विघ्नोपशमनार्थं तु

अम्भसा

आक्षाल्य देहमाचमेत् ।

पुर्यष्टकशुचयर्थं प्रणवेन त्रिराचमनं द्वि, सृक्विमार्जनं द्वारस्पर्शश्चेति ॥

आचमनार्थं मलस्नानमुक्त्वा विधिस्नानमाह—

वामहस्ततले भागान् मृत्स्नायास्त्रींस्तु कारयेत् ॥५॥

प्रशस्ता मृत् मृत्स्ना, त्रीन् भागानिति श्रीस्वच्छन्दादिष्टनीत्याऽग्र सव्यापसव्यगतान् ॥५॥

तत्र—

अस्त्रजप्तं क्षिपेद्दिक्षु

अग्रस्थितं भागम् ॥

मूलं तीर्थे प्रकल्पयेत् ।

मूलमन्त्रजप्तवामभागेन शिवतीर्थं कल्पयेदित्यर्थः ॥

अङ्गैः शरीरमालभ्य क्षाल्य चान्तर्जलं जपेत् ॥६॥

अङ्गैरित्यङ्गषट्कजप्तदक्षिणभागमृदा इत्यर्थः । जलस्यान्तः अन्तर्जलम् ॥६॥

किं जपेत्कियच्चेत्याह—

मूलं शक्त्या

यथाशक्ति मूलमन्त्रं जपेत् ॥

अथ—

समुत्तीर्य सन्ध्यां वन्देत च क्रमात् ।

श्रीस्वच्छन्दादिष्टनीत्या कलशमुद्रया शिरोऽभिषिच्य जलादुत्तीर्य वामकरगताम्बुविप्रुषां दक्षिणकरशाखाभिरस्त्रमन्त्रेणाधःक्षेपः, मूलहृदादिभिस्तु उपरीत्यादि सन्ध्यावन्दनम् ॥

किं च

शिखां बद्ध्वा शिखां स्मृत्वा मन्त्राणां तर्पणं ततः ॥७॥

शिखामन्त्रं स्मृत्वा, शिखाग्रन्थिं बद्ध्वा अथ च शिखां मध्यशक्तिं बद्ध्वा तत्र स्थित्वा तद्वीर्यसाराणां मन्त्राणां तर्पणं कुर्यात् ॥७॥

अथ—

देवान् पितॄनृषींश्चैव मनुजान् भूतसंयुतान् ।
संतर्प्य तीर्थं संगृह्य यागौको विधिना विशेत् ॥८॥

सर्वमन्त्रान् संतर्प्य, शिवतीर्थं मन्त्रग्रहणेन भावनया स्वात्मलीनं कृत्वा, यागगृहं भाविविधिना विशेत् ॥८॥

तं विधिमाह—

आशामातृगणं लक्ष्मीं नन्दिगङ्गे च पूजयेत् ।
महाकालं तु यमुनां देहलीं पूजयेत्ततः ॥९॥

बहिर्दिङ्मातॄः, द्वारोर्ध्वे गणपतिलक्ष्म्यौ, पार्श्वद्वये नन्दिगङ्गे महाकालयमुने, वामे देहलीं प्रणवचतुर्थीनमःशब्दयोगेन पूजयेत् । अस्य नयस्य सर्वंसहत्वात् सिद्धान्तदृशा नन्दिगङ्गे दक्षिणे पूज्ये, महाकालयमुने वामे । वामस्रोतस्येवं मेषास्यच्छागास्यौ तु अधिकौ दक्षिणवामयोः । भैरवस्रोतसि संहारप्रधानत्वाद् दक्षिणे महाकालयमुने वामे नन्दिगङ्गे । षडर्धे तु दण्डिमहोदरौ अधिकौ ॥९॥

अथ सप्तवारास्त्रजप्तं दीप्तं कुसुमं नाराचास्त्रप्रयोगेनान्तः क्षिप्त्वा—

विघ्नप्रोच्चाटनं कृत्वा दिग्बन्धं कवचास्त्रतः ।

पातालादिगतान् विघ्नान् पार्ष्ण्याघातोच्चारतालादिशब्दैरस्त्रेणोच्चाट्य, कवचेनोच्चाटितविघ्नाननुप्रवेशाय दिशो बध्नीयात् ॥

ततोऽपि—

स्वासनार्थं प्रकल्प्याथ शक्तिमाधारिकां शुभाम् ॥१०॥
उपविश्य ततः कुर्यात् प्राणायाममनुक्रमात् ।

स्वस्य चिदात्मन आसनार्थं विश्वाध्वनः समन्ताद्धारणादाधाररूपां शुभां पारमेशीं क्रियाशक्तिम् 'ओं आधारशक्तये नमः' इति कल्पयित्वा, उपविश्येति तदाश्रयमात्मानं कृत्वा प्रायत्निकरेचनपूरणकुम्भनक्रमेण आत्मनो द्वादशान्तस्थशाक्तबलस्पर्शाय देहस्य दाहार्थं वैचित्र्यमुत्पादयितुं प्राणायामं कुर्यात् ॥१०॥

अथादौ करशुद्धिन्यासं कृत्वा—

धारणामारभेतात्र युगपच्छोषणादिभिः ॥११॥
षाट्कोशिकं तु मलिनं निर्दग्धं तत्र भावयेत् ।

पीतचतुरस्रात्मवज्र-ल—लाञ्छितभूधारणां दार्ढ्यं च सितार्धचन्द्रात्मपद्म-व-लाञ्छिताप्यधारणां पुष्टिं च देहे विचिन्त्य, षड्बिन्दु-य-लाञ्छित-

कृष्णावृत्त्यात्मवायव्यधारणया सह शोषमस्य ध्यायेत् इत्याद्यस्यार्थः। एवं कृते सति त्वङ्मांसासृङ्मज्जास्थिशुक्ररूपत्वाद् मलिनं देहं पादाङ्गुष्ठोत्थकालाग्निना लोहितत्रिकोणात्मशक्ति-र-लाञ्छिताग्नेयधारणाचिन्तनतोऽहंभावप्रशमाय दग्धं भावयेत् ॥११॥

अथ—

विज्ञानं केवलं तत्र शून्यं सर्वगतं स्मरेत् ॥१२॥

तत्र देहे चिन्तिते ज्ञेयशून्यत्वाद् व्यापि चिन्मात्रं स्मरेत् ॥१२॥

एवं ध्यानात्—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते ।
आनन्दपदसंलीनं मनः समरसीगतम् ॥१३॥

नाहमिति मितः प्रमाता, अन्य इति नीलादिर्बाह्योऽर्थः, ध्येयमित्यान्तरोल्लेखात्म न किंचिदत्रावसरेऽस्ति, इति कृत्वाऽणुताप्रशान्तौ शाक्तस्फारावेशादानन्दपदसंलीनं सन्मनः समरसीगतं चिन्मात्ररूपं जातम् ॥१३॥

एवमात्ममूर्तिन्यासादनन्तरं सकलनिष्कलैकात्ममन्त्रमूर्तिन्यासमुचितासनन्यासपूर्वमाह—

पश्चादाधारशक्तिस्थं स्वासनं परिभावयेत् ।
धात्रीं पयोऽर्णवं पद्मं चन्द्रबिम्बावभासितम् ॥१४॥
पश्चात् कालकलापोत्थपीयूषेण तु सेचयेत् ।
मूर्तिभूतं त्रितत्त्वं च मूलेनैव प्रकल्पयेत् ॥१५॥

पश्चादिति देहशुद्ध्याद्यनन्तरम्। धात्र्यमृतार्णवपद्मानि क्रमेण पृथ्व्यप्तेजस्तत्त्वव्याप्त्या, तच्च आकाशश्लिष्टमित्याधारशक्त्यन्तः

'पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।
पञ्चैतानि तु तत्त्वानि यैर्व्याप्तमखिलं जगत् ॥' (आलेख ८।१-२)

इति स्थित्या स्वीकृताशेषाध्वप्रपञ्चं तत्त्वपञ्चकमेतत्प्रणवेन स्वस्यात्मन आसनं न्यसेत्। तत्रोपरि निवृत्त्याद्यष्टत्रिंशत्कलाकल्पितभाविध्यानोचितदेहमात्मादितत्त्वत्रयसारसकलमूर्तिं देवं मूलमन्त्रेण परमानन्दात्मकामृतरूपविमलव्याप्तिसतत्त्वेन सिञ्चेत् प्रकृष्टतया कल्पयेत् ॥१५॥

ततोऽङ्गानि कराभ्यां च शरीरे कल्पयेत् पुनः ।

पुनरिति निष्कलात्मनि सर्वज्ञत्वादिधर्मरूपाणि षडङ्गानि विकसज्ज्ञानक्रियात्मकशक्तिद्वयामर्शनेन नैष्कलात्म्योन्मज्जनाय कल्पयेदिति विशेषोऽत्राभिप्रेतः।

मान्त्रं चैवाभिमानं तु चिन्तयेद्ध्यानयोगतः ॥१६॥

व्याख्यातव्याख्यास्यमानवीर्यसारमान्त्रविमर्शमाविशेदैकाग्र्येण ॥१६॥

अथ सन्निधानायाह—

मुद्रां चैवामृतां वद्ध्वा पद्ममुद्रामथापि वा ।
ध्यायेदात्मनि देवेशं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ॥१७॥
स्वच्छमुक्ताफलप्रख्यं स्फटिकाद्रिसमप्रभम् ।
कुन्देन्दुगोक्षीरनिभं हिमाद्रिसदृशं विभुम् ॥१८॥
शुभ्रहारेन्दुकन्दादिसितभूषणभूषितम् ।
सितचन्दनलिप्ताङ्गं कर्पूरक्षोदधूसरम् ॥१९॥
स्फुरच्चन्द्रामृतस्फारवहुलोर्मिपरिप्लुतम् ।
सोममण्डलमध्यस्थमेकवक्त्रं त्रिलोचनम् ॥२०॥
सितपद्मोपविष्टं तु वद्धपद्मासनस्थितम् ।
चतुर्भुजं विशालाक्षं वरदाभयपाणिकम् ॥२१॥
पूर्णचन्द्रनिभं शुभ्रममृतेनैव पूरितम् ।
कलशं धारयन्तं हि जगदाप्यायकारकम् ॥२२॥
परिपूर्णं तथा चन्द्रं वामहस्तेऽस्य चिन्तयेत् ।

उद्यताङ्गुष्ठसव्योपरिसंश्लिष्टतिर्यक्कनिष्ठाङ्गुलिवामसंनिवेशादमृताममृतकलशमुद्रां परामृतपूर्णतातिशयात्, उक्तमन्यत्र—

'सृतवामकरस्योर्ध्वे दक्षिणं श्लथमुष्टिवत्
कृत्वोर्ध्वाङ्गुष्ठकं हस्तमाहुर्मुद्रां च कालशीम् ॥'

संश्लिष्टाङ्गुष्ठमुकुलीकृतस्फारितकरद्वयां पद्ममुद्रां वा अशेषविश्वस्फारणस्वस्वरूपाभिप्रायां वद्ध्वा आत्मनि स्वस्वरूपे देवेशं ध्यायेदित्यनुपाधिचिज्ज्योतिरेव स्वच्छस्वच्छन्दमहिम्ना स्वभित्त्याभासिताशेषविश्वाह्लादिमुदिततमाकृतिशुभ्राच्छकल्पमात्मनो रूपं चिन्तयेत्। स्फुरच्चन्द्रेति चन्द्रोऽत्र करस्थः। एकवक्त्रं निःसामान्यस्वतन्त्रशक्तियोगात्। तन्माहात्म्यभासितेच्छादिशक्तित्रययोगात् त्रिनेत्रम्। सितपद्मं शक्तिकमलं तस्याक्रमणं पद्मासनवन्धात् शान्त्यतीताभिन्नस्य देवस्य शान्तादिशक्तिस्फारणातिशयात् चतुर्भुजत्वम्, विश्वप्रकाशकत्वाकूताद्विशालाक्षत्वम्। सिद्धिदानसर्वभयोन्मूलनज्ञानक्रियात्मकस्वस्वरूपोन्मेषकत्वाभिव्यक्तये रदाभयामृतकलशपूर्णेन्दुकरता ॥२२॥

एवमाकृतितो ध्यात्वा—

सर्वश्वेतोपचारेण पूजितं तमनुस्मरेत् ॥२३॥

उपचर्यतेऽनेनेत्युपचारः कुसुमनैवेद्यादि ॥२३॥

तदित्थम्—

बहुनात्र किमुक्तेन

अयं हि देवः परमानन्दनिर्भरत्वात्

साक्षादमृतसागरः ।

युक्तं चैतत् ॥

यतः—

अस्मादेवं समुत्पन्नममृतं विश्वजीवनम् ॥२४॥

उत्पन्नं समुल्लसितममृतं परंशाक्तं वीर्यम् ॥२४॥

अनुग्राह्यानुग्रहाय अयं देवः केन नाम न रूपेण स्फुरति, इत्याशयेनाह—

अथ चिन्तामणिप्रख्यं भावभेदेन संस्मरेत् ।

भावस्य रागादिकलुषस्याशयस्य भेदेन दलनेन ॥

तं च—

सौम्यं रौद्रं तथा भीमं विकृतं भावभेदतः ॥२५॥
सदाशिवं तुम्बुरुं च भैरवं वीरनायकम् ।

वीरनायकं कुलेश्वरं, भावस्य साधकाशयस्य भेदाद्वैचित्र्याद् आभासितानुग्राहिचित्राकृतिमित्यर्थः, यदाहुः—

'येन येन हि रूपेण साधकः संस्मरेत्सदा ।
तस्य तन्मयतां याति चिन्तामणिरिवेश्वरः ॥'

कृपालुत्वात् ॥२५॥

एवं ध्यात्वा यजेद्देवं मानसैः कुसुमैः शुभैः ॥२६॥
हृत्पद्मे सर्वसिद्ध्यर्थं

मानसैस्तत्तत्सिद्ध्युचितैः ॥२६॥

एवं साधकविषयमुक्त्वा सामान्येनाह—

पश्चाद्बाह्ये प्रपूजयेत् ।

मानसार्चानन्तरं मन्त्रचक्रार्चितार्घपात्रविप्रुट्प्रक्षालितकुसुमादिभिः प्रकृष्टं पूजनं भवतीति कृत्वादौ मानसं कार्यम् ॥

किं च—

मानसैः कुसुमैर्यार्चा सात्त्विकी सा स्थिरा मता ॥२७॥
अनिर्माल्या परा शुद्धा मोक्षदा सिद्धिदा शुभा ।

अत्र सर्वस्य प्रातीतिकेन चिदात्मत्वेन ब्रह्मार्पणदृष्टेरनिमेषात् ॥२७॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मानसं यजनं ध्रुवम् ॥२८॥
आदावेव प्रकर्तव्यं

ततो गुरुपङ्क्तिं पूजयित्वा, ततो लब्धानुज्ञः शिवताव्यक्तये सर्वैरेव—

पश्चाद्द्रव्यैस्तु विस्तरैः।
स्वगृहे देवतागारे संगमे गिरिमूर्धनि ॥२९॥
सुप्रशस्ते तु भूभागे पद्मषण्डे सुशोभने।

यजनं प्रकर्तव्यमिति संगतिः, भूभागे इति सर्वत्र संबध्यते ॥२९॥

तत्रादौ—

आलिखेन्मण्डलं चित्रं सितरेखोपशोभितम् ॥३०॥
चतुर्द्वारं चतुष्कोणं सुसमं तु मनोरमम्।
शोभोपशोभासंपन्नं तन्मध्ये शशिमण्डलम् ॥३१॥
संपूर्णचन्द्रसदृशं रश्मिमालावलीयुतम्।
तन्मध्येऽष्टदलं पद्मं सुसितं चन्द्रसन्निभम् ॥३२॥
विचित्रकेसरोपेतं हेमकर्णिकमुत्तमम्।

मण्डलस्य विधानं श्रीयागेऽग्रे भविष्यतीति नेह तद्वितानितम् ॥३२॥

अथ—

तन्मध्ये देवदेवेशं स्वस्थानादवतारयेत् ॥३३॥

स्वस्थानादित्यन्तर्यागभुवः चिद्धाम्नः, अवतारयेद् अनुग्रहाय बाह्यमूर्त्याभासात्मतयावतरन्तं विमृशेत् सृष्टिक्रमेण च बहिर्न्यसेत् ॥३३॥

उत्तानौ तु करौ कृत्वा अङ्गुष्ठौ तत्र मध्यगौ।

आवाहनीत्यावाहनमुद्रया ॥

आवाहयेत्ततो देवं त्रिदेहपरिकल्पितम् ॥३४॥

आ समन्ताद् वाहयेत् बहिरप्यनुग्रहाय आश्रितमूर्तौ चिन्तयेत्। त्रिदेहेति चिन्मात्रतया अन्तर्यागख्यातेन बहिस्त्वेन च रूपेण त्रिभिर्यथोत्तरं व्याप्यव्यापकतया स्थितैः परसूक्ष्मस्थूलैर्निष्कलादिसारैर्देहैः परिकल्पितमनुत्तरैकरूपमपि—

'स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः।
प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥' (ई० प्र० १।५।१६)

इति प्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या त्रित्वेन विभक्तमित्यर्थः ॥३४॥

आवाहितस्य संनिधानाय उच्छ्रिताङ्गुष्ठमुष्टिभ्यां लिङ्गमुद्राम्, गर्भगाङ्गुष्ठमुष्टिभ्यां तु निरोधाय निष्ठुरां मुद्रां प्रदर्श्य ततोऽपि—

आग्नेय्यादिविभागेन दलेष्वङ्गानि विन्यसेत् ।

अग्नीशरक्षोवायव्यदिक्षु हृदादीनि चत्वारि, चतसृषु पूर्वादिदिक्षु अस्त्रम्, कर्णिकायां नेत्रम् ॥

तत्सर्वम्—

पूज्यं श्वेतोपचारेण पुष्पाम्बरविलेपनैः ॥३५॥
नैवेद्यैर्विविधैश्चित्रैर्धूपैर्मृष्टैः सुधूपितम् ।
हृद्यैः पानैश्च विविधैः

सुधूपितं कृत्वा—इत्यर्थः । अन्यत् स्पष्टम् ॥३५॥

साधकस्य—

भावभेदेन पूजयेत् ॥३६॥

तत्र—

सर्वश्वेतोपचारेण शान्त्यर्थं पूजयेत् प्रिये ।
पुष्ट्यर्थं बहुभिर्मिश्रैः संभारैः संभृतैर्यजेत् ॥३७॥

मिश्रैः सितलोहिताच्छादिरूपैः ॥३७॥

अथ चाङ्गभूतम्—

पश्चाद्धोमं प्रकुर्वीत यथाकामानुसारतः ।

मुमुक्षुस्तिलाज्याभ्याम्, बुभुक्षुस्तु भाविद्रव्यैः ।

क्वेत्याह—

त्रिमेखले वर्तुले च चतुरश्रे सुशोभने ॥३८॥
हस्तमात्रेऽन्ततः कुण्डे ।

अन्ततः कुण्डे इति स्थूलहोमे । द्विचतुर्हस्तादौ कुण्ड इति भविष्यति ॥३८॥

अस्य च कुण्डस्य—

षडंशेनोर्ध्वमेखला ।
मध्यमा द्विचतुष्केण द्वादशांशाधमा भवेत् ॥३९॥
दैर्घ्याच्चं पार्श्वतस्तद्वत् षण्मध्याग्रेऽङ्गुलत्रयाम् ।

हस्तस्य षडंशेनाङ्गुलचतुष्टयेन ऊर्ध्वमेखला । मध्यमा द्विचतुष्केणाष्टमांशेनाङ्गुलत्रयेणेत्यर्थः । अधस्तनी द्वादशांशा द्व्यङ्गुला भवेत् । खातमधः शून्यम् । ओष्ठमेखला खातान्तरालेऽन्तर्दृश्यमानावयवविशेषः । अश्वत्थपत्रसदृशीं नाभिं योन्याकाराम्, नाभिः पुरस्तादवयविशेषः । दैर्घ्यात् पार्श्वतश्च नवाङ्गुलाम्, षडङ्गुलानि मध्ये अग्रे चाङ्गुलत्रयं यस्यास्ताम् ॥३९॥

एतच्च कुण्डम्—

उक्तं साहस्रिके होमे ।

सहस्रसंख्याक इत्यर्थः ।

द्विगुणं चायुते मतम् ॥४०॥

चस्त्वर्थे । अयुते दशसाहस्रे ॥४०॥

त्रिपञ्चायुते होमे तु द्विगुणं तद्विधीयते ।
कुण्डं वै लक्षणोपेतं लक्षहोमे प्रशस्यते ॥४१॥

त्रिशतपञ्चाशतसाहस्रपर्यन्ते होमे द्विगुणमिति चतुर्हस्तम् । लक्षहोमे ततोऽपि द्विगुणमष्टहस्तम् । द्विगुणमिति काकाक्षिवत् । लक्षणोपेतं हस्तमानानुसारोचित-मेखलादिमानम् ॥४१॥

किं च—

नित्ये नैमित्तिके काम्ये शान्तौ पुष्टौ च वर्तुलम् ।
सर्वसिद्धौ प्रशस्येत श्रीकाम्ये चतुरश्रकम् ॥४२॥
शस्यते पूर्वमानेन शिष्टं वै कर्मभेदतः ।

नित्ये सदातने, नैमित्तिके दीक्षापर्वपवित्रकादौ, काम्ये शान्तिपुष्ट्याद्यात्मनि, एवं च वर्तुलं कुण्डम् । श्रीकामविषये तु चतुरश्रकम् । तच्च मानं पूर्वमानेन प्रोक्तहोमसंख्यानुसारेणेत्यर्थः । अन्यस्यां तु सर्वसिद्धौ देहोच्चाटनादिकर्मभेदेन । शिष्टमिति त्रिकोणषट्कोणादिरूपम् ॥४२॥

अथ—

संस्कारास्तस्य कुण्डस्य कर्तव्या ह्यस्त्रमन्त्रतः ॥४३॥

तानाह—

अधःखननमुद्धार ईतिक्षेपः प्रपूरणम् ।
सेचनं कुट्टनं चैव मार्जनं लेपनं तथा ॥४४॥

खननं भूस्थाया मृदः, उद्धारः उत्क्षेपः, ईतिक्षेपः शर्कराङ्गारादित्यागः, प्रपूरणं भरणम्, सेचकाद्यनन्तरं सेचनमद्भिर्योजनम्, कुट्टनं कठिनभागचूर्णनम्, मार्जनं कुण्डस्य समीकरणम्, लेपनं गोमयोत्पुंसनम् ॥४४॥

एतानष्टौ संस्कारान् निष्पादनकाले, निष्पन्नस्यापि भावनयास्त्रेण कृत्वा—

प्रणवेन तु कर्तव्यं कुण्डस्य परिकल्पनम् ।

परिकल्पनं क्रियाशक्तिरूपतया, प्रोक्षणताडने च अस्त्रेणेत्यनन्तरमेव भविष्यति । उक्षणमित्यादिना कुण्डकल्पनमित्यन्तेन कवचेनावगुण्ठनमूह्यम् ॥

अथात्र—

चतुष्पथं चाक्षवाटं वागीश्या गृहकल्पनम् ॥४५॥

असिना

पूर्वोत्तराननाभ्यां दर्भाभ्यां चतुष्पथम्, मध्यलाभाद् ऐशदिक्पूर्वं वागीश्या न्यासाय चकारात् पूर्वामुखैस्त्रिभिः सौम्याननेनैकेन वज्रीकारः, शिवाग्नि-सहिष्णुतायै च सर्वं ऊर्ध्वदिग्दर्भास्तरणमक्षवाटो वागीश्या गृहायेत्यस्त्रेणैतत्सर्वं कुर्यात् ॥४५॥

प्रणवेनैन वागीश्यावाहनं पुनः ।
अर्चनं देवि कर्तव्यं त्रितत्त्वेन

'वागीशि संनिधत्स्व' इत्याह्वानम् । चतुर्थीनमोयोगेन त्वर्चनम् । त्रितत्त्व इति प्रणव इहत्यो मूलमन्त्रो वा ॥४६॥

पूर्वोक्तकुण्डसंस्कारपूरणमाह—

उक्षणं तथा ॥४६॥
अस्त्रेण ताडनं चैव संस्कृत्य विधिपूर्वकम् ।
क्रियाशक्तिस्वरूपेण कौण्डल्या कुण्डकल्पनम् ॥४७॥

कौण्डल्या इति शाक्तकुण्डलिनीव्याप्त्या, यद्वा वागीशीयोनावेव प्रोक्षण-ताडनकुण्डल्यात्मककुण्डकल्पनानि कुर्यात् ॥४७॥

अथ—

ज्ञानशक्तिस्वरूपं तु वह्निं तत्रोपकल्पयेत् ।

कथम्—

वह्निमादाय पात्रस्थं पञ्चसंस्कारसंस्कृतम् ॥४८॥

तान् पञ्चाह—

निरीक्षणादि चास्त्रेण कवचेनावगुण्ठनम् ।
प्रणवेनाहुतीः पञ्च हुत्वा क्रव्यादशुद्धये ॥४९॥
विश्वाग्न्यापादनं पश्चात् कुर्वीत भ्रामयेत्त्रिधा ।

आदिशब्दात् प्रोक्षणताडने, एतदन्तमेकः । क्रव्यादत्वं श्मशानिकत्वम्; तच्छुद्धिस्तृतीयः । विश्वाग्निरम्तित्त्वात्मा शिवाग्निस्तदापादनम् । त्रिधा भ्रामणं च प्रणवेनैव ॥४९॥

किं च—

बीजरूपं ततो वह्निमात्मानं परमेश्वरम् ॥५०॥
मायां चैव तु वीगीशीं योनौ संक्षोभ्यः संक्षिपेत् ।
वर्तुलीकृत्य

वागीशीमित्यस्यान्ते ध्यात्वेति योज्यम्, संक्षोभ्य त्रिधा भ्रामणेनैव । यदत्र तत्त्वं तत् श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते दर्शितम् ॥५०॥

अथ—

विश्वाग्नौ पूजनं प्रणवेन तु ॥५१॥
कर्तव्यं तन्मुखे पश्चात् संस्कारास्तु ततोऽनले ।

शिवाग्नितापादनाशयेनैव 'शिवाग्नये नमः' इति पूजात्मसंस्कारमुखाविर्भा-विसंस्कारान् कुर्यात् ॥५१॥

तानाह—

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं तथा ॥५२॥
वक्त्रकल्पननिष्क्रामसीमग्रीवादिकल्पनम् ।
जातकर्म तथैवात्र निष्क्रामो नामकल्पना ॥५३॥
हृदयाद्यङ्गषट्केन कर्तव्यमनुपूर्वशः ।

सीमन्तोन्नयनमित्यस्य विशेषणं वक्त्रकल्पनादीति । वक्त्राणां कल्पनमनु-द्भिन्नता, निष्क्रामोऽभिव्यक्तिः अङ्गप्रत्यङ्गकल्पना । अत्र मध्ये सीमशब्देन मुखहृत्पाददेशानां त्रित्वव्याप्त्या कल्पनं सूचितम् । निष्क्रामः आदित्यदर्शनम् । अत्र च हृन्मन्त्रेणाग्निं संपूज्य तेनैव 'गर्भाधानं करोमि स्वाहा' इति तिलैर्जु-हुयात्, इत्यादिक्रमः श्रीस्वच्छन्दादितोऽन्वेष्यः संक्षिप्तत्वादस्य विधेः समानतन्त्रा-पेक्षत्वात् । एवमुत्तरत्रापि ॥५३॥

किं च—

चूडाद्या ये तु बालान्ताः पूर्णाहुत्यैकयाः पुरः ॥५४॥
संस्कारानपि सर्वांस्तान् वह्नौ मूलेन पूरयेत् ।

बालस्य ब्रह्मचारिणोऽन्ते ये भूता उद्वाहादयः । 'चूडाद्यान् सर्वसंस्कारान् वह्नौ करोमि स्वाहा' इत्यत्रोहः ॥५४॥

अथ—

शिवशक्तिमयौ तत्र कल्पयेत विधानवित् ॥५५॥
स्रुक्स्रुवौ तौ दृढौ कार्यौ क्षीरवृक्षसमुद्भवौ ।

विधानमनन्तरं भविष्यति । क्षीरवृक्षः श्वेतार्कादिः ॥५५॥

किं च—

शस्येते शान्तिपुष्ट्योस्तु प्रशस्तद्रुमसंभवौ ॥५६॥

श्रीपर्णीबिल्वाद्युत्थौ ॥५६॥

अन्यत्र भावभेदेन कार्यौ कर्मानुरूपतः ।

भगवतोऽमृतेशस्य साधकान् प्रति शान्तिपुष्टी प्राधान्येन तत्र कार्ये तत्र, इति स्वकण्ठेनोच्यते ॥

अन्यत्तु सामान्योक्त्या पूर्वसूचितं विधानं दर्शयति—

षट्त्रिंशाङ्गुलमानेन स्रुग् वा बाहुप्रमाणतः ।।५७।।

अष्टयवमङ्गुलम् । वाहुप्रमाणत इति ।

'वाहुपबाहू वस्वङ्ककलौ संधिः कलादलम् ।
तद्वत् पाण्युपवाह्वोश्च..................।।'

इति मयोक्तनीत्या वाहुमूलात् प्रकोष्ठान्तमानेन ।

अत्र च—

'आयामादर्कभागस्य नवभागोऽङ्गुलम्'—

इति स्वाङ्गुलापेक्षा षट्त्रिंशदङ्गुलमानतेति विशेषः ।।५७।।

अस्याश्च—

षडंशपरिणाहेन दण्डः कुम्भसमुत्थितः ।

परिणाहो वेष्टनमानम् । कुम्भो मूले घटाकृतिः संनिवेशविशेषः ।।

स च दण्डः—

चतुरङ्गुलपीठाग्रः सर्वतश्चतुरङ्गुलः ।।५८।।
पीठं चतुष्किकाकारं तत्पीठं कमलोदरम् ।
कर्तव्यं दण्डमध्ये तु

अग्रेयस्य । दण्डशब्देनात्र प्राणदण्डप्रकृतिरूपा सर्वैवस्रुगुच्यते । तस्या अपि विभागे घटदण्डयोः षोडशाङ्गुलानि । चतुष्किका चतुष्कपरिमाणात् । वेदिकाकण्ठमुखानामूर्ध्वभागे षोडशेति कृत्वा मध्ये चत्वारि पीठमानं भवति ।।५८।।

तत्र च पीठे पद्मम्—

द्व्यङ्गुलायतवर्तुलम् ।।५९।।
अर्धाङ्गुलसमुत्सेधं विचित्ररचनाङ्गुलम् ।

तिलकरचनार्थं पार्श्वयोरङ्गुलद्वयं त्यक्त्वा मध्ये द्व्यङ्गुलीकार्यमित्यर्थः । समुत्सेध औन्नत्यम् ।।५९।

अस्याग्रे—

वेदिकाष्टाङ्गुला कार्या चतुरस्रा सुशोभना ।।६०।।
अधःपद्मनिविष्टा तु

अस्याश्च वेद्याः—

ऊर्ध्वं पञ्चाङ्गुलायतम् ।

खातं तु त्र्यङ्गुलं कार्यं तदूर्ध्वे वर्तुलं क्रमात् ॥६१॥

ऊर्ध्वं पृष्ठभागेऽष्टाङ्गुलाया वेद्याः पार्श्वयोः सार्धं सार्धमङ्गुलं त्यक्त्वा, मध्ये पञ्चाङ्गुलमायतं त्र्यङ्गुलं चाधःखातमाज्यस्थानं कार्यम् । तदूर्ध्वे भ्रमात् सूत्रभ्रमणेन वर्तुलं भवति ॥६१॥

किं च—

अर्धाङ्गुलप्रमाणैश्च तिलकैरुपशोभितम् ।
तच्च पार्श्वचतुष्कं तु चतुष्कोणसमन्वितम् ॥६२॥
शिल्पिविज्ञानरचनानानासुरचनं च तत् ।

तस्य मध्यगस्य खातस्य वर्तुलस्य पार्श्वे यदध्यर्धमङ्गुलं वेदिकास्थं तत् त्रिधा विभज्य मध्यभागेऽर्धाङ्गुलास्तिलकाः कार्याः । रचना व्यापारः । सुरचनं शोभनं रच्यमानं पत्रावल्यादि । सुरचितमिति तु स्पष्टम् ॥६२॥

वेदिकाया अग्रे—

कण्ठ एकाङ्गुलः कार्यस्तन्त्रिभागविभक्तितः ॥६३॥
पार्श्वयोस्तु

दैर्घ्यादेकाङ्गुलः । वैपुल्यात्तु तदित्यष्टाङ्गुलवेदिकामानं त्रिभागीकृत्य, पार्श्वयोर्विभज्य भागद्वयं त्यक्त्वा मध्यमत्रिभागमानः कार्य इत्यर्थः ॥६३॥

एकाङ्गुलकण्ठस्याग्रे—

तथा कार्यं मुखं सप्ताङ्गुलं शुभम् ।
दैर्घ्यात्

मुखमाज्यधारापातक्षेत्रम् । शुभं विरचनासनाथम् ॥

तत्पार्श्वतोऽष्टौ तु

तन्मुखम्, पार्श्वतो वेदिकासममूलमित्यर्थः ॥

अस्य च—

द्वौ भागौ ह्रासयेत् क्रमात् ॥६४॥
मुखाग्रं तन्त्रिभागं तु द्वौ भागौ तस्य पार्श्वतः ।
वर्तयेत

मुखस्याग्रभागमष्टाङ्गुलं त्रिधा कृत्वा, मध्यभागपार्श्वाभ्यां पूर्वकोणयोः सूत्रद्वयमास्फाल्य, पार्श्वगौ द्वौ भागौ वर्तयेद् यथानुपातमङ्कयेत्, ततस्तानेव ह्रासयेत् शातयेत् । एवं च मुखाग्रमष्टाङ्गुलमानात्त्रिभागं भवति ॥६४॥

किं च—

वेधयेत्तत्तु कनिष्ठाङ्गुलिमानतः ॥६५॥

मध्येनाज्यधारापाताय ॥६५॥

तच्च—

निम्नं निम्नतरं कुर्याद्यावदग्रमुखान्तरम् ।

मुखाग्रमध्यं यावद् ह्रस्वनिम्नच्छिद्रं कुर्यात् ॥

तस्य तु—

पार्श्वयोश्च तथा कार्या विचित्ररचना शुभा ॥६६॥

स्रुवमानमाह—

हस्तमात्रं स्रुवं कुर्यान्मूलपीठं त्रिशाखिनम् ।
मध्याग्रपीठपद्माङ्कं कण्ठेऽङ्गुलसुवर्तुलम् ॥६७॥
चतुरङ्गुलदीर्घं तु द्विपुटाग्रं सुवर्तितम् ।
अङ्गुष्ठपर्ववत् खातं गोष्पदाकृति कारयेत् ॥६८॥
कनिष्ठाङ्गुलिमानेन प्रतिशाखं तु वर्तुलम् ।
वर्तयेद्रचनायुक्तं कर्षापूरितवक्त्रकम् ॥६९॥

मूलपीठं चतुरस्रः संनिवेशो यस्य । कनिष्ठाङ्गुल्यग्रमानेन त्रितयव्याप्त्या प्रशस्ता मूलपीठादुत्थिता शाखा यस्य । तथा मध्याग्रपीठयोः पद्माङ्कितम् । अग्रपीठस्य पुरोभागे च कण्ठेऽङ्गुलं सुष्ठु वर्तुलम्, सुवर्तुलकण्ठमित्यर्थः । अस्य च चतुरङ्गुलानि दैर्घ्यम् । द्विपुटं दीर्घमध्ये रेखाविभक्तपार्श्वद्वयमग्रं यस्य तत् । सुष्ठु वर्तुलं यथानुपातं सुन्दरम् । अत एव गोष्पदाकृति, अङ्गुष्ठस्य मध्यरेखातोऽग्रान्तं यत् पर्वं तत्परिच्छेदकत्वेन विद्यते यस्य तादृक् खातं यस्य । अतश्च कर्षेणापूरितं वक्त्रं वक्त्रखातस्थानं यस्य तादृशं स्रुवं कुर्यात् । स्रुवखातं घृतपरिमाणं न परिच्छिनत्ति ॥६९॥

चतुष्पला भवेत् पूर्णा

स्रुगादीनां व्याप्तिमाह—

स्रुक्शक्तिस्तु स्रुवः शिवः ।
क्रियाशक्तिस्तु वै कुण्डं ज्ञानशक्तिस्तथानलः ॥७०॥

शिवाभेदव्याप्तिरेवात्र परः संस्कारः, इत्याशयात् स्रुक्स्रुवयोरिह संस्कारौ नोक्तौ ॥७०॥

एवं संपाद्य विधिवत् पश्चाद्धोमं समारभेत् ।

एवं निष्पादनं शिवशक्त्यभेदेन विमर्शनम् । विधिवदिति वीर्यव्याप्त्यनुसारेण यथाशक्ति शतं सहस्रं वा मूलस्य, तद्दशांशं त्वङ्गानां नित्यकर्मणि जुहुयात् ॥

काम्ये द्रव्यनियममाह—

तिलैः क्षीरयुतैर्होमाच्छर्कराघृतसंयुतैः ॥७१॥
महाशान्तिः प्रजायेत तत्क्षणान्नात्र संशयः ।

एतत्प्रसङ्गादुक्त्वा, प्रकृतमाह—

आदौ चैवाज्यसंस्कारान् कुर्याद्धोमं ततः परम् ॥७२॥

तानाह—

अधिश्रयणमुद्वासं भ्रमणं स्थापनं ततः ।
निरीक्षणं तथास्त्रेण नीराजनमतः परम् ॥७३॥
पर्यग्निकरणं चैव तथैवोत्प्लवसंप्लवौ ।
अस्त्रेणैव

भाण्डात् पात्रे प्रस्रावणम्, अग्नेरूर्ध्वे स्थापनम्, कुण्डस्य परितस्त्रिर्नयनम्, योनौ स्थापनम्, तत्र तेजसा परतेजोमयत्वापादनम्, दर्भोल्मुकेन सर्वदिक्कं प्रकाशनम्, ज्वलद्दर्भस्यान्तः प्रक्षेपः, कराभ्यामङ्गुष्ठानामिकागृहीतपवित्रेण त्रिरूर्ध्वं प्रेरणम्, त्रिरधःप्रेरणम्, इत्यधिश्रयणादीनां स्वरूपम् ॥

एतान् नव संस्कारान् अस्त्रेण कृत्वा—

अर्चनं मूले नामृतीकरणं तथा ॥७४॥

अमृतमुद्रात्र प्रदर्श्या ॥७४॥

अथ—

दर्भास्तरविष्टराणि परिधीनस्त्रमन्त्रतः ।

कल्पयेत् । दर्भास्तरे नानाविधास्त्रव्याप्त्या विष्टराणि रक्षार्थान्यवस्थाप्य लोकपालानामासनार्थम् । बहिरस्त्रप्राकारव्याप्त्या हस्तप्रमाणाः समन्त्राः शाखाः परिधयः । एतत्त्रयं कुण्डस्य बहिः ।

अथाज्यपात्रे दर्भौ क्षिप्त्वा—

सूर्याचन्द्रमसौ बाह्ये कल्पयेत् प्रणवेन तु ॥७५॥

सप्रणवेन मूलेनाज्ये धामत्रयं कल्पयित्वा, वामदक्षिणमध्येभ्यः क्रमेण स्रुवमापूर्य मूलमन्त्रपूर्वं 'सोमाय स्वाहा, अग्नये स्वाहा, अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' इति होमादग्नेस्त्रिधामता शुक्लपक्षे कल्प्या । कृष्णपक्षे तु वामात् 'सूर्याय स्वाहा' दक्षिणात् 'अग्नये स्वाहा' मध्यात् 'अग्निसूर्याभ्यां स्वाहा' इति श्रीस्वच्छन्दोक्त-विधिरत्रापेक्ष्यः ॥७५॥

अथाग्निम्—

भावयेन्नवजिह्वं तु

'राज्यार्था दाहजननी मृत्युदा शत्रुहारिका ।
वशीकर्त्र्युच्चाटनी स्यादर्थदा मुक्तिदायिका ॥
सर्वसिद्धिप्रदा........................ ।'

इत्येवंनामकाः प्रागादिमध्यान्ता अग्नेः कल्प्याः 'अग्नेर्जिह्वाः कल्पयामि' इत्यूहेन ॥

पूर्णां मूलेन पातयेत् ।

एवं कुण्डाग्निस्रुक्स्रुवाज्यानि संस्कृत्य—

ततः पश्चात्तु तं मन्त्रं साङ्गं मध्यगतं यजेत् ॥७६॥

साधकस्तु—

एवंकृते तु जुहुयान्मन्त्रं कर्मानुसारतः ।

एवंकृत इति नित्यकर्मसमाप्तौ ॥

तत्र—

पयसा घृतयुक्तेन पुष्टिर्भवति शाश्वतो ॥७७॥

हेतेन साधकस्य ॥७७॥

घृतगुग्गुलुहोमेन पूर्णायुर्भवति ध्रुवम् ।

आयुष्कामः ॥

श्रीकामो जहुयात् पद्मान् घृतक्षीरपरिप्लुतान् ॥७८॥
राज्यकामस्तु बिल्वानि त्रिमध्वक्तानि होमयेत् ।
क्षीरवृक्षसमिद्भिस्तु होमादारोग्यमाप्नुयात् ॥७९॥
प्रशस्तसमिधा होमात् प्रशस्ततरुजेऽनले ।
सर्वान् कामानवाप्नोति सत्यमेव न चान्यथा ॥८०॥
व्रीहिसप्तकहोमेन धनार्थी धनभाग्भवेत् ।

स्पष्टम् ॥८०॥

एवं शुभफलान् होमानुक्त्वा, उच्चाटनादिफलं होममवहेलयाह—

ईहितं काममुद्दिश्य ईहितं होममाचरेत् ॥८१॥

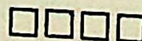
एतन्मन्त्रौचित्येन होममाह—

पयसा केवलेनैव होमान्मृत्युं जयेद् ध्रुवम् ॥८२॥

मृत्युञ्जयत्वादस्य नाथस्येति शिवम् ॥

निखिलजगत्प्रकाशिशशिवह्निदिनेशशत-
स्फुरितदयाविभागि विसरत्परमामृतयुक् ।
अकृतकचारुचित्रतिलकाकृति शंकरयो-
रलिकविलोचनं जयति सर्गलयस्थितिकृत् ॥

इति श्रीनेत्रोद्द्योते यजनादिस्तृतीयोऽधिकारः ॥



चतुर्थोऽधिकारः

ऊर्ध्वाधरापाङ्गसङ्गिदृष्ट्या मोक्षं कटाक्षयत् ।
सभोगं जयति श्रीमल्ललाटं नेत्रमैश्वरम् ॥

नित्यात् कर्मणोऽनन्तरं नैमित्तिकमित्याशयेन श्रीभगवानुवाच—

अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि भुक्तिमुक्तिफलप्रदाम् ।

मुक्तिदीक्षा शिवधर्मलौकिकधर्मभेदेन भिन्ना साधकस्य, ईश्वरतत्त्वप्राप्तिहेतुस्तु समयिनो मुक्तिदीक्षा, सबीजनिर्बीजरूपाचार्यपुत्रकयोरुभय्यपि श्रीमत्स्वच्छन्दादिदृष्ट्यधिवासप्रोक्तमण्डलान्ताधिकृतत्वात्—

तत्त्वैः षट्त्रिंशतार्धेन तदर्धेनाथ पञ्चभिः ॥१॥
त्रिभिरेकेन वा कार्या परापरविभूतये ।

पृथ्व्यादिशिवान्तानि षट्त्रिंशत् । तदर्धमष्टादशभूतानि पञ्च प्रकृतिः पुरुषो रागो नियतिः शुद्धविद्या कालः कला माया विद्या ईशः सदाशिव शक्तिः शिव इति । तदर्धमपि प्रकृतिः पुरुषो नियतिः कालो माया विद्या ईशः सदाशिवः शिव इति नव । पञ्च पृथिव्यादीनि निवृत्त्यादिकलावद्विश्वव्यापीनि । त्रीणि भुवनशक्तिशिवाख्यानि मायासदाशिवशिवव्याप्तीनि । एकं त्वशेषं विश्वादि शिवतत्त्वम् । परापरविभूतिर्मोक्षभोगौ संपाद्यौ सर्वत्राविशिष्टौ ॥१॥

एवं षट्प्रकारां तत्त्वदीक्षामुद्दिश्य, कलादिदीक्षामप्युद्दिशति—

कलाभिः पञ्चभिर्वाथ पदैर्दीक्षाथवा पुनः ॥२॥
वर्णैः पञ्चाशता वापि मन्त्रैर्वा भुवनैस्तथा ।

निवृत्ति-प्रतिष्ठा-विद्या-शान्ता-शान्तातीताः कलाः । श्रीपूर्वादिनीत्या मातृकानुसारेण क्ष ह स ष श व ल र य म भ ब फ प न ध द थ त ण ढ ड ठ ट ञ झ ज छ च ङ घ ग ख क इति नव पदानि, विश्वविश्रान्तिस्थानतत्त्वाद्विसर्गाद्यकारान्तं तु दशमं पदम् । श्रीस्वच्छन्ददृशा तु नवात्मप्रस्तारोक्तान्येकाशीतिरूकारादीनि पदानि । श्रीस्वायम्भुवाविप्रक्रियया तु व्योमव्यापिसंबन्धीनि । वर्णाः क्षादिकान्ताः चतुस्त्रिंशत् पृथिव्यादिसदाशिवान्तवाचकाः, विसर्गाद्यकारान्यास्तु षोडश शक्तिशिवतत्त्वाभेदामर्शिनः । श्रीपूर्वस्थित्या मध्यमवाग्वृत्त्योक्तरूपाणि पदानि पश्यन्तीवृत्त्या आसूत्रितभेदाभेदामर्शप्राधान्येन मन्त्राः । श्रीस्वच्छन्दप्रक्रियया तु हृत् शिरःशिखे कवचमस्त्रं नेत्रमित्यङ्गान्येव, सद्यआदिवक्त्रमन्त्राणि निवृत्त्यादिकलापञ्चकव्याप्तिक्रमेणाशेषाध्वामर्शीनि । मन्त्रा इहत्यप्रक्रियया वक्त्रमन्त्राणामभावादङ्गान्येव । भुवनानि तु

श्रीपूर्वोक्तप्रक्रिययाष्टादशोत्तरशतसंख्यानि, स्वच्छन्ददृशा तु चतुर्विंशत्यधिकद्विशतरूपाणि, अस्य शास्त्रस्य सर्वस्रोत:संग्रहरूपत्वात् तत्तदागमोक्तषडध्वविभागकल्पनया दीक्षाक्रमस्याविरोधात् ॥२॥

तत्र संभवे सति दीक्षा प्रोक्तैः प्रकारैः—

एतैः सर्वैः प्रकर्तव्या

अन्यथा तु—

कार्या ह्येकतमाथवा ॥३॥

एकैकत्रापि च प्रकारे षड्भिरप्यध्वभिः—

सर्वैस्तु समुदायेन

दीक्षा कार्या ॥

कथमित्याह—

शक्तिव्यक्तिस्वरूपतः ।

एकतमं संशोध्याध्वानं व्यक्तिरूपेण व्यापकतया प्राधान्येनाश्रित्य, तदन्तरितमध्वपञ्चकं शक्तिरूपेण व्याप्यं भावयेदित्यर्थः । यथोक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'अध्वावलोकनं पश्चाद् व्याप्यव्यापकभावतः' (४।९५)

इत्यादि ॥

एषा च सर्वैव दीक्षा—

यथाविभवसारेण कर्तव्या दैशिकोत्तमैः ॥४॥

विभववतां महासंभारैः । इतरेषां दूर्वाम्बुपल्लवादिभिरपि । एवं ह्यनालस्यनैःस्पृह्याभ्यां दैशिकानामुत्तमता ॥४॥

तत्रादौ शिष्यदेहपाशसूत्रावलम्बनमध्वसंधानमध्वोपस्थापनमध्वपूजाहोमावव्हान्तःपाशत्रयभावनामाधारशक्तिन्यासादि च कृत्वा—

वागीशीपूजनं कार्यं ।

आह्वानपूर्वं होमान्तमित्यर्थात् ॥

ततः कृतप्रोक्षणताडनचैतन्यग्रहणं शिष्यम्—

तद्गर्भे योजयेत् पशुम् ।

कर्मपाशवशसंभाव्यविचित्रचतुर्दशविधभोगायतनोत्पत्त्यर्थम् ॥

अस्य च—

गर्भाधानं तु जननमधिकारो लयस्तथा ॥५॥
भोगः कर्मार्जनं चैव निष्कृतिस्तदनन्तरम
मूलमन्त्रेण कर्तव्यं

नानाशरीराणामन्तःप्ररोहो गर्भाधानम्, वहिर्निःसृतिर्जननम् भोगयोग्यानां प्रवृद्धानां संपत्तिरधिकारः, तदनन्तरं मन्त्रमाहात्म्यपरिपक्वभोगसाधनत्वस्य कर्मणोऽर्जनं भोगदानौन्मुख्यरूपम्, तदनन्तरं सुखदुःखमोहप्राप्त्यात्मा भोगः, ततो निवृत्तेऽपि भोगे कंचित्कालं भोगसंस्कारो लयः, ततोऽपि समस्तजात्यायुर्भोगनिःशेषसंपत्त्यात्मा निष्कृतिः, इत्येतत्सर्वं मूलमन्त्रहोमैस्त्र्यादिसंख्यैः कार्यम्, निष्कृतिस्तु शतहोमा, तदन्ते च द्विजत्वापत्तिरुद्रांशापत्ती चिन्तयेत् ॥

समाप्तेषु भोगेषु भोक्तृत्वाभावरूपं विश्लेषाख्यं संस्कारं कृत्वा—

पाशच्छेदस्तथा स्मृतः ॥६॥

अस्त्रमन्त्रेण

ततो विश्लेषानन्तरभावितया स्मृतं पाशसूत्रस्य छेदमस्त्रमन्त्रेण कृत्वा तेनैव पाशस्य—

दाहस्तु

कार्यः ॥

ततोऽपि—

भस्मीकरणतत्स्थिते ।

भस्मीकरणं निःसंस्काराणां पाशानां शमनमस्त्रेणैव । तत्स्थितं तु निवृत्ताशेषशरीरस्य शिष्यचैतन्यस्य मूलेनैक्यं विभाव्य, स्वहृत्प्रवेशेन द्वादशान्तप्रापणपूर्वं शिष्यहृत्स्थत्वापादनरूपं स्थानं स्थितम्, तस्य स्थितमिति व्युत्पत्त्या तत्स्थितम् ॥

अनन्तरं ब्रह्मादेराह्वान-पूजा-होम-पुर्यष्टकांशार्पण-श्रावण—विसर्जनादि कृत्वा, कलादितत्त्वान्तरानुसन्धिपूर्वं सर्वाध्वसंशुद्धिं कृत्वा—

शिखाच्छेदं ततो होमं

कुर्यात्, विश्वाध्वाश्रयप्राणशक्तिरूपशिखाव्याप्त्याशिखां छित्त्वा जुहुयादित्यर्थः ॥

अथ विध्यन्यथासंपत्तिवशसंभाव्यप्रायश्चित्तहोमानन्तरम्—

'ज्ञात्वा चारप्रमाणं तु प्राणसंचारमेव च' (४।२३१)

इत्यादिश्रीस्वच्छन्दोक्तप्रमेयपञ्चदशकसतत्त्व—ज्ञो ज्ञानयोगशाली आचार्यवर्यः प्रशान्तपाशं शिष्यम्—

मूलेनैव तु योजयेत् ॥७॥

'व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधमात्रेण योजयेत् ।
तदा शिवत्वमभ्येति पशुर्मुक्तो भवार्णवात् ॥' (४।४३७)

इति श्रीस्वच्छन्दोक्तदृशा परतत्त्वसमावेशनया परमशिवैकरूपं कुर्यात् ॥७॥

तदाह—

संयोज्य परमे तत्त्वे संस्थानं तत्र कारयेत् ।

तथासौ तन्मय एव स्यात् ॥

अथ योजनिकानां विभागमाह—

अधिकारार्थमाचार्ये परापरपदे स्थिते ॥८॥

शिवत्वे साधकानां तु विद्याद्दीक्षां सदाशिवे ।
पुत्रके परमे तत्त्वे समयिन्यैश्वरे तथा ॥९॥

परापरपदे शिवत्वे इति

'अत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम्' (१०।१२५८)

इति स्वच्छन्दोक्तनीत्या परमशिवयोजनानन्तरमाचार्याणामपरशिवयोजना कार्या, साधकानां तु शिवयोजनानन्तरं सदाशिवयोजना कार्या, पुत्रकाणां परतत्त्व एव, समयिनामीश्वरतत्त्व इति विभागः ॥९॥

उपसंहरति—

एवमुद्देशतो दीक्षा कथिता विस्तरोऽन्यतः ॥१०॥

उद्देशत इत्यन्यत इत्यनेन चातिविततोऽप्ययं दीक्षाविधिरिहातिसंक्षेपेणासूत्रितत्वात् श्रीस्वच्छन्दादिशास्त्रेभ्यो वितत्य सम्यगवगम्य प्रयोक्तव्य इति शिक्षयति, इति शिवम् ॥

जयत्यशेषपाशौघप्लोषकृद् भक्तिशालिनाम् ।
परधामसमावेशप्रदं नेत्रं महेशितुः ॥

इति श्रीनेत्रोद्द्योते दीक्षाधिकारश्चतुर्थः ॥

———

पञ्चमोऽधिकारः

अभिषिञ्चति भुक्तिमुक्तये महतो यत् स्ववपुःपरिस्रुतैः ।
परमामृतनिर्झरौरिदं शिवयोर्नेत्रमुपास्महे परम् ॥

अथ शास्त्रान्तराभिहितैतच्छास्त्रसूचितसबीजदीक्षादीक्षितान् श्रुतशील-समाचारानाचार्यान् साधकांश्चाभिषेचयितुं श्रीभगवानुवाच—

अभिषेकं प्रवक्ष्यामि यथा यस्येह दीयते ।

यथेति, ययेतिकर्तव्यतया, यस्येति आचार्यस्य साधकस्य वा दीयते, तथा तस्याभिषेकं प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञा ॥

तत्र—

अष्टभिः कलशैर्देय आचार्यस्य विधानतः ॥१॥

विधानमीशानदिशि स्वस्तिकादिमण्डलगतश्रीपर्णाद्यासनोपविष्टस्य विहितन्यासस्य अमृतेशतर्यार्चितस्य काञ्चिकौदनमृद्गोमयदूर्वासिद्धार्थकादिपूर्णसदीपकलशनिर्भर्त्सनतः शमितविघ्नस्य परमन्त्रस्फारावेशनिःष्यन्दिपरामृतधारासारचिन्तनेन सह शिरसि कलशाम्भःक्षेपात्मकम् ॥१॥

ये च ते कलशाः—

ते च विद्येश्वराः प्रोक्ताः समुद्राश्च सगर्भगाः ।

समुद्राष्टकाम्भोभृतः श्रीमदमृतेशभैरवस्फाराविष्टानन्तादिविद्येश्वराधिष्ठिता भाव्या इत्यर्थः । सगर्भगा इति रत्नौषध्यक्षतादियुक्ताः । एतच्चोपलक्षणम् । तेनाश्रितमन्त्रैः प्रत्येकं साष्टशतमूलमन्त्राभिर्मन्त्रितैः, इत्यागमिकमभिषेकविषयमभिषिक्तस्य ज्ञानयोगस्फारोपायप्रकाशनोष्णीष-संहिता-च्छत्र-पादुका-करणी-कर्तर्यादिप्रदानाद्यागमोक्तं सर्वमनुसर्तव्यम् ॥

कलशविषयं पक्षान्तरमाह—

पञ्चभिर्भूतसंख्यैर्वा त्रिभिर्वा तत्त्वरूपकैः ॥२॥
आत्मविद्याशिवाख्यैस्तु एकेनापि शिवात्मना ।

भूतानां पृथिव्यादिव्योमान्तानां सम्यक् ख्यानं निवृत्त्यादिकलाव्याप्त्यनुसन्धिना प्रकाशो येषाम्, तत्त्वैरात्मादिभी रूपकं रूपणा निरूपणं येषाम्, आत्मविद्याशिवैः आ समन्तात् ख्यानं तन्मयतया प्रथा येषाम् ॥२॥

एष चाभिषेकः—

अधिकारार्थमाचार्ये साधके सिद्धिकामतः ॥३॥

आचार्यविषयः परानुग्रहैकप्रयोजनः कार्यः, मन्त्राराधनेन स्वात्मविषया सिद्धिरस्य स्यादित्याशयेन साधकविषयः कार्यः । अत्रापि श्रीस्वच्छन्दाद्युक्ता सर्वा प्रक्रियानुसरणीया ॥३॥

अथायं साधकः—

अभिषिक्तो ह्यनुज्ञातः प्रकुर्यान्मन्त्रसाधनम् ।

न तु उदासीत ॥

तेनायम्—

तद्व्रतस्तत्समाचारस्तद्भक्तस्तत्परायणः ॥४॥
पवित्राहारनिरतो लघ्वाशी संयतेन्द्रियः ।
एकान्ते पुण्यक्षेत्रे तु तीर्थायतनगोचरे ॥५॥
सर्वसंगोज्झितमनाः साधको जपमारभेत् ।

तत्रैव व्रतं वाक्चित्तसंयमः, पूजाहोमात्मकस्तु समाचारो यस्य । स्पष्टमन्यत् ॥५॥

तत्र—

लक्षमेकं जपेन्मन्त्री पूर्वसेवासमन्वितः ॥६॥
तेन सामान्यकर्माणि सिद्ध्यन्ते साधकस्य तु ।

पूर्वसेवायां च मीनोदयात् प्रभृत्यधिकविश्रान्त्या जपः कार्यं इति श्रीस्वच्छन्देऽस्ति, तथा जपाद् दशमांशेनोत्तमादिद्रव्यैर्होम इति । सामान्यकर्माणि वश्याकर्षणादीनि ॥६॥

किं च—

भौमीं सिद्धिमवाप्नोति दशलक्षजपेन तु ॥७॥
आन्तरिक्षीं च लभते

पातालाकाशगतिमाप्नोतीत्यर्थः ।

लक्षपञ्चाशता ध्रुवम् ।
दिव्यां सिद्धिमवाप्नोति साधको नात्र संशयः ॥८॥

दिव्यां भुवनेश्वरप्राप्तिरूपाम् ।

तथा कोटिकृते जप्य ऐश्वरीं सिद्धिमाप्नुयात् ।
व्यापकस्तु शिवो भूत्वा निग्रहानुग्रहक्षमः ॥९॥
यथेच्छं कुरुते सर्वं धारयेत् संहरेद् भृशम् ।
सर्वगः सर्वकर्ता च सर्वज्ञो भवति ध्रुवम् ॥१०॥

व्यापक इत्यादिना ऐश्वरी सिद्धिः स्फुटीकृता । सर्वगः सर्वात्मा । एतच्च सर्वं साधक एतद्देहस्थ एव लभते, इति शिवम् ॥

कमलजकृष्णरुद्रतनुभिर्वितनोति पृथक्
शिवसुशिवेशमूर्तिभिरथाप्यपृथङ् निखिलम् ।
यदिह परामृतैः समभिषिञ्चति भक्तजनं
जयति समस्तसिद्धिकृदिदं नयनं शिवयोः ॥

इति श्रीनेत्रोद्द्योतेऽभिषेकविधिर्नाम पञ्चमोऽधिकारः

———

षष्ठोऽधिकारः

व्याध्यादिदौर्गत्यजरादिदोषहुताशशान्ति परमामृतैर्यत् ।
अर्चाहुतिध्यानजपादि सिञ्चत् करोति तन्नौमि हरोर्ध्वनेत्रम् ॥

पूर्वपटलाधिगतार्थानुवादेन अन्यदवतारयितुं श्रीदेव्युवाच—

श्रुतो मया महादेव मृत्युजित् सिद्धिमोक्षदः ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि सिद्धित्रयसमन्वितम् ॥१॥

अमृतेशं महात्मानं सर्वप्राणिषु जीवितम् ।
यथा सिद्धिप्रदं लोके मानवानां हितङ्करम् ॥२॥

पूर्वोक्तदुष्टशमनमपमृत्युविनाशनम् ।
आप्यायनं शरीरस्य शान्तिपुष्टिप्रदं शुभम् ॥३॥

अथ प्रथमद्वितीयाधिकारोक्तवाच्यवाचकात्ममन्त्ररूपो मृत्युजित् तृतीयचतुर्थाधिकारोक्तनित्यनैमित्तिककर्मणा मोक्षदः पञ्चमाधिकारोक्तकाम्यकर्मतः सामान्येन सिद्धिप्रदश्च मया श्रुतः। इदानीं तु तमेव भौमदिव्यान्तरिक्षसिद्धिप्रदममृतेशं विश्वजीवनं महान्तमात्मानं या या सिद्धिर्यथा सिद्धिस्तत्प्रदं लोके सर्वत्र भूतसर्गो द्वितीयाधिकारोक्तदशा विशेषतो व्याध्यादिबाधितानां मनुष्याणां हितङ्करं श्रोतुमिच्छामि। हितङ्करत्वं पूर्वोक्तेत्यादिना स्फुटीकृतम्। शान्तिर्ग्रहादिदोषनिवृत्तिः। आप्यायः शुष्कस्य सरसीभावः। पुष्टिः पुर्णाङ्गता। शुभं दौर्गत्यादिहरम् ॥३॥

एवं पृष्टः श्रीभगवानुवाच—

श्रूयतां संप्रवक्ष्यामि रहस्यं परमाद्भुतम् ।
यथा तरन्ति मनुजा दुःखोदधिपरिप्लुताः ॥४॥

अपमृत्युशताक्रान्ता जना दारिद्र्यसंयुताः ।
आधिव्याधिभयोद्विग्नाः पापौघैर्विनिपीडिताः ॥५॥

मुच्यन्ते च यथा सर्वे पूर्वोक्तैर्दारुणैः प्रिये ।
त्रिविधं तदुपायं तु स्थूल सूक्ष्मं परं च तत् ॥६॥

मनुजा इति कृपास्पदसातिशयत्वेन चोदिता यथा तरन्ति न दुःखादिभाजो भवन्ति, दारुणैर्मूतादिभिश्च यथा मुच्यन्ते त्यज्यन्ते, तथा प्रोक्तचीर्यसारमृत्युजित्परमार्थरहस्यं तत्रोपायरूपं वस्तु यत्तत् संप्रवक्ष्यामि ॥६॥

तत्र—

स्थूलं तु यजनं होमो जपो ध्यानं समुद्रकम् ।
यन्त्राणि मोहनादीनि मन्त्रराट् कुरुते भृशम् ॥७॥

मन्त्रराट् यजनादि कुरुते स्ववीर्येणापि तिष्ठति । मुद्रा अत्र पूर्वोक्ताः ॥७॥

सूक्ष्मं चक्रादियोगेन कलानाड्युदयेन च ।

सप्तमाधिकारभाविषट्चक्रषोडशाधारादौ यो योगस्तेन, तथा कलानाड्युदयेनेति कला कालावयवमुहूर्ताद्युपलक्षणपरा तत्प्रधानो यो नाड्युदयस्तेन श्रीस्वच्छन्दाद्युक्तबाह्यान्तररौद्रेतरादिकालैकीकारेण प्रयुक्तो मन्त्रराट् स्ववीर्यस्फारणेन सूक्ष्ममुपायं व्याध्यादिनाशनं करोतीत्यर्थः ॥

परं सर्वात्मकं चैव मोक्षदं मृत्युजिद् भवेत् ॥८॥

महासामान्यमन्त्रवीर्यरूपत्वाद् मृत्युजिन्नाथस्येत्थं निर्देशः । सर्वात्मकं परमाद्वयम् । एतच्चाष्टमाधिकारे निर्णेष्यते ॥८॥

तत्र स्थूलोपायं वक्तुमुपक्रमते—

यदा मृत्युवशाघ्रातः कालेन कलितः प्रिये ।
दृष्टस्तत्प्रतिघातार्थममृतेशं यजेत्तदा ॥९॥
सर्वंश्वेतोपचारेण पूर्वोक्तविधिना ततः ।

मृत्युरपमृत्युः । कालो महामृत्युः । विधानं तृतीयाधिकारोक्तं यागादि ॥९॥

एवं च—

यस्य नाम समुद्दिश्य पूजयेन्मृत्युजिद्विभुम् ॥१०॥
मृत्योरुत्तरते शीघ्रं सत्यं मे नानृतं वचः ।

असावित्यर्थात् । सत्यमित्युक्त्या नात्र मायाप्रमातृतया सन्देग्धव्यम् निश्चयस्यैव सिद्धिनिमित्तत्वात् ॥१०॥

सितशर्करया युक्तैर्घृतक्षीरप्लुतैस्तिलैः ॥११॥
पुण्यदार्विन्धने वह्नौ कुण्डे वृत्ते त्रिमेखले ।
महारक्षाविधानेन जुहुयाद्यस्य नामतः ॥१२॥
महाशान्तिर्भवेत् क्षिप्रं गतस्यापि यमक्षयम् ।

पुण्यं पलाशादिदारु इन्धनं दीपनं यस्य । महारक्षाविधानमस्त्रप्राकारादिचिन्तनम्, यागहर्म्ये च दुष्टप्रवेशरक्षणम् । नामत इति मन्त्रान्तोच्चारितेन । यमक्षयं यमगेहम् ॥१२॥

अथवा शर्करायुक्तपयसा केवलेन तु ॥१३॥
होमान्मृत्युं जयेच्छीघ्रं मृत्युजिन्नात्र संशयः ।

स्पष्टम् ॥१३॥

सुगन्धिघृतहोमेन क्षीरवृक्षमयेऽनले ॥१४॥
तर्पितो नाशयेन्मृत्युं मृत्युजिन्नात्र संशयः ।

यस्य नाम्ना तस्येत्यर्थात् ॥१४॥

क्षीरवृक्षसमिद्धोमाज्ज्वरं नाशयते क्षणात् ॥१५॥

प्रादेशमात्राः सत्वचः कनिष्ठाङ्गुलिमानाः सरसाः शाखाः समिधः ॥१५॥

तिलतण्डुलमाक्षीकमाज्यक्षीरसमन्वितम् ।
एष पञ्चामृतो होमः सर्वदुष्टनिवर्हणः ॥१६॥

मन्त्रराजप्रसादात् ॥१६॥

गुग्गुलोर्गुलिकाभिश्च त्र्यक्ताभिश्चणमात्रया ।
होमात् पुष्टिर्भवत्याशु क्षीणदेहस्य सुव्रते ॥१७॥

चणकप्रमाणाभिर्गुग्गुलुधूपगुलिकाभिराज्यक्षीरक्षौद्रात्मत्रिमध्वक्ताभिर्होमात् पुष्टिर्भवति ।

'वषडाप्यायने शस्तः' (६।९६)

इति स्वच्छन्दोक्तनीत्या सर्वत्रात्र वषट्जातिः प्रयोज्या ॥१७॥

यदा व्याधिशताकीर्णो ह्यबलो दृश्यते नरः ।
तदास्य सम्पुटीकृत्य नाम जप्त्वा विमुच्यते ॥१८॥

मूलमन्त्रेणेत्यर्थात् ॥१८॥

किं च—

यं यं मन्त्रं जपेद् विद्वानमृतेशेन संपुटम् ।
तस्य सिद्ध्यति स क्षिप्रं भाग्यहीनोऽपि यो भवेत् ॥१९॥

जपोऽत्र स्वकल्पोक्तविधिना ॥१९॥

एतत्प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह—

क्षीणगात्रस्य देवेशि भेषजं मन्त्रसंपुटम् ।
दीयते तत्क्षणाद्देवि स पुष्टिं लभते बली ॥२०॥

भेषजमौषधम्, मन्त्रसंपुटमिति मन्त्रसंपुटीकारेण प्रयुक्तमित्यर्थः ॥२०॥

हृत्पद्ममध्यगं जीवं चन्द्रमण्डलमध्यगम् ।
साद्यर्णरोधितं कृत्वा मृत्योरुत्तरते भृशम् ॥२१॥

साद्यर्णैः सविसर्गसकारहोमबीजप्रणवैर्जीवनिकटात् क्रमात्क्रमं बहिर्निःसृतैः रोधितम् । अष्टासु दिक्षु ध्यातैराक्रान्तं चन्द्रबिम्बसंनिविष्टमात्मन परस्य वा जीवं यः करोति ध्यायति, स मृत्युमुत्तरति । कृत्वेति अन्तर्भावितणिजर्थोऽपि ॥२१॥

साध्यर्णरोधितं कृत्वा ध्यायेद्देहे तु योगवित् ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तः स भवेन्नात्र संशयः ॥२२॥

जीवद्देहस्यायं रोधनप्रयोगः ॥२२॥

क्षीरोदपद्ममध्यस्थममृतोर्मिभिराकुलम् ।
ऊर्ध्वाधःशशिरुद्धं तु साद्यर्णैः संपुटीकृतम् ॥२३॥
ध्यायते सुप्रहृष्टात्मा आत्मनोऽपि परस्य वा ।
स बाह्याभ्यन्तरं शुभ्रं सुधापूरितविग्रहम् ॥२४॥
अनुद्विग्नमनायासं सर्वरोगैः प्रमुच्यते ।

क्षीराब्धिमध्यस्थसितसरोरुहकर्णिकागतेन्दूपविष्टम्, ऊर्ध्वस्थेन्द्वमृतैः सिच्यमानमैन्दवप्रभाभरोच्छलत्क्षीरदतरोङ्गैरन्तर्बहिश्चापूरितम्, सुशुभ्रं च प्रोक्तयुक्त्या ध्यातमन्त्रराजसंपुटीकृतं यस्य शरीरं भृशं ध्यायते स नीरोगो भवति ॥

रोचनाकुङ्कुमेनैव क्षीरेण च समन्वितः ॥२५॥
सितपद्मेऽष्टपत्रे तु मध्ये साद्यर्णरोधितः ।
सर्वव्याधिसमाक्रान्तश्चन्द्रमण्डलवेष्टितः ॥२६॥
चतुष्कोणपुराक्रान्तो वज्रभृद्वज्रलाञ्छितः ।
मुच्यते नात्र संदेहः सर्वव्याधिनिपीडनात् ॥२७॥

गोरोचनाकुङ्कुमक्षीरैर्भूर्जादौ सितकमलमालिख्य प्रतिपत्रमुक्तयुक्त्योल्लिखितमन्त्रेण रोधितोऽर्थात् कर्णिकायां नामद्वारोल्लिखितः साध्यो बहिः षोडशकलेन्दुबिम्बवेष्टितः सवज्रकचतुरश्रपुरस्थो व्याध्याक्रान्तोऽपि सर्वव्याधिपीडनान्मुच्यते । वज्रभृद्वज्रेत्युक्ते समधिष्ठितानि वज्राणि ध्यायेदिति शिक्षयति ॥२७॥

षोडशारे महाचक्रे षोडशस्वरभूषिते ।
आद्यन्तमन्त्रयोगेन मध्ये नाम समालिखेत् ॥२८॥
जीवान्तः सान्तमध्यस्थं वर्णान्तेनाभिरक्षितम् ।
प्रत्यर्णममृतेशेन संपुटित्वा तु सर्वतः ॥२९॥
मध्ये दलेषु सर्वेषु शशिमण्डलमध्यगम् ।
बाह्ये तु द्विगुणं पद्मं कादिसान्तक्रमेण तु ॥३०॥
पूर्ववत्तु लिखेन्मन्त्री प्रति साद्यर्णरोधितम् ।
वर्णं तदन्तः साध्यस्य नाम बाह्येऽर्कमण्डलम् ॥३१॥
पुरन्दरपुरेणाधः समन्तात् परिवारयेत् ।
सितचन्दनसंयुक्तं रोचनाक्षीरयोगतः ॥३२॥

लिखित्वा मन्त्रराजं तु कर्पूरक्षोदधूसरम् ।
महारक्षाविधानं तु पुष्टसौभाग्यदायकम् ॥३३॥
एतच्चक्रं महादेवि सितपुष्पैः प्रपूजयेत् ।
सर्वश्वेतोपचारेण मधुमध्ये निधापयेत् ॥३४॥
अनेनैव विधानेन सप्ताहान्मृत्युजिद् भवेत् ।

षोडशदलकमलकर्णिकायां मन्त्रसंपुटितं साध्यनाम जीवस्य सकारस्यान्तः कृत्वा, सान्तस्य हकारस्यान्तर्विधाय वर्णान्तेन क्षकारेणान्तर्बहिः संस्थितेन रक्षितं कुर्यात् । प्रतिमन्त्रं च अमृतेशसंपुटितं नाम ठकारवेष्टितं क्रमेणाकारादिस्वरमध्यगं कृत्वा मध्यस्थमन्त्रसांमुख्येन लिखेत् । षोडशपत्रस्य पद्मस्य बहिर्द्वात्रिंशद्दलमुल्लिखेत्, तत्र च कादिसान्तान् द्वात्रिंशद्वर्णान् न्यसेत् । तेषु च प्रतिवर्णं पूर्ववत् साद्यर्णरोधितमित्युक्तयुक्त्या मन्त्रसंपुटितम्, तदिति पूर्वन्यस्तं साध्यनामान्तर्मध्ये लिखित्वा सर्वस्यास्य बहिरर्कमण्डलमिति ठकारम्, तद्बहिः पुरन्दरपुरनिति वज्रलाञ्छितं चतुरश्रसंनिवेशं कुर्यात् । प्रति साद्यर्णरोधितमित्यत्र 'व्यवहिताश्च' इति व्यवहितेन प्रतिना वर्णशब्दस्य संबन्धः । एतत्सर्वं चक्रं सितचन्दनगोरोचनाक्षीरैर्लिखित्वा, सितकुसुमकर्पूरादिभिरभ्यर्च्य माक्षिकमध्यस्थं पुष्टिसौभाग्यकृत्, सप्ताहं मधुमध्ये निहितं च मृत्युजित् ॥३४॥

किं चेदम्—

राजरक्षाविधानं तु भूभृतां तु प्रकाशयेत् ॥३५॥
संग्रामकाले वरदं रिपुदर्पापहं भवेत् ।
शिवादिनवतत्त्वानि प्रत्येकं शशिमण्डलम् ॥३६॥
मध्यात् पूर्वादि ऐश्यन्तममृतेशेन मन्त्रिणा ।
यदा व्याधिशताकीर्णमपमृत्युशतेन वा ॥३७॥
तदा श्वेतोपचारेण पूज्यं क्षीरघृतेन वा ।
तिलैः क्षीरसमिद्भिर्वा होमाच्छान्ति समश्नुते ॥३८॥

आतानवितानविन्यस्तरेखाचतुष्ककलितकोष्ठनवके प्रत्येकं चन्द्रमण्डललाञ्छिते मध्यकोष्ठकात् प्रभृति प्रागादिक्रमेण ऐश्यन्तं शिवसदाशिव-ईश्वर-विद्या-माया-काल-नियति-प्रकृति-पुरुषतत्त्वानि नामत उल्लिख्य, सितोपचारेणानेन मन्त्रेण मन्त्रिणा यदा पूजा क्षीरघृताभ्यां क्षीराक्तैस्तिलैः क्षीराक्तसमिद्भिर्वा होमो यथाशक्ति क्रियते, तदा व्याध्याद्यपमृत्युशताकीर्णमपि साध्यशरीरं स्वस्थतामेति ॥३८॥

एवं संपूज्य कुम्भे तु सर्वौषधिसमन्विते ।
सितपद्ममुखोद्गारे रत्नगर्भाम्बुपूरिते ॥३९॥

सर्वमङ्गलघोषेण शिरसि ह्यभिषेचयेत् ।
स मुच्यते न संदेहः सर्वव्याधिप्रपीडितः ॥४०॥

एवमिति शिवादिनवतत्त्वान्युक्तयुक्त्याकुम्भे ध्यात्वा संपूज्य, तेन योऽभि-षिच्यते शिरसि स सर्वव्याधिभिः पीडितोऽपि मुच्यते । सितपद्मैर्मुखे उद्गार आमोदो यस्येति समासः ॥

ध्यात्वा परामृतं नित्यं नित्योदितमनामयम् ।
प्रक्रियान्तस्थममृतमवतार्य पराच्छिवात् ॥४१॥
चतुर्नवामृताधारं नवधा नवपूरितम् ।
शतार्धक्षोभितं नित्यं षट्पञ्चैकसमन्वितम् ॥४२॥
अनन्ताधारगम्भीरमष्टात्रिंशद्विभूषितम् ।
पञ्चभिर्वा प्रसिद्ध्यर्थं पूर्णं तेन निरन्तरम् ॥४३॥
एवं ध्यानपरो यस्तु सबाह्याभ्यन्तरामृतम ।
विक्षोभ्य कलशं मूर्ध्नि दैशिको मन्त्रतत्परः ॥४४॥
अनुग्रहपदावस्थो ह्यभिषिञ्चेत् प्रयत्नतः ।
स मुच्यते न सन्देहः संसाराद् दुरतिक्रमात् ॥४५॥

प्रक्रियान्तस्थं समनान्ताध्वपर्यन्तगमुन्मनापरतत्त्वामृतम्, नित्यमुदित-मनावृतचिज्ज्योतीरूपम्ः नित्यमविनाशि, न विद्यते आमयो माया यतस्तादृक्, ध्यात्वा समावेशयुक्त्या विमृश्य, तत एव परमशिवात्, अमृतामिति शाक्तानन्दम्, अवतार्य शिष्यशिरोऽवतीर्णं विचिन्त्य, तन्मन्त्रपूजितं परामृतपूर्णं कलशमुल्लास्य, एवमित्युभयामृतध्यानासक्तो मन्त्रराजपरामर्शपरोऽनुजिघृक्षुराचार्यो यस्य मूर्ध्नि सबाह्याभ्यन्तरमेतदमृतं विकिरेत्, स मोक्षमाप्नोत्येव । कीदृगमृतमित्याह— चतुर्ये नव षट्त्रिंशदर्थात् तत्त्वानि तान्येव—

'एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता ।'

इति च स्थित्याऽमृतानि तेषामाधारमाश्रयम्, तथा नवधा यानि नव नवात्म-व्योमव्याप्यादिप्रक्रियया एकाशीतिः पदानि तैः पूरितं संपूर्णं व्याप्तम्, तथा शतार्धेन पञ्चाशता आदिक्षान्तैर्वर्णैः क्षोभितं व्याप्ति भावितम्, तथा षड्भिरङ्गैः पञ्चभिर्वक्त्रैरेकेन च मूलेन सम्यगन्वितं श्रीस्वच्छन्दाद्युक्तसाध्यमन्त्रसंहिता-पूर्णम्, तथा अनन्तैः कालाग्न्याद्यनाश्रितान्तैराधारैर्भुवनैरन्तर्ध्यातैर्गम्भीरम-परिच्छेद्यम्, तथा अष्टात्रिंशता वक्त्रपञ्चककलाभिर्विभूषितम्, तेनेत्यनेन षड्विधेनाध्वना निरन्तरं पूर्णम्, अत एव प्रसिद्धिः प्रकृष्टा भुक्तिमुक्तिलक्षणा सिद्धिरर्थः प्रयोजनं यस्य ॥४५॥

अतश्च योऽनेनाभिषिच्यते—

आयुर्बलं जयः कान्तिर्धृतिर्मेधा वपुः श्रियः ।
सर्वं प्रवर्तते तस्य

प्रकर्षेण वर्तते पुष्यतीत्यर्थः ॥

तथा—

भूभृतां राज्यमुत्तमम् ॥४६॥

प्रवर्तते ॥४६॥

किं च—

दुःखार्दितो विदुःखस्तु व्याधिमान् गतरुग्भवेत् ।
वन्ध्या तु लभते पुत्रं कन्या तु पतिमावहेत् ॥४७॥

एतत्कलशाभिषेकात् सर्वोऽभीष्टफलमाप्नोतीत्यर्थः ॥४७॥

यदाह—

यान् यान् समीहते कामांस्तान् सर्वान् ध्रुवमाप्नुयात् ।

तदित्थम्—

अभिषेकस्य माहात्म्यं विधानविहितस्य तु ॥४८॥
कथितं ते मया देवि प्रजानां हितकाम्यया ।
अन्यशास्त्रोपचारेण

शास्त्रान्तरव्यवहारेण ॥४८॥

तदित्थमभिषेकात् साध्यः

सर्वशान्त्यरहो भवेत् ॥४९॥

अर्हंशब्दस्थाने अरह इति शब्द ऐशः ॥

एतदुपसंहरन् अन्यदवतारयति—

एवं स्थूलं विधानं तु सूक्ष्मं चैवाधुना शृणु ॥५०॥

अनेनाधिकारेण स्थूलध्यानमुक्तम्, भाविना तु सप्तमेन सूक्ष्ममुच्यते, इति शिवम् ॥५०॥

समस्तदुःखदलनं सर्वसंपत्प्रवर्तनम् ।
परनिर्वाणजननं नयनं शाङ्करं नुमः ॥

इति श्रीनेत्रोद्योते साधनविधिः षष्ठोऽधिकारः ॥

सप्तमोऽधिकारः

चक्राधारवियल्लक्ष्यग्रन्थिनाड्यादिसंकुलम् ।
स्वामृतैर्देहमासिञ्चत् स्मराम्यूर्ध्वेक्षणं विभोः ।।

अथ सूक्ष्मध्यानं निर्णेतुं भगवानुवाच—

अतः परं प्रवक्ष्यामि ध्यानं सूक्ष्ममनुत्तमम् ।

न विद्यते उत्तममन्यत् सूक्ष्मध्यानं यतः, परं त्वतोऽप्युत्तमं भविष्यति ।।

तदुपक्रमते—

ऋतुचक्रं स्वराधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।।१।।
ग्रन्थिद्वादशसंयुक्तं शक्तित्रयसमन्वितम् ।
धामत्रयपथाक्रान्तं नाडित्रयसमन्वितम् ।।२।।
ज्ञात्वा शरीरं सुश्रोणि दशनाडिपथावृतम् ।
द्वासप्तत्या सहस्रैस्तु सार्धकोटित्रयेण च ।।३।।
नाडिवृन्दैः समाक्रान्तं मलिनं व्याधिभिर्वृतम् ।
सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन तु ।।४।।
आप्यायं कुरुते योगी आत्मनो वा परस्य च ।
दिव्यदेहः स भवति सर्वव्याधिविवर्जितः ।।५।।

ऋतवः षट् जन्म-नाभि-हृत्-तालु-विन्दु-नादस्थानानि नाडिमायायोगभेदनदीप्तिशाण्ताख्यानि नाडिमायादिप्रसराश्रयत्वात् चक्राणि यत्र, स्वराः षोडश अङ्गुष्ठ-गुल्फ-जानु-मेढ्र-पायुकन्द - नाडि-जठर-हृत-कूर्मनाडी-कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-ललाट-ब्रह्मरन्ध्रद्वादशान्ताख्या जीवस्याधारकत्वादाधारा यत्र, यदि वा सर्वंसहत्वादस्य नयस्य कुलप्रक्रियया—

'मेढ्रस्याधः कुलो ज्ञेयो मध्ये तु विषसंज्ञितः ।
मूले तु शाक्तः कथितो बोधनादप्रवर्तकः ।।
अग्निसंज्ञस्ततश्चोर्ध्वमङ्गुलानां चतुष्टये ।
नाभ्यधः पवनाधारे नाभावेव घटाभिधः ।।
नाभिहृन्मध्यमार्गे तु सर्वकामाभिधो मतः ।
संजीवन्यभिधानाख्यो हृत्पद्मोदरमध्यगः ।।
वक्षःस्थले स्थितः कूर्मो गले लोलाभिधः स्मृतः ।
लम्भकस्य स्थितश्चोर्ध्वे सुधाधारः सुधात्मकः ।।

तस्यैव मूलमाश्रित्य सौम्यः सोमकलावृतः ।
भ्रूमध्ये गगनाभोगे विद्याकमलसंज्ञितः ॥
रौद्रस्तालुतलाधारो रुद्रशक्त्या त्वधिष्ठितः ।
चिन्तामण्यभिधानाख्यश्चतुष्पथनिवासि यत् ॥
ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्ये तु तुर्याधारस्तु मस्तके ।
नाड्याधारः परः सूक्ष्मो घनव्याप्तिप्रबोधकः ॥
इत्युक्ताः षोडशाधाराः.................॥'

इति । त्रीण्यन्तर्बहिरुभयरूपाणि लक्ष्याणि लक्षणीयानि यत्र, निरावरण-रूपत्वात्

'खमनन्तं तु जन्माख्यं' (७।२७)

इति वक्ष्यमाणानां जन्म-नाभि-हृद्-बिन्दु-नादरूपाणां व्योम्नां पञ्चकं विद्यते यत्र,

'जन्ममूले तु मायाख्यो' (७।२२)

इत्यभिधास्यमानाश्चैतन्यावृतिहेतुत्वाद् ग्रन्थयो माया-पाशव-ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-ईश्वर-सदाशिव-इन्धिका-दीपिका-बैन्दव-नाद-शक्त्याख्या ये पाशास्तैः संयुक्तम् । इच्छादिना शक्तित्रयेण सम्यगन्वितमेषणीयादिविषये प्रवर्तमानम् । सोम-सूर्य-वह्निरूपधामत्रयपथैः सव्यापसव्यपवनैर्मध्यमपवनेन चाधिष्ठितम् । इडा पिङ्गला-सुषुम्नाख्येन पवनाश्रयेण नाडित्रयेण युक्तम् । गान्धारी-हस्तिजिह्वा-पूषा-यशा-अलम्बुसा-कुहू-शङ्खिनीभिश्च युक्तत्वाद् दश नाड्यः पन्थानो येषां प्राणापान-समानोदानव्याननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयाख्यास्तैः आ समन्ताद् वृतमोत-प्रोतम् । दिग्दशकावस्थितनाडिदशकप्रपञ्चभूताभिर्द्वासप्तत्या सहस्रैर्मध्यव्याप्त्या सार्धकोटित्रयेण च महाव्याप्त्या नाडिवृन्दैः समाक्रान्तम् । आणवमायीय-कार्ममलयोगान्मलिनम् । योगिनामपि—

'येनेदं तद्धि भोगतः'

इति स्थित्यावश्यंभाविक्रोडीकृतं शरीरं ज्ञात्वा योगी यस्य आत्मनः परस्य वा, परेणैवेति पररूपतामनुज्झतापि समनन्तरभाविना सूक्ष्मध्यानामृतेनोदितेन स्फुटीभूतेनाप्यायं करोति, स गतव्याधिर्दिव्यदेह इति सूक्ष्मध्यानामृतोन्मिष-च्छाक्तमूर्तिर्भवति ॥५॥

'सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेणैवोदितेन' इति यदुक्तं तत्सोपक्रमं स्फुटयति—

यत्स्वरूपं स्वसंवेद्यं स्वस्थं स्वव्याप्तिसंभवम् ।
स्वोदिता तु परा शक्तिस्तत्स्था तद्गर्भगा शिवा ॥६॥
तां वहेन्मध्यमप्राणे प्राणापानान्तरे ध्रुवे ।
अहं भूत्वा ततो मन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भगं ध्रुवम् ॥७॥

स्वोदितेन वरारोहे स्पन्दनं स्पन्दनेन तु ।
कृत्वा तमभिमानं तु जन्मस्थाने निधापयेत् ॥८॥
भावभेदेन तत्स्थानान्मूलाधारे नियोजयेत् ।
नादसूच्या प्रयोगेन वेधयेत् सूक्ष्मयोगतः ॥९॥
आधारषोडशं भित्वा ग्रन्थिद्वादशकं तथा ।
मध्यनाडिपथारूढो वेधयेत् परमं ध्रुवम् ॥१०॥
तत्प्रविश्य ततो भूत्वा तत्स्थोऽसौ व्यापकः शिवः ।
सर्वामयपरित्यागान्निष्कलाक्षोभशक्तितः ॥११॥
पुनरापूर्य तेनैव मार्गेण हृदयान्तरम् ।
तत्र प्रविष्टमात्रं तु ध्यायेल्लब्धं रसायनम् ॥१२॥
विश्रामानुभवं प्राप्य तस्मात् स्थानात् प्रवाहयेत् ।
सर्वं तदमृतं वेगात् सर्वत्रैव विरेचयेत् ॥१३॥
अनन्तनाडिभेदेन अनन्तामृतमुत्तमम् ।
अनन्तध्यानयोगेन परिपूर्य पुरं स्वकम् ॥१४॥
अजरामरस्ततो भूत्वा सबाह्याभ्यन्तरं प्रिये ॥
एवं मृत्युजिता सर्वं सूक्ष्मध्यानेन पूरितम् ॥१५॥
ततोऽसौ सिद्धयति क्षिप्रं सत्यं देवि न चान्यथा ।

यदिति प्रथमाधिकारनिर्दिष्टपरधामात्मवीर्यम्, स्वरूपमिति विशेषानिर्देशात् सर्वस्य, स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम् न तु स्वसंवेदनान्यप्रमाणप्रमेयम्,

'तस्य देवातिदेवस्य परापेक्षा न विद्यते ।
परस्य तदपेक्षत्वात् स्वतन्त्रोऽयमतः स्थितः ॥'

इति कामिकोक्तनीत्याऽस्य भगवतः प्रमाणागोचरत्वात् अत एव स्वतन्त्रारमन्यवतिष्ठते न त्वन्यत्र तद्विविक्तस्यान्यस्याभावात्, प्रत्युतान्यद्विश्वं तद्व्याप्तत्वात्तन्मयमेव संभवतीत्याह—स्वव्याप्तिसंभवम् स्वव्याप्त्या संभवो विश्वरूपतयोन्मज्ज्ञानं यस्य । अस्य च भगवतः परा स्वातन्त्र्यात्मा शक्तिः स्वा अव्यभिचारिणी चासौ उदिता प्रस्फुरद्रूपा, तत्रैव च भगवद्रूपे स्थिता, न चाधाराधेयभावेन, अपि तु सामरस्येनेत्याह—तद्गर्भगा । अतश्च शिवा परमार्थाशिवाभिन्नरूपत्वात् शिवा । एवं परं रूपं भित्तिभूतत्वेन प्रकाश्य सूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते—तामित्यादिना तां परां चितिशक्तिम्, मध्यमप्राणे सुषुम्नास्थोदानाख्यप्राणब्रह्मणि, वहेत् निमज्जितप्राणापानव्याप्ति उन्मग्नतया विमृशेत् । कथम् ? अहं भूत्वा, देहादिप्रमातृताप्रशमनेन पूर्णाहन्तामाविश्येत्यर्थः । तत उक्तवक्ष्यमाणवीर्यव्याप्तिकं मूलमन्त्रं तत्स्थं तद्गर्भगमिति पराशक्तिसामर-

स्यमयम्, अत एव स्पन्दनमिति सामान्यस्पन्दरूपं कृत्वा कथं स्वोदितेन स्पन्दनेन अप्राणाद्यवष्टम्भेन। एवं मन्त्रवीर्यसारमामृश्य तमभिमानं तदसामान्यचमत्कारमयं स्वं वीर्यं जन्माधारे आनन्दचक्रे निवापयेत् प्रतिष्ठापयेत्। कथम्? भावस्य देहप्राणादिमिताभिमानमयस्य भेदेन प्रशमनेन। ततोऽपि मूलाधारे कन्दे तमभिमानं भावभेदेनैव नियोजयेद् निरूढं कुर्यात्। ततोऽपि स्फुरत्तोन्मिषत्तारूपमन्त्रनाथप्राणसूच्या हेतुना कृतो यः प्रकृष्टः क्रमात्क्रममूर्ध्वारोहात्मा योगस्तेन। तथा सूक्ष्मयोगत इति उन्मिषत्स्फुरत्तोत्तेजनप्रकर्षेण। मध्यनाडीपथमारूढः पूर्वोद्दिष्टकुलशास्त्रादिष्टमाधारषोडशकं तथोपक्रान्तनिर्णेष्यमाणं ग्रन्थिद्वादशकं च भित्त्वा परमं ध्रुवं द्वादशान्तधाम वेधयेदाविशेत्। तच्च प्रविश्य, सर्वस्यामयस्य महामायापर्यन्तस्य बन्धस्य परित्यागात्, तत्रैव ध्रुवपदे स्थितः सन्, व्यापको नित्योदितपराशक्तिसमरसः परमशिवैकरूपो भूत्वा, तेनैव द्वादशान्तादन्तःप्रसृतेन मध्यमेन मार्गेण हृदयमध्यमापूर्य परानन्दप्रसरणाच्छुरितं कृत्वा, तत्र हृदि प्रविष्टमात्रं तत् परमानन्दरूपं रसायनमासादितं ध्यायेद्विमृशेत् तावद्यावत्तत्र विश्रान्तिमेति, ततस्तस्माद्धृदयादुच्छलितं तदमृतं प्रवाहयेत् नानाप्रवाहाभिमुखं कुर्यात्। ततस्तेनैवामृतेन अनन्तनाडीप्रवाहप्रसृतेन बहलध्यानध्यातेन सबाह्याभ्यन्तरं स्वं पूरं देहं परिपूर्य तदनन्तरं सर्वममृतं वेगाद् द्रुतप्रवाहेन सर्वरोमरन्ध्रैः सर्वत्र गोचरे रेचयेद् अव्युच्छिन्नप्रवाहं प्रेरयेत्। एवं परवीर्यात्मना भगवता मृत्युजिता प्रोक्तसूक्ष्मशाक्तानन्दध्यानेन यदा सर्वमापूरितं चिन्तयति योगी तदासौ अजरामरो भूत्वा क्षिप्रं सिद्ध्यति मृत्युजिद्भट्टारकतामाप्नोति। नात्र प्रमातृसुलभः संशयः कार्यः ॥१५॥

एवं शाक्तानन्दमार्गावष्टम्भात्मककौलिकप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन सूक्ष्मध्यानमुक्त्वा, स्थूलयुक्तिक्रमेण तन्त्रप्रक्रियोक्ताधारादिभेदेन पूर्णासितामृतकल्लोलचिन्तनात्मसूक्ष्मध्यानं वक्तुमुपक्रमते—

जन्मस्थाने समाश्रित्य स्पन्दस्थां मध्यमां कलाम् ॥१६॥
तत्स्थं कृत्वा तदात्मानं कालाग्निं तु समाश्रयेत्।
गत्वा गृहीतविज्ञानं वीर्यं तत्रैव निक्षिपेत् ॥१७॥
तद्वीर्यपूरिता शक्तिः क्रियाख्या मध्यमोत्तमा।
विज्ञानेनोर्ध्वतो भित्त्वा ग्रन्थिभेदेन चेच्छया ॥१८॥
मूलस्पन्दं समाश्रित्य त्यक्त्वा वाहद्वयं ततः।
मध्यमार्गप्रवाहिन्या सुषुम्नाख्यां समाश्रयेत् ॥१९॥
तामेवाश्रित्य विरमेत्तत्सर्वेन्द्रियगोचरात्।
तदा प्रत्यस्तमायेन विज्ञानेनोर्ध्वतः पुनः ॥२०॥

ब्रह्मादिकारणानां तु त्यागं कृत्वा शनैः शनैः ।
षण्णां शक्तिमतां प्राप्य कुण्डलाख्यां निरोधिकाम् ॥२१॥
मायादिग्रन्थिभेदेन हृदादिव्योमपञ्चकम् ।

पूर्वं जन्मस्थानमानन्देन्द्रियमुक्तम् इह तु कन्दः, तत्र स्पन्दस्थामिति स्पन्दाविष्टाम्, मध्यमां कलां प्राणशक्तिमाश्रित्य मत्तगन्धस्थानसंकोचविकासाभ्यां शतश उन्मिषितां सूक्ष्मप्राणशक्तिमध्यास्य, आत्मनं मनस्तदवसरे तत्स्थं तन्निभालनैकाविष्टं कृत्वा, कालाग्निमिति पादाङ्गुष्ठाधारं गत्वा, समाश्रयेत् भावनयाध्यासीत । तत्रैव च गृहीतविज्ञानं वीर्यमिति कन्दभूम्यासादितं शाक्तस्पन्दात्म वीर्यं निक्षिपेद् भावनाप्रकर्षेण स्फुटयेत् । इत्थं तद्वीर्येत्युक्तवीर्येणापूरिता लब्धोदया, प्राणस्पन्दात्मा क्रियाशक्तिरुत्तमातिशयेनोद्गता सती मध्यमा भवति, समस्तदेहस्य नाभिर्मध्यं तत्र प्राप्ता जायते । कथम् ? इच्छया संकोचक्रमोत्थोर्ध्वारोहणप्रयत्नेन, विज्ञानेन च भावनया, ऊर्ध्वंत इत्युपरितनगुल्फजानुमेढ्रकन्दनाभ्याख्यानां ग्रन्थीनां भेदेन वेधनव्यापारेण भित्त्वा, अर्थात् तान्येवोर्ध्वस्थानान्याक्रम्य 'भेदिता माण्डलिका भूभुजा, इतिवद्भिदिः स्वीकारार्थः । अथ मूलस्पन्दं समाश्रित्येति मत्तगन्धस्थानं विकासाकुञ्चनपरम्परापुरःसरं निरोध्य । एतच्च **श्रीस्वच्छन्दो**क्तदिव्यकरणोपलक्षणपरम् । अत एव वाहद्वयं पार्श्वनाड्यौ त्यक्त्वा परिहृत्य, तत इति प्रोक्तेच्छाज्ञानावष्टम्भयुक्त्या, मध्यमार्गप्रवाहिण्या प्रोक्तया मध्यप्राणब्रह्मशक्त्या सुषुम्नाख्यां नाडीं सम्यगाश्रयेत् । तामाश्रित्य तत इत्यभ्यस्तात् सर्वेन्द्रियगोचराद्विरमेद् अन्तर्मुखीकृतसर्वेन्द्रियस्तिष्ठेत् । तदा च प्रत्यस्ता प्रतिक्षिप्ता माया प्राणादिप्रधानतात्माख्यातिर्येन तादृशा, प्रकाशानन्दात्मना ज्ञानेन हृत्कण्ठादिगतसृष्टयादिसंवित्स्वभावब्रह्मादिकारणानि क्रमात् त्यक्त्वा, वक्ष्यमाणमायादिग्रन्थिभेदेन सह हृदादिव्योमपञ्चकं च त्यक्त्वा, षण्णां ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाख्यानां कारणानामूर्ध्वंत ऊर्ध्वे स्थितां कुण्डलाख्यां शक्तिं शून्यातिशून्यान्तमशेषविश्वगर्भाकारात्मककुण्डलरूपतयावस्थितां समनाख्यां शक्तिं प्राप्य, विज्ञानेनोर्ध्वं विरमेद् उन्मनापरतत्त्वात्मतामाविशेदिति दूरेण संवन्धः । विरमेदिति पूर्वस्थमिहापि योज्यम् ॥

तत्र निर्भेद्यग्रन्थ्यादीनां स्वरूपं तावत्क्रमेणादिशति—

जन्ममूले तु मायाख्यो ग्रन्थिर्जन्मनि पाशवः ॥२२॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
कारणस्थास्तु पञ्चैवं ग्रन्थयः समुदाहृताः ॥२३॥
इन्धिकाख्यस्तु यो ग्रन्थिर्द्विमार्गाशमनः शिवः ।
तदूर्ध्वे दीपिका नाम तदूर्ध्वे चैव बैन्दवः ॥२४॥
नादाख्यस्तु महाग्रन्थिः शक्तिग्रन्थिरतः परः ।

जन्ममूलमानन्देन्द्रियम् तच्छरीरोत्पत्तिहेतुर्मायारूपतया मायाख्यो ग्रन्थिः। जन्मनिकन्दे पाशवः पशूनां संकुचितदृक्शक्तित्वात् पाश्यानामयमाधारनाना-नाडीप्राणादीनां प्रथमोद्भेदकल्पः। हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटस्थानां ब्रह्मादीनां कारणानां पशुं प्रति सृष्टयादिकर्तृत्वेन निरोधकत्वाद् ग्रन्थिरूपकत्वात् तत्स्थाः पञ्च ग्रन्थयः, निरोधिकोर्ध्वे—

'इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिकोर्ध्वगा' (१०।१२२६)

इति श्रीस्वच्छन्दे नादशक्तयो या उक्ताः, ता एवेह परचित्प्रकाशावाररूपत्वाद् ग्रन्थय उक्ताः। तत्रेन्धिकाख्यो यो ग्रन्थिरसौ द्विमार्गाशमन इति निरोधिकास्पृष्ट-वामदक्षिणवाहनिःशेषप्रशमनहेतुः, अत एव शिव ऊर्ध्वैकमार्गारोहकत्वात् श्रेयोरूपः। तदूर्ध्वे किंचिद्दीप्तिहेतुत्वाद् दीपिकाख्यो ग्रन्थिः, अतोऽपि किंचिद-धिकप्रकाशहेतुत्वाद् बैन्दवः। रोचिकेत्यन्यत्र योक्ता शक्तिस्तद्रूपो ग्रन्थिः।। तदुपरि नादाख्यो महाग्रन्थिरिति। मोचिकोर्ध्वगेत्यन्यत्र यच्छक्तिद्वयमुक्तं तत्रोर्ध्वगा नादान्तेति तत्रैव योक्ता सैवेहान्तर्भावितमोचिका नादाख्यो महाग्रन्थि-रित्युक्तः। महत्त्वं चास्य ग्रन्थ्यन्तर्भावादेव। अतः परः शक्तिस्थानस्थो ग्रन्थिः शक्तिग्रन्थिः॥

यदेवं निर्णीतं तत्—

ग्रन्थिद्वादशकं भित्त्वा प्रविशेत् परमे पदे ॥२५॥

उन्मनापरतत्त्वात्मनि धाम्नि ॥२५॥

अत्र ब्रह्मादिकारणग्रन्थिभेदनादेव तदधिष्ठितहृदादिस्थानानि शक्तिग्रन्थि-भेदेन च शक्तिस्थानं तदुपरि च व्यापिनीधामशिवस्थाने दलयेदित्याह—

ब्रह्माणं च तथा विष्णुं रुद्रं चैवेश्वरं तथा।
सदाशिवं तथा शक्तिं शिवस्थानं प्रभेदयेत् ॥२६॥

अन्ते स्थानशब्दो ब्रह्मादिशब्दानामपि तत्स्थानप्रतिपादकत्वसूचनाय ॥२६॥

अथ पूर्वोद्दिष्टं शून्यपञ्चकं षट्चक्रं च प्रदर्शयति—

खमनन्तं तु जन्माख्यं नाभौ व्योम द्वितीयकम्।
तृतीयं तु हृदि स्थाने चतुर्थं विन्दुमध्यतः ॥२७॥
नादाख्यं तु समुद्दिष्टं षट्चक्रमधुनोच्यते।
जन्माख्ये नाडिचक्रं तु नाभौ मायाख्यमुत्तमम् ॥२८॥
हृदिस्थं योगिचक्रं तु तालुस्थं भेदनं स्मृतम्।
विन्दुस्थं दीप्तिचक्रं तु नादस्थं शान्तमुच्यते ॥२९॥

अनन्तवद्विश्वाश्रयत्वादनन्तम्। नादाश्रयत्वाद् नादाख्यम्। नाडिप्रसर-हेतुत्वात्,

'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्' (पा० यो० ३।२५)

इति नीत्या समस्तमायाप्रपञ्चख्यातिहेतुत्वात्, योगिनां चित्तैकाग्र्यप्रदत्वात्, प्रयत्नेन भेदनीयत्वात्, दीप्तिरूपत्वात्, शान्तिप्रदत्वादिति क्रमेण नाडिचक्रादौ हेतवः। एतानि शून्यानि सौषुप्तावेशप्रदत्वात्, चक्राणि तु भेदप्रसरहेतुत्वात् हेयानीति कृत्वा ॥२९॥

तैः सह—

पूर्वोक्तानि च सर्वाणि ज्ञानशूलेन भेदयेत् ।

पूर्वोक्तनीत्याधारग्रन्थ्यादीनि । ज्ञानशूलं मन्त्रवीर्यभूतचित्स्फुरत्ता ॥

ज्ञानशूलोत्तेजने युक्तिमाह—

आक्रम्य जन्माधाराख्यं तन्मूलं पीडयेच्छनैः ॥३०॥

चित्तप्राणैकाग्र्येण कन्दभूमिमवष्टभ्य, तन्मूलमिति मत्तगन्धस्थानम्, शनैरिति संकोचविकासाभ्यासेन, शक्त्युन्मेषमुपलक्ष्य पीडयेद् यथा शक्तिरूर्ध्वमुखैव भवति ॥३०॥

अथ प्रसङ्गान्नानाशास्त्रप्रसिद्धान् पर्यायान् जन्माधारस्याह—

जन्माधारस्य सुश्रोणि पर्यायान् शृण्वतः परम् ।
जन्मस्थानं तु कन्दाख्यं कूर्माख्यं स्थानपञ्चकम् ॥३१॥
मत्स्योदरं तथैवेह मूलाधारस्तथोच्यते ।

मरुदुद्भवहेतुत्वात्, मध्यनाडीकन्दरूपत्वात्, कूर्माकारत्वात्, पृथिव्यादिव्योमान्ततत्त्वपञ्चकस्थानत्वात्, मत्स्योदरवत् स्फुरणात्, मूलभूतत्वाच्च जन्मादि आख्यायते ॥

एवं महामाहात्म्याच्छास्त्रेषु निरुच्यते वा कन्दभूः—

तत्स्थां वै खेचराख्यां तु मुद्रां विन्देत योगवित् ॥३२॥
मुद्रया तु तया देवि आत्मा वै मुद्रितो यदा ।
तदा चोर्ध्वं तु विसरेद्विज्ञानेनोर्ध्वतः क्रमात् ॥३३॥

तत्स्थामिति कन्दभूमिविस्फुरितां शक्तिम्, मुदो हर्षस्य राणात् पाशमोचनभेदद्रावणात्मत्वात् परसंविद्द्रविणमुद्रणाच्च मुद्राम्, खे बोधगगने चरणात् खेचर्याख्यां योगी लभेत । लब्धया तु तया यदा आत्माणुर्मुद्रितः तद्वशः संपन्नः, तदामन्त्रवीर्यस्फुरत्तात्मना विज्ञानेनोर्ध्वं द्वादशान्तं यावद्विसरेत् प्रसरेत् ॥३३॥

एतदेव स्फुटयति

भिन्द्याद्भिन्द्यात् परं स्थानं यावत् स्वरवरार्चिते ।
तत्स्थानं चैव संप्राप्य योगी समरसो भवेत् ॥३४॥
निष्कलं भावमापन्नो व्यापकः परमः शिवः ।

परं स्थानं द्वादशान्तम्। भिन्द्यादिति वीप्सया क्रमादित्युक्तिः स्फुटीकृता। समरस इति सर्वस्याधस्तनस्याध्वनस्तन्मयीभावप्राप्तेः। परमः शिव इति, न तु भेदवाद्युक्तव्यतिरिक्तमुक्तशिवरूपः॥

अथ श्लोकार्धेन परमशिवाभेदव्याप्तिमनुवदन् शक्तेरवरोहक्रमेण व्याप्तिमादेष्टुमुपक्रमते—

एवं भूत्वा समं सर्वं निःस्पन्दं सर्वदोदितम्॥३५॥
ततः प्रवर्तते शक्तिर्लक्ष्यहीना निरामया।
इच्छामात्रविनिर्दिष्टा ज्ञानरूपा क्रियात्मिका॥३६॥
एका सा भावभेदेन तस्य भेदेन संस्थिता।

भूत्वेत्यन्तर्भावितणिजर्थः। तेन सर्वं समनान्तम्, एवं द्वादशान्तारोहणेन, समं समरसम्, निःस्पन्दं प्रशान्तकल्लोलम्, सर्वदोदितं प्राप्तपरचित्प्रकाशैक्यम्, भावयित्वा संपाद्य, तत एव द्वादशान्तधाम्नो लक्ष्यहीना परस्फुरत्तात्मा, निष्क्रान्त आमयो महामाया यस्यास्तादृशी महामायाद्युल्लासिका परा शक्तिः, प्रवर्तते समुन्मिषति इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपतया क्रमेण स्फुरतीत्यर्थः। तत एवैका, तस्येति परमशिवस्य, संबन्धिना भावभेदेन एषणीयज्ञेयकार्यावभासनोदयवैचित्र्येण हेतुना, भेदेन संस्थिता गृहीतेच्छादिनानात्वा।

यत एवं परमशिवाच्छक्तिः स्वयं प्रवर्तते, तेन—

खेचरीमुद्रयापूर्य शक्त्यन्तं तत्र सर्वतः॥३७॥
यावच्च नोदितश्चन्द्रस्तावत् सूक्ष्मं निरञ्जनम्।
भावग्राह्यमसंदिग्धं सर्वावस्थोज्झितं परम्॥३८॥
व्यापकं पदमेशानमनौपम्यनामयम्।
भवन्ति योगिनस्तत्तु तदारूढौ वरानने॥३९॥

तत्र—

'बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत्।
दण्डाकारं तु तावत्तन्नयेद्यावत् कखत्रयम्॥
निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु।
एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते॥' (७।१५-१७)

इति श्रीमालिनीविजयलक्षिता पूर्वोद्दिष्टखेचरीमुद्रया शक्त्यन्तं यावत्, सर्वतः सर्वप्रकारेणापूर्य, यावत् तत्र चन्द्र इत्यपानो नोदितो भवेत् तावत् तदारूढौ तच्छक्तिपदारोहे सति, योगिनः, सूक्ष्ममतीन्द्रियम्, निरञ्जनमनावरणम्, भावग्राह्यं स्वप्रकाशम्, असन्दिग्धं स्वविमर्शसारम्, सर्वाभिर्जागराद्यवस्थाभिरुज्झितम् सर्वसामरस्यावस्थानात्परम्, दिग्देशाद्यनवच्छेदाद् व्यापकम्, परमेशानं स्वतन्त्रम्,

अद्वितीयत्वाद् अनौपम्यम्, न विद्यते आमयो महामायावच्छेदो यतो भक्तिभाजां तदनामयम्, यत् परं धाम तद्भवन्ति तन्मया जायन्त इत्यर्थः ॥६६॥

एवं प्राप्तपरतत्त्वाभेदस्य योगिनः 'तत् प्रवर्तते शक्तिः' इत्यनेन योन्मिषन्ती परा शक्तिरुक्ता—

सा योनिः सर्वदेवानां शक्तीनां चाप्यनेकधा ।
अग्नीषोमात्मिका योनिस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते ॥४०॥
तत्र संग्रथिता मन्त्रास्त्राणवन्तो भवन्ति हि ।
सर्वेषां चैव संहारस्तदेव परमं पदम् ॥४१॥
तस्मात् प्रवर्तते सृष्टिर्विक्षोभ्य परमं शिवम् ।
अनौपम्यामृतं प्राप्य बिन्दुं विक्षोभ्य लीलया ॥४२॥
चन्द्रोदये तदा ख्याते परमामृतमुत्तमम् ।
बहलामृतकल्लोलमनन्तं तत्र संस्मरेत् ॥४३॥
तस्मात् प्राप्यामृतं शुद्धं स्वशक्त्या चैव कर्षयेत् ।
मध्यमार्गेण सुश्रोणि कारणादि प्रभेदयेत् ॥४४॥
आप्यायनं प्रकुर्वीत स्थाने स्थाने ह्यनुक्रमात् ।
यावद्ब्रह्मपदं प्राप्तं तस्मादाप्याययेदधः ॥४५॥
जन्मस्थानपथाच्चैव कालाग्नौ तु प्रवर्तयेत् ।
तदापूर्यं समन्तात्तु परिपूर्णं स्मरेत् पुरम् ॥४६॥
सुषुम्नामृतेनाखिलं परिपूर्णं विभावयेत ।
अनन्तनाडिभिस्तत्र रोमकूपैः समन्ततः ॥४७॥
निष्क्रम्य व्यापको भूत्वा ह्यमृतोर्मिभिराकुलम् ।
अमृतार्णवसंरूढं मज्जन्तममृतार्णवे ॥४८॥
तदूर्ध्वे ह्यमृतार्णं तु प्रद्रुतं व्यापकं शिवम् ।
एवं समरसीभूतं ह्यमृतं सर्वतोमुखम् ॥४९॥
इच्छाज्ञानक्रियारूपं शिवमात्मस्वरूपकम् ।
निरामयमनुप्राप्य स्वानुभूत्या विभावयेत् ॥५०॥
अमृतेशपदं सूक्ष्मं संप्राप्यैवामृतीभवेत् ।
तदासावमृतीभूय मृत्युजिन्नात्र संशयः ॥५१॥
कालजित् सुभगो धीरो मृत्युस्तं च न बाधते ।

सर्वदेवानामित्यनाश्रितसदाशिवेश्वरानन्तरुद्रादीनाम्, शक्तीनामिति वामा-ज्येष्ठादीनां ब्राह्म्यादीनां च, गतश्च सा शक्तिरग्नीषोमात्मिका योनिस्तत

एव सोमप्रधाना, यतस्तस्याः सर्वं प्रवर्तते उद्भवति, अत एवाग्नीषोमात्मशक्तिप्रकृति विश्वमग्नीषोममयमेव। तथा चाग्निरप्याह्लादयति हिममपि च दहति, इति तत्त्वविद आहुः। किं च, तत्राग्नीषोमात्मशक्तिधाम्नि संग्रथितास्तद्वीर्यसारत्वेनोच्चारिता मन्त्रास्त्राणवन्तः सिद्धिमुक्तिदाः, इति शक्तेः स्थितिहेतुत्वमुक्तम्। तदेवेत्यग्नीषोमात्मनः शक्तेरग्निरूपत्वात् संहर्तृत्वं च। एवं सृष्टिस्थितिसंहारहेतुत्वं शक्तेः प्रदर्श्य प्रकृतमाहतस्मादिति। यत एवंभूतैषा शक्तिस्तस्मात्परं शिवं विक्षोभ्य समनापदावरोहणेन सृष्ट्युन्मुखं कृत्वा, तत्रानौपम्यमिति परमानन्दमयममृतं प्राप्य, विन्दुमिति महाप्रकाशात्म समनारूढं धाम, लीलया स्वातन्त्र्यक्रीडया, विक्षोभ्य सृष्टिप्रसरोन्मुखं विधाय, तदा चन्द्रोदयेऽपानोल्लासे ख्याते सति, तत एव शाक्ताद्धाम्न उदितं परमामृतमुत्तममानन्दरसप्रधानं बहला अमृतकल्लोलाः सुसितसुधाप्रसरा यस्य तादृक्, अनन्तमनवच्छिन्नम्, तत्र स्मरेद् ध्यायेत्। तस्मात् चन्द्रोदयाच्छुद्धममृतं प्राप्यान्तर्मुखीभूतया स्वशक्त्या मध्यमार्गेण कर्षयेदधोऽधः प्रवर्तयेत्। तेन च कारणादीति कारणानि ब्रह्मादीनि, आदिशब्दात्, पूर्वोक्तं चक्राधारादि सर्वं प्रभेदयेद् निषिञ्चेत्। एतदेवाप्यायनमित्यादिनानेन स्फुटीकृतम्। ब्रह्मस्थानं हृद्धाम यावत्तदमृतं प्राप्तं भवति, ततोऽप्यधो नाभेरधःस्थाने निषिच्य कालाग्न्यन्तमापूर्य समन्तात् परिपूर्णं देहं स्मरेत्। ततः सर्वरोमकूपैः प्रसृत्यान्तर्बहिरासादितव्याप्ति सर्वेन्द्रियचक्रममृतार्णवप्लावनसमरसीभूतपरमामृतरूपम्, इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिकचितं परमशिवरूपं निरामयमात्मानं चिन्तयेत्। एवं सूक्ष्मध्यानाद्विजितमृत्युरासादितपरमसौभाग्योऽमृतेशतुल्यो भवति ॥५१॥

उपसंहरति—

कालस्य वञ्चनं सूक्ष्मं मया ते प्रकटीकृतम् ॥५२॥
न कस्यचिन्मयाख्यातं त्वदृते भक्तवत्सले ॥५३॥

तवैव परानुग्रहैकव्रताया एवं प्रकटीकृतम् ॥५३॥

सूक्ष्मध्यानसमुल्लासिसुधाकल्लोलकेलिभिः।
प्लावयन्निखिलं नौमि नेत्रमुच्चैर्महेशितुः॥

इति श्रीनेत्रोद्द्योते सूक्ष्मध्याननिरूपणं नाम सप्तमोऽधिकारः ॥७॥

□□□□

अष्टमोऽधिकारः

अमन्दानन्दसन्दोहि स्पन्दान्दोलनसुन्दरम् ।
स्वज्योतिश्चिन्महाज्योतिर्नेत्रं जयति मृत्युजित् ।

सूक्ष्मध्यानानन्तरं परध्याननिर्णयाय श्रीभगवानुवाच—

अथ मृत्युञ्जयं नित्यं परं चैवाधुनोच्यते ।
यत्प्राप्य न प्रवर्तेत संसारे त्रिविधे प्रिये ॥१॥

अथशब्दः सूक्ष्मध्यानानन्तर्यंप्रथनाय, नित्यमेव च यन्मृत्युञ्जयं कालग्रासि, परमनुत्तरं परमेशस्वरूपम् । त्रिविध इति मायान्तसदाशिवान्तशिवान्तभवाभवातिभवरूपे ॥१॥

किं च—

योगी सर्वगतो भाति सर्वदृक् सर्वकृच्छिवः ।
तदहं कथयिष्यामि यस्मादन्यन्न विद्यते ॥२॥
यत्प्राप्य तन्मयत्वेन भवति ह्यजरामरः ।

परयोगिनोऽस्य देहादिप्रमातृतास्पर्शाद् जरामरणादिकथैव न काचिदस्तीत्यर्थः ॥

तदेतद्वक्तुमुपक्रमते—

यन्न वाग्वदते नित्यं यन्न दृश्येत चक्षुषा ॥३॥
यच्च न श्रूयते कर्णैर्नासा यच्च न जिघ्रति ।
यन्नास्वादयते जिह्वा न स्पृशेद्यत् त्वगिन्द्रियम् ॥४॥
न चेतसा चिन्तनीयं सर्ववर्णरसोज्झितम् ।
सर्ववर्णरसैर्युक्तमप्रमेयमतीन्द्रियम् ॥५॥
यत्प्राप्य योगिनो देवि भवन्ति ह्यजरामराः ।
तदभ्यासेन महता वैराग्येण परेण च ॥६॥
रागद्वेषपरित्यागाल्लोभमोहक्षयात् प्रिये ।
मदमात्सर्यसंत्यागान्मानगर्वतमःक्षयात् ॥७॥
लभ्यते शाश्वतं नित्यं शिवमव्ययमुत्तमम् ।

पश्यन्त्यादित्रिरूपापि वाग् यन्न भाषते, यच्च बहिरन्तःकरणागोचरः, वर्णयन्तीति वर्णा वाचकाः, वर्ण्यन्त इति वर्णा वाच्याः, सर्वे च ते वर्णास्तेषां

रसाः प्रसरास्तैरुज्झितमवाच्यवाचकात्मेत्यर्थः। अथ च तैः सर्वैर्युक्तं विश्वात्मकत्वात्, अतश्चातीन्द्रियत्वान्न प्रमेयमपि तु परप्रमात्रेकरूपमिति पर्यवसितम्, यदेवंभूतं तत्त्वं प्राप्य समाविश्य,

'योगमेकत्वमिच्छन्ति' मा०वि० (४।४)

इति स्थित्या योगिनः परतत्त्वैकशालिनस्तत्त्वतो जरामृत्युरहिता भवन्ति। तन्महताभ्यासेन—

'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते' (भ० गी० १२।२)

इति सततसमावेशप्रयत्नेन परेण वैराग्येण दृष्टागमिकधराद्यनाश्रितान्तसमस्तभोगवैतृष्ण्येन, अत एव रागद्वेषादिसर्वदोषप्रशमाच्च लभ्यते, मानाच्छङ्करपूजातो यो गर्वो नास्ति मत्तुल्यः कश्चिदिति स एव तमोऽनात्मत्यात्मग्रहरूपमज्ञानं तस्य क्षयात्. शाश्वतमविवर्तात्मकम्, नित्यं लोकोत्तरं शिवं परश्रेयोरूपमव्ययमपरिणामि, अतश्चोत्तमं सर्वोत्कृष्टम् ॥

इयांश्चास्य स्फारोऽयम्—

निमेषोन्मेषमात्रेण यदि चैवोपलभ्यते ॥८॥
ततः प्रभृति मुक्तोऽसौ न पुनर्जन्म चाप्नुयात् ।

केनचिदिति मध्येऽध्याहार्यम् । उपलभ्यते समाविश्यते । ततःप्रभृति न तु कालान्तरे । मुक्तः स्थितैरपि देहप्राणैरगुणीकृतः । न च तद्देहत्यागे पुनर्जन्म देहान्तरसंबन्धमाप्नोति, अपि तु परमशिव एव भवति ॥

ततश्च योगी—

अष्टाङ्गेन तु योगेन प्राप्नुयान्नान्यतः क्वचित् ॥९॥

तमष्टाङ्गयोगमन्यशास्त्रप्रतिपादितरूपवैलक्षण्येन क्रमेणादिशति देवः—

संसाराद्विरतिर्नित्यं यमः पर उदाहृतः ।
भावना तु परे तत्त्वे नित्यं नियम उच्यते ॥१०॥

स्पष्टम् ॥१०॥

मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम् ।
आलम्ब्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत् ॥११॥

प्राणापानमार्गयोः सव्यापसव्ययोरान्तरं मध्यनाड्यां भवं प्राणमित्यूर्ध्वगामिनमुदानमाश्रित्य, ततश्च प्राणीयव्याप्तिनिमज्जनेन चिद्व्याप्त्युन्मज्जनाद् ज्ञानशक्तिमुन्मिषत्स्फुरत्तारूपां संविदमालम्ब्यावष्टभ्य, तत्स्थमेवासनं योगी लभते निजज्ञानशक्त्यासनासीनश्चिन्महेशरूपो भवतीत्यर्थः ॥११॥

प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम् ।
सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यतः ॥१२॥

प्राणायामः स उद्दिष्टो यस्मान्न च्यवते पुनः ।

प्राणादौ प्राणापानसमानेषु यः स्थूलो रेचकपूरकादिर्भावः स्वभावस्तं त्यक्त्वा उज्झित्वा, अथेत्येतत्स्थूलप्राणायामानन्तरभावि, सूक्ष्ममान्तरमिति मध्यपथेन रेचनाचमनादिरूपं च तं त्यक्त्वा, यतो यस्मात् सूक्ष्ममप्यतीतं परममिति प्राणाद्यचित्स्फुरत्तात्म स्पन्दनं लभ्यते, तस्मात्तदेव परं स्पन्दनं यत् स एव स्थूलसूक्ष्मभेदभाजां प्राणानामायामः प्रशमितप्राधान्यावभासात्मा नियम उत्कृष्टतयादिष्टो निरूपितः । यस्मादिति यं प्राणायाममासाद्य न पुनश्च्यवते चित्प्रमातृमयतां न कदाचिज्जहाति ॥

शब्दादिगुणवृत्तिर्या चेतसा ह्यनुभूयते ॥१३॥
त्यक्त्वा तां प्रविशेद्धाम परमं तत्स्वचेतसा ।
प्रत्याहार इति प्रोक्तो भवपाशनिकृन्तकः ॥१४॥

शब्दस्पर्शादीनां गुणानां सत्त्वादिरूपाणां या काचिद्वृत्तिर्दशा चेतसा संविदाऽनुभूयते, तां त्यक्त्वानादरेणापहस्त्य, स्वचेतसा विकल्पसंवित्परामर्शेनैव परचिद्धामप्रवेशो हीति यस्माच्चितिभूमेः प्रसृतस्य चित्तस्य तत्प्रतीपप्रापणात्मा प्रत्याहारोऽतश्च भवपाशानां निकृन्तक ॥१४॥

धीगुणान् समतिक्रम्य निर्ध्येयं चाव्ययं विभुम् ।
ध्यात्वा ध्येयं स्वसंवेद्यं ध्यानं तच्च विदुर्बुधाः ॥१५॥

धियो बुद्धेः सत्त्वादिगुणान् समतिक्रम्य समावेशेन प्रशमय्य, निर्ध्येयमिति ध्येयेभ्यो नियत्याकृत्यादिरूपेभ्यो निष्क्रान्तं, निष्क्रान्तानि च तानि यष्मात् तम्, विभुं व्यापकमव्ययं नित्यम्, स्वसंवेद्यं स्वप्रकाशम्; ध्येयं ध्यानार्हमथ चाध्येयमध्येतव्यम् विमृष्टव्यं स्मर्तव्यं च, अर्थाच्चिदानन्दघनं परमेश्वरं ध्यात्वा विमृश्य ये बुधास्तत्त्वज्ञास्ते, तच्चेति तद्विमर्शात्मैव, ध्यानं विदुरविच्छिन्नेन पारम्पर्येण जानन्ति । च एवार्थे ॥१५॥

धारणा परमात्मत्वं धार्यते येन सर्वदा ।
धारणा सा विनिर्दिष्टा भवबन्धविनाशिनी ॥१६॥

येन योगिना सर्वदा परमात्मत्वं चैतन्यं धार्यते समावेशेनावलम्ब्यते, तस्य या धारणा चैतन्यविमर्शनात्मा वृत्तिः, सा भवबन्धविनाशहेतुर्धारणान्यधारणावैलक्षण्येनविनिर्दिष्टा ॥१६॥

एवं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणा लोकोत्तरदृष्ट्या प्रतिपाद्य, समाधिमपि परस्वरूपविशयशाक्ताशाम्भवोपायप्राप्यमनुपायं चादिशति श्लोकचतुष्केण—

समं सर्वेषु भूतेषु आधानं चित्तनिग्रहः।
समाधानमिति प्रोक्तमन्यथा लोकदाम्भिकम् ॥१७॥

सर्वप्राणिषु चित्तस्य समं वैषम्यप्रतिपत्तिनिग्रहात्म आधानं चित्तनिग्रहः समाधानमिति चोक्तम्। स्वात्मतुल्यताचिन्तनं यत्तत्समाधानं प्रोक्तम्। अन्यथा लोचननिमीलनादिप्रकारेणैतद्विपरीतं यत् समाधानं तत् लोकदम्भैकप्रयोजनम् ॥१७॥

एतद्ध्यानोपायकमाणवं समाधानम्, शुद्धविकल्पोपायं शाक्तम्। तदाह—

स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन् समानधीः।
शिवोऽहमद्वितीयोऽहं समाधिः स परः स्मृतः ॥१८॥

सर्वमिदमहमेव, इत्यहन्तेदन्तासामानाधिकरण्यात्मशुद्धविद्योत्थाध्यवसायरूपः परः समाधिः स्मृतः पारम्पर्यतः प्रसिद्धः ॥१८॥

अथैकवारोपायप्राप्यमपि पुनरुपायानपेक्षतयानुपायं सततोदितं समाधिमादिशति—

सम्यक्स्वरूपं संवेद्यं संविद्रूपं स्वभावजम्।
स्वसंवेद्यस्वरूपं च समाधानं परं विदुः ॥१९॥

सम्यगेकवारोपा यतः संवेद्यं स्फुरितं यत्स्वाभाविकं संविद्रूपं चकासच्चिद्धाम, तत् स्वसंवेद्यस्वरूपमिति स्वप्रकाशं नित्योदितत्वेनाव्युत्थानं समाधानम् ॥१९॥

अविकल्पोपायं शाम्भवं समाधिमाह—

राशिभ्यां चिज्जडाभ्यां च विचार्य निपुणं पदम्।
यन्नित्यं शाश्वतं रूपं समाधानं तु तद्विदुः ॥२०॥

जडराशिर्भुवनभावदेहादिः। चिद्राशिः सकलप्रलयाकलविज्ञानाकलमन्त्रमन्त्रेशमन्त्रमहेशशिवाख्यः प्रमातृवर्गः। ततो मध्यात् पदं विश्वप्रतिष्ठास्थानं निपुणं विचार्य बाढं विमृश्य यन्नित्यमविनाशि शाश्वतं विवर्तपरिणामशून्यं सदा स्वप्रकाशं च रूपमर्थात् स्फुरति, तत्समाधानं विदुस्तत्त्वज्ञाः ॥२०॥

'अष्टाङ्गेन तु योगेन इत्युपक्रान्तमुपसंहरन् प्रकृते योजयति—

एवमष्टाङ्गयोगेन स्वभावस्थं परं ध्रुवम्।
दृष्ट्वा वञ्चयते कालममृतेशं पर विभुम् ॥२१॥
मृत्युजित् स भवेद्देवि न कालः कलयेच्च तम्।

एवमित्युक्तरूपेण न त्वन्यशास्त्रोक्ताहिंसासत्याद्यात्मना, परममृतेशं चिन्नाथं परं विभुमनाश्रितान्ताशेषकारणस्वामिनम्, दृष्ट्वा कालं वञ्चयति, अकालकलितचिदानन्दैकघन एव जायते। अत एव तत्त्वतोऽयमेव संकोचात्ममृत्यु-

विदलनाद् मृत्युजित् । सुचिरमपि स्थिरीकृतदेहस्तु न वस्तुतो मृत्युजिदित्याशयशेषः ॥

किं च—

तत्त्वषट्त्रिंशतस्त्यागाद्भुवनानन्त्यवर्जनात् ॥२२॥
एकाशीतिपदोर्ध्वं वै वर्णपञ्चाशतः परम् ।
व्यापकं सर्वमन्त्रेषु सर्वेष्वेव हि जीवनम् ॥२३॥
अष्टात्रिंशत्कलोर्ध्वं तु सर्वान्तः सर्वमध्यगम् ।
आदिर्मध्यं न चैवान्तो लभ्यते यस्य केनचित् ॥२४॥
तदप्रमेयमतुलं प्राप्य सर्वं न लभ्यते ।

पृथ्व्यादिशिवान्तानि तत्त्वानि, कालाग्न्याद्यनाश्रितान्तानि भुवनानि च त्यक्त्वा नवात्मादिप्रक्रियया प्रणवादिपदानामकारादिवर्णपञ्चाशत ईशानपुरुषाघोरादिकलाष्टात्रिंशतश्चोर्ध्वं सर्वमन्त्रव्यापकम्, एवं च षड्विधाध्वोत्तीर्णम्, अतश्च सर्वजीवितभूतं सर्वेषामन्तः पूर्वापरकोटयात्म, तन्मयत्वादेव च विश्वस्य सर्वमध्यगतम्, न चास्य केनाप्यादिमध्यान्ता लभ्यन्ते दिक्कालादिकथोत्तीर्णत्वात्, अतश्चाप्रमेयम्, अद्वितीयत्वादतुलम्, प्राप्य षड्विधाध्वमयदेहप्राणाद्युल्लङ्घनेन योगिभिरासाद्य, सर्वमित्यध्वप्रपञ्चात्म निखिलं न लभ्यते न प्राप्यते तेन प्राग्वत् नाव्रियते, अथ च काक्वा सर्वं न लभ्यते, अपितु लभ्यते, सर्वसर्वात्मामृतेशभैरवताविद्यत इत्यर्थः ॥

तथा—

येनैकेन जगत् सर्वमप्रमेयेन पूरितम् ॥२५॥
तज्ज्ञात्वा मुच्यते क्षिप्रं घोरात् संसारबन्धनात् ।

ज्ञात्वा दार्ढ्येन निश्चित्य ॥

अपिच—

तत्त्वत्रयविनिर्मुक्तं शाश्वतं चाचलं ध्रुवम् ॥२६॥
दिव्येन योगमार्गेण दृष्ट्वा भूयो न जायते ।
सर्वेन्द्रियविनिर्मुक्तमवेद्यं चाप्यनामयम् ॥२७॥

तत्त्वत्रयं नरशक्तिशिवाख्यम् । शाश्वतं विवर्तवाद इव नासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहि, अचलमपरिणामि, ध्रुवं नित्यम्, इन्द्रियविनिर्मुक्तमनामयमिति मायेन्द्रियानावृतम्, अवेद्यं च, दिव्येन योगमार्गेण विकल्पहानोन्मिषदविकल्पविमर्शावष्टम्भोपायेन, दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य, न पुनर्जन्मेति ॥२७॥

एवमाणवेन शाक्तेन शाम्भवेन चोपायेनासादितं परं तत्त्वं मुक्तिदं न केवलमिहैवोपादेयमुक्तम्, यावत् सर्वशास्त्रेषु इत्याह—

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु कथ्यते ॥२८॥

यत् सर्वैः समनान्तैरुपाधिभिरवच्छेदकैर्विशेषेण वर्जितं तत्संकोचासंकुचितं चैतन्यमात्मनो ग्राहकस्य रूपम्, तदेव परमात्मनः परमशिवस्य स्वरूपम्, न तु व्यतिरिक्तं यथा भेदवादिनो मन्यन्ते। अत एव शिवोऽहमद्वितीयोऽहमिति तात्त्विकसमाधिनिर्णयावसरे उक्तम्। सर्वशास्त्रेषु चैतत्कथ्यते, न तु क्वचिदेवेत्यनेन सिद्धान्तानामपि रहस्याद्वयसारता अन्तःसंभवन्त्यपि गाढप्ररूढसांसारिकद्वैतवासनानां न स्फुटीकृता। यथोक्तं श्रीकुलपञ्चाशिकायाम्—

'यन्नास्ति सर्वलोकस्य तदस्तीति विरुध्यते ।
निगद्यते यदा देवि हृदये न प्ररोहति ॥
एतस्मात् कारणाद्देवि देवताभिः प्रगोपितम् ।
तेन सिद्धेन देवेशि किं न सिद्धयति भूतले ॥'

इति। तत एव समस्तशैवशास्त्रसारसंग्रहरूपेषु शिवसूत्रेषु 'चैतन्यमात्मा' इति प्रारम्भ एवोक्तम् ॥२८॥

एवंभूतमपि चैतदात्मनो रूपम्—

निर्मलं न भवेद्देवी यावच्छक्त्या न बोधितम् ।
'शैवी मुखमिहोच्यते' (२०)

इति श्रीविज्ञानभट्टारकादिष्टनीत्या परमेश्वरस्यैव शक्त्यां शक्त्याभासात्मनोऽणोः स्वस्फुरत्ताप्रवेशनयाऽणुत्वं निमज्ज्य, परमशिवत्वमुन्मील्यते ॥

ननु दीक्षयाभिव्यक्तशिवत्वा अपि मुक्तशिवा भिन्ना एव परमशिवात्, तत्कथं परमात्मस्वरूपैक्यमात्मचैतन्यस्योक्तमित्याशङ्कां शमयति—

दीक्षाज्ञानादिना शोध्यमात्मानं चैव निर्मलम् ॥२९॥
ये वदन्ति न चैवान्यं विन्दन्ति परमं शिवम् ।
त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं पदम् ॥३०॥

दीक्षाज्ञानयोगचर्याभिः शोध्यमात्मानं निर्मलमन्यमेव परमशिवाद् व्यतिरिक्तमेव वदन्ति, न तु परमशिवं विन्दन्ति परमशिवरूपं नासादयन्ति, ते आत्मोपासकाः शुद्धात्मतत्त्वाराधकाः शैवे यत् परं पदं परमशिवत्वम्, तन्न गच्छन्ति नाप्नुवन्ति। यदि तु कदाचित् तीव्रशक्तिपाताद्गच्छन्ति, तच्छैवेन शिवादिष्टाद्वयज्ञानेनैव न त्वन्येन ज्ञानेनेति सप्तमीतृतीये तन्त्रेण योज्ये। तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे समनान्तस्थशुद्धात्मनिर्णयावसरे—

'अविदित्वा परं तत्त्वं शिवत्वं कल्पितं तु यैः ।
त आत्मोपासका शैवे न गच्छन्ति परं शिवम् ॥' (४।३६२)

इति ॥३०॥

एतदेव भङ्ग्यन्तरेण स्फुटयति—

यद्वा तु परमा शक्तिः सर्वदिगुणान्विता ।
आपादादिविकासिन्या न विकास्येत निर्मला ॥३१॥
तावन्न निर्मलो ह्यात्मा बद्धः शैवे तदीच्यते ।

तावच्छब्दापेक्षया यावच्छब्दोऽध्याहार्यः । तेनापादादि पाङ्गुष्ठात्प्रभृति विकासिन्या प्राणप्राधान्यनिमज्जनेन चित्प्राधान्यमुन्मज्जयन्त्या दीक्षाज्ञानादिरूपया अनुग्राहिकया शक्त्या यावत् सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वस्वतन्त्रताद्यात्मा परमा शक्तिर्न विकास्तेत नोन्मिष्येत, न तावदात्मा जीवो निर्मलः । यदा चैवं तदा शैवेऽसावात्मा जीवन्मुक्तेरनासाद्वाद्बद्ध एवाख्यते ॥

विकासितायाः शक्तेः स्वरूपं दर्शयति—

यत्रस्थः पुरुषः सर्वं वेत्त्यतीतमनागतम् ॥३२॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ।

इन्द्रियाण्यन्तर्मुखीकृत्य यत्र तुटिपातात्मनि आद्योन्मेषस्थितौ लब्धावस्थितिर्योगी, अतीतानागतादि सर्वं वेत्ति, तत् प्रतिभात्म तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ॥

तथा—

यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं वापि प्रवर्तते ॥३३॥
क्रियाकृत्यस्वरूपा वा तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणम् ।

न कृत्यं निष्पाद्यं स्वरूपं यस्यास्तादृश्यकृत्रिमा निर्विकल्पा इच्छा ज्ञप्तिः स्फुरत्तात्मा क्रिया वा यत्र यत्रावसरे प्रवर्तते, तत्र तत्र तद् एषणीयाद्यनारूषितशुद्धेच्छादिमात्रात्मतत्त्वं शक्तिलक्षणम् ॥

तथा—

व्यापकस्य यतो देवि चिद्रूपस्यात्मनः शिवात् ॥३४॥
प्रसरत्यद्भुतानन्दा सा शक्तिः परमा स्मृता ।

व्यापकचिन्मात्रमयतामात्मनो भावयतो योगिनो या आश्चर्यरूपा आनन्दात्मा शक्तिः शिवात् प्रसरत्युन्मिषति, सा परमा स्मृता तत्तत्त्वं शक्तिलक्षणमित्यर्थः ॥

एवं लक्षितशक्त्यवष्टम्भविस्फारेण—

विप्रसार्य तमात्मानं सर्वज्ञादिगुणैर्गुणी ॥३५॥

साभासः कथ्यते देवि शिवः परमकारणम् ।

सर्वज्ञादिगुणैरिति तद्विमर्शनेनात्मानं विप्रसार्य

'बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा पतः प्रकाशावरणक्षयः' (यो० सू० ३।४३)

इति स्थित्या विकास्य यो योगी तैरेव सर्वज्ञत्वादिगुणैर्गुणी संपन्नः, स सर्वज्ञत्वाद्याभासविमर्शनादेव साभासः शिवः कथ्यते ।।

एतदेव स्फुटयति—

सर्वज्ञः परितृप्तश्च यस्य बोधो ह्यनादिमान् ।।३६।।

स्वतन्त्रो ह्यप्रलुप्तश्च यश्च वानन्तशक्तिकः ।

शक्तिमान् गुणभेदेन स्वगुणान् विन्दते गुणी ।।३७।।

पृथग्भेदविभेदेन नानात्वं विमृशेदिह ।

स साभास इति प्रोक्तो निराभासस्तु कथ्यते ।।३८।।

परितृप्तो नैराकांक्ष्येण चिदानन्दघनः, अनादिमान् न तु भावनोत्थः, स्वतन्त्रो न तु भेदेश्वरात् कर्ममलपरिपाकाद्यपेक्षः, अप्रलुप्तो न तु ब्रह्मादिवत् स्वापाद्यावृतः, अनन्तशक्तिकः

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं'

इति स्थित्या मरीचिरूपाशेषविश्वशरीरः, शक्तिमानिति समुत्पन्नयथालक्षितपरशक्तिस्वरूपः, गुणानां सत्त्वरजस्तमसां भेदेन चिद्भुवि देहादिप्रमातृतानिमज्जनोत्थेन विदारणेन, स्वगुणान् सर्वज्ञत्वादीन् लभते । तैरेव च गुणैर्गुणी, भेदानां सर्वज्ञत्वादिविशेषाणां व्याख्यातदृशा व्यावृत्तिकृतो यः पृथग्विभेदस्तेन नानात्वं विचित्राभासरूपतां य आत्मनो विमृशेत्, स साभास इत्युक्तः । निराभासस्तु उच्यते ।।

तमाह—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति निराभासस्तदा भवेत् ।

सावस्था परमा प्रोक्ता शिवस्य परमात्मनः ।।३९।।

आभासेभ्यो ग्राह्यग्राहकविमर्शात्मकेभ्यो निष्क्रान्तः चिद्विमर्शैकपरमार्थः ।

तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

'सर्वथा त्वन्तरालीनानन्ततत्त्वौघनिर्भरः ।

शिवश्चिदानन्दघनः परमाक्षरविग्रहः ।।' (४-१।१४)

इति ।।३९।।

एतद्दशासमापन्नस्य च योगिन ईदृशी स्फुरत्तेत्याह—

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते ।

आनन्दपदसंलीनं मनः समरसीगतम् ।।४०।।

अहमिति देहादिर्ग्राहकः । अन्यो मद्व्यतिरिक्तो नीलादिः । ध्येयत्यनुग्राहकत्वेन बुध्योपस्थापितम् ॥४०॥

एतत्पदलाभाय शाम्भवोपायमादिशति देवः—

नोर्ध्वे ध्यानं प्रयुञ्जीत नाधस्तान्न च मध्यतः ।
नाग्रतः पृष्ठतः किञ्चित् पार्श्वयोरुभयोरपि ॥४१॥
नान्तःशरीरसंस्थाने न बाह्ये भावयेत् क्वचित् ।
नाकाशे बन्धयेल्लक्ष्यं नाधो दृष्टिं निवेशयेत् ॥४२॥
न चाक्ष्णोर्मीलनं किञ्चिन्न किञ्चिद् दृष्टिबन्धनम् ।
अवलम्बं निरालम्बं सालम्बं न च भावयेत् ॥४३॥
नेन्द्रियाणि न भूतानि शब्दस्पर्शरसादि यत् ।
सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थः केवलं तन्मयो भवेत् ॥४४॥

ऊर्ध्वे द्वादशान्ते, अधः कन्दादौ, मध्ये हृदादौ, अग्रतः पृष्ठतः पार्श्वयोः, तत्पुरुषसद्योजातादिरूपम् । अन्तःशरीर इति—

'आमूलात्किरणाभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम् ।
चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ॥ (वि० भै० २८)

इतिवत्, न वाह्य इति—

'वस्त्वन्तरे वेद्यमाने सर्ववेद्येषु शून्यता ।
तामेव मनसा ध्यायन् विदितोऽपि प्रशाम्यति ॥' (वि० भै० १२२)

इतिवत्, नाकाश इति—

तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे शवलीकृते।
दृष्टिं निवेश्य तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते ॥ (वि० भै० ७६)

इतिवत्, नाध इति—

कूपादिके महागर्ते स्थित्वोपरि निरीक्षणात् ।
अविकल्पमतेः सम्यक् सद्यश्चित्तलयः स्फुटम् ॥ (वि० भै० ११५)

इतिवत्, न चाक्ष्णोर्मीलनमिति—

एवमेव निमील्यादौ नेत्रे कृष्णाभमग्रतः ।
प्रसार्य भैरवं रूपं भावयंस्तन्मयो भवेत् ॥ (वि० भै० ८८)

इतिवत्, न दृष्टिबन्धनमिति—

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादिदेशे दृष्टिं विनिक्षिपेत् ।
निलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते ॥ (वि० भै० ६०)

इतिवत्, अवलम्ब्यत इति अवलम्बो ध्येय आकारस्तम्—

भावे त्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत् ।
तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यतिभावना ॥ (वि० भै० ६२)

इतिवत्, निरालम्ब इति—

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ज्ञात्वा मध्यं समाश्रयेत् ।
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते ॥ (वि० भै० ६१)

इतिवत्, सहालम्बेन वर्तते सालम्बं साकारं ज्ञानम्—

'इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत् ।
तत्र बुद्ध्यानन्यचेतास्ततः स्यादात्मदर्शनम् ॥' (वि० भै० ९८)

इतिवत् । नेन्द्रियाणि न भूतानीति तत्तद्धारणापटलोक्तनीत्या सर्वं त्यक्त्वा समाधिस्थ इति अकिञ्चिच्चिन्तकत्वेन स्वस्वरूपविमर्शनप्रवणस्तन्मय इत्यानन्दपदसंलीनसमरसज्ञानमयः ॥४४॥

या चैवंभूता दशा—

सावस्था परमा प्रोक्ता परस्य परमात्मनः ।
निराभासं पदं तत्तु तत्प्राप्य विनिवर्तते ॥४५॥

सांसारिकीं स्थितिमुज्झति ॥४५॥

अतश्च यः—

भावयेदेवमात्मानमात्मनो भावनाबलात् ।
स गच्छेत् परमं शान्तं शिवमत्यन्तनिर्मलम् ॥४६॥

आत्मनो निर्विकल्पसंवेदनस्य या भावना विकल्पहानेन संपादना, तस्या यद्बलं विमर्शदार्ढ्यं तेन भावयेत् ॥४६॥

किं च—

तत्तत्त्वमेकं सर्वत्र भवति मृत्युजिच्छिवम् ।
तच्चामृतेशं परमं तृतीयं पदमुत्तमम् ॥४७॥
आख्यातं तव देवेशि किमन्यत् कथयामि ते ।

सर्वत्र क्षित्याद्यनाश्रितान्ते, तदेवैकमद्वितीयम्, तत्त्वं पारमार्थिकं स्वरूपम्, शिवं श्रेयोरूपम्, मृत्युजिद्भवति । तृतीयमिति प्रोक्तस्थूलसूक्ष्मज्ञानद्वयापेक्षया, तवेत्यनुग्रहैकपरायाः किमन्यत् कथयामीति नातोऽन्यद्रहस्यं कथनीयं किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥

एतदुपसंहरति—

एवं मृत्युजिता सर्वं ध्यात्वा व्याप्तं विमुच्यते ॥४८॥

योगी ॥४८॥

एतच्च—

सर्वकालं तु कालस्य वञ्चनं कथितं प्रिये ।

अकालकलितचिद्धामसमावेशोपदेशात् ।।

प्रकृतमुपसंहृत्य पूर्वप्रस्तुतमुपसंहरति—

एवं तु त्रिविधं देवि मया ते प्रकटीकृतम् ।।४९।।

कालस्य वञ्चनं नाम

एष च—

योगः परमदुर्लभः ।

किं च—

अनेनाभ्यासयोगेन मृत्युजिद्भवति नरः ।।५०।।

न केवलमात्मनः, यावत्—

अनेनैव तु योगेन लोकानुग्रहकाम्यया ।

भवते मृत्युजिद्योगी सर्वप्राणिषु सर्वदा ।।५१।।

एतज्ज्ञाननिष्ठो विश्वानुग्रहकरणक्षम इत्यर्थः ।

यत्त्वत्राधिकारे परं ज्ञानमुक्तम्—

एष मृत्युञ्जयः ख्यातः शाश्वतः परमो ध्रुवः ।

अस्मात् परतरो नास्ति सत्यमेतद्ब्रवाम्यहम् ।।५२।।

शिष्याणामत्रार्थे दृढ आश्वासो जायतामित्याशयेनादरादुक्तमर्थमत्युपादेयत्वात् पुनः पुनरादिशति—

यत्परामृतरूपं तु त्रिविधं चोदितं मया ।

तदभ्यासाद् भवेज्जन्तुरात्मनोऽथ परस्य वा ।।५३।।

अमृतेशसमो देवि मृत्युजिन्नात्र संशयः ।

किञ्चेमं मृत्युजिन्नाथम्—

येन येन प्रकारेण यत्र यत्रैव संस्मरेत् ।।५४।।

तेन तेनैव भावेन स योगी कालजिद्भवेत् ।

येन येनेत्याणवेन शाक्तेन शाम्भवेन वा । यत्र यत्रेति नात्र देशकालावस्थादिनियम इत्यर्थः ।।

अयं च योगी—

यत्र यत्र स्थितो वापि येन येन व्रतेन वा ।।५५।।

येन येन च योगेन भावभेदेन सिद्ध्यति ।

येन येन योगेन तत्तत्संहितासु योगपादोक्तेन, भावभेदेनेत्येतत्तत्त्वनिष्ठभावनाविशेषेण ।।

यच्चेदममृतेशनाथाख्यं परं यत्त्वम्—

तदेकं बहुधा देवि ध्यातं वै सिद्धिदं भवेत् ॥५६॥
द्वैताद्वैतविमिश्रे वा एकवीरेऽथ यामले ।
सर्वशास्त्रप्रकारेण सर्वदा सिद्धिदं भवेत् ॥५७॥

एकमिति परात्वयस्वतन्त्रचित्सतत्त्वम्, अत एव बहुधेत्येतत्स्वातन्त्र्यावभासितभाविपटलवक्ष्यमाणश्रीसदाशिवतुम्बुरुभैरवकुलेश्वरादिरूपतया ध्यातं सिद्धिददात्येवेत्यर्थः। परमाद्वैतरूपत्वाच्चास्य नाथस्य द्वैताद्वैतादिसर्वप्रकारक्रोडीकारित्वं न विरुध्यते। वक्ष्यति चैकविंशाधिकारे—

'अद्वैतं कल्पनाहीनं चिद्घनं' (२१।२३)

इति ।.५७॥

किं च—

चिन्तारत्नं यथा लोके चिन्तितार्थफलप्रदम् ।
तथैव मन्त्रराजस्तु चिन्तितार्थफलप्रदः ॥५८॥

अत्रत्य इत्यर्थः ॥५८॥

किं च—

मन्त्राणां सप्तकोटीनामालयः परमो बली ।

तेषामपि पराद्वयैकवीर्यत्वात् ॥

अपि च—

भावहीनास्तु ये मन्त्राः शक्तिहीनास्तु कीलिताः ॥५९॥
वर्णमात्राविहीनास्तु गुर्वागमविवर्जिताः ।
भ्रष्टाम्नायविहीना ये आगमोज्झितविघ्निताः ॥६०॥
न सिद्ध्यन्ति यदा देवि जप्ता इष्टाः सहस्रशः ।
असिद्धा रिपवो ये च सर्वांशकविवर्जिताः ॥६१॥
आद्यन्तसंपुटेनैव साद्यर्णेन तु रोधिताः ।
मन्त्रेणानेन देवेशि अमृतेशेन जीविताः ॥६२॥
सिद्ध्यन्ति ह्यप्रयत्नेन जप्ता इष्टा न संशयः ।
ध्याताः सर्वप्रदा देवि भवन्ति न वचोऽनृतम् ॥६३॥

भावहीना अज्ञातवीर्याः, शक्तिहीनाः साञ्जनाः। यथोक्तम्—

'साञ्जनास्तेऽण्डमध्यस्थाः सात्त्वराजसतामसाः।'

इति। कीलिता व्यत्यस्तवर्णपदाः, गुर्वाम्नायविवर्जिताः शिष्यैः स्वयमेव पुस्तकाद् गृहीताः, भ्रष्टाम्नाया अज्ञातसंहितोत्थानाः, तत एव विनष्टाः, आगमोज्झितैर्विघ्निता नित्यं क्षुद्रसिद्धिविनियोगेन विघ्नाभिभूताः कृताः। असिद्धा

रिपवो ये इति नामाक्षरान्मन्त्राक्षरं मातृकाक्रमेणाङ्गुलिपर्वचतुष्टये पुनःपुनरावर्तनया गण्यमानं यदि द्वितीयं पर्व स्पृशति, तदासिद्धं साध्यं तदुच्यते। यदि तृतीयं पर्व स्पृशति, तदा सुसिद्धं भवति। अथ चतुर्थं पर्वं स्पृशति, तदास्य विरुध्यते। सर्वे अंशका भावस्वभावपुष्पपाताद्याख्याः। एवमादि च श्रीस्वच्छन्दादेर्ज्ञेयम्। एवमीदृशा अपि मन्त्रा नेत्रनाथसंपुटीकारेण इष्टा ध्याता जप्ताश्च सर्वसिद्धिप्रदा भवन्ति। न संशय इति, न वचोऽनृतमिति चोक्त्यानाश्वस्तानामप्याश्वासं रोहयति ॥६३॥

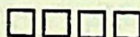
उपसंहरति--

इति सर्वं समाख्यातं रहस्यं परमं प्रिये ॥६४॥

प्रथमाधिकारे यत् परमं रहस्यं प्रश्नितम्, तदित्युक्तदृशा सर्वं समाख्यातमिति शिवम् ॥६४॥

चिदानन्दघनं धाम शाङ्करं परमामृतम्।
मृत्युजिज्जयति श्रीमत् स्वावेशेनोद्धरज्जगत् ॥

अष्टमाधिकारः समाप्तः ॥



नवमोऽधिकारः

स्वच्छस्वच्छन्दचिन्नेत्रं चित्रानुग्रहहेतुतः ।
सदाशिवादिभी रूपैः प्रस्फुरज्जयति प्रभुः ॥

अथाधिकारसंगतिं कुर्वती श्रीदेव्युवाच—

श्रुतं देव मया सर्वं माहात्म्यं मन्त्रनायके ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि यदुक्तं विभुना मम ॥१॥

सर्वागमविधानेन भावभेदेन सिद्धिदम् ।
वामदक्षिणसिद्धान्तसौरवैष्णववैदिके ॥२॥

यथेष्टसिद्धिदं देवं यथेष्टाचारयोगतः ।
तदाख्याहि सुरेशान चिन्तारत्नफलोदयम् ॥३॥

सर्वमुक्तं माहात्म्यमित्यधिकाराष्टकोक्तम् । उक्तमित्यधिकाराष्टके 'येन येन हि योगेन भावभेदेन' (८।५६) इत्यादिना 'सिद्धिदम्' इत्यन्तेन । (८।५७) वामेत्यादि भाव्यधिकारासूत्रणाय । यथेष्ट आचारस्तत्तत्स्रोतोदेवतानां सुप्रसिद्धो न तु संकीर्णः । यद्वक्ष्यति—

'येषु येषु समाचारो मया शास्त्रेषु भाषितः ।
स्रोतःसु स तथा कार्यो विशेषाद्यागहोमयोः ॥' (१६।२१)

इति । चिन्तारत्नादिव फलोदयो यतः ॥३॥

एतन्निश्चयाय श्रीभगवानुवाच—

शृणु सुन्दरि तत्त्वेन परमार्थं वदामि ते ।

प्रश्नितेऽर्थे इत्यर्थात् ॥

तत्र परमाद्वयचिन्मात्रपरमार्थस्याप्यस्य भगवतो यथा तत्तच्चित्रदेवतात्मतोपपन्ना, तथा क्रमेणादिशति—

अमृतेशविधानेन मृत्युजित् कथितं मया ॥४॥

यत् प्रथमाधिकारादौ—

तदेवं परमं देवममृतेशमनामयम् ।
स्वभावस्तत्समुद्दिष्टं व्यापकं शाश्वतं ध्रुवम् ॥५॥

न तस्य रूपं वर्णो वा परमार्थेन विद्यते ।
यस्मात् सर्वगतो देवः सर्वागममयः शुभः ॥६॥

व्यापकः सर्वमन्त्राणां सर्वसिद्धिप्रदायकः ।

तन्निर्णीतमहावीर्यममृतेशं देवं विशेषानुपादानाद् विश्वस्य स्वभावो यत् सम्यगुद्दिष्टम्, न तस्य भावि सदाशिवादिरूपं नाम वा पारमार्थिकमपि तु—

'आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात्'

इति,

'स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः ।
प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ।। (१।५।१६)

इति प्रत्यभिज्ञोद्दिष्टनीत्या पुंसामनुग्रहाय तथावभासितम् । युक्तं चैतद्यस्माद्देवः क्रीडादिमयः, सर्वं गच्छति सर्वरूपतया स्फुरति, तत एव तत्तदुपदेश्योपदेशिनानाशास्त्ररूपः सर्वशास्त्राणां वाक्यैकवाक्यरूपतया परामर्शात्मकभगवदेकरूपत्वात्, अतश्च शुभः पराद्वयश्रेयोमयः । केवलं यत्र परमेश्वरेण सा परा विमर्शमयता न प्रकाश्यते, ते सृष्ट्यादिपात्रवाक्यैकवाक्यतामचेतयमाना अवान्तरवाक्यार्थविश्रान्तास्तत्तन्मितव्याप्तिकशास्त्रविनेयाः । यतश्चोक्तयुक्त्या सर्वागममयो देवस्तत एव सर्वमन्त्रानप्यभेदेन व्याप्य स्थितोऽतश्च सर्वसिद्धिप्रदः ।।

एतद् दृष्टान्तेन घटयति—

निर्मलं स्फटिकं यद्वत् तन्तौ प्रोतं सितादिके ।।७।।
प्रतिबिम्बेत सर्वत्र येन येन हि रञ्जितम् ।
तत्तद् दर्शयतेऽन्येषां न स्वभावेन रञ्जितम् ।।८।।
तथा तथैव देवेशः सर्वागमनियोजितः ।
फलं ददाति सर्वेषां साधकानां हि सर्वतः ।।९।।

प्रतिबिम्बेतेति प्रतिबिम्बं गृह्णीयात् । न स्वभावेनेति स्वच्छैकरूपत्वात्, सर्वागमेषु नियोजितः सर्वात्मत्वात् तत्तदागमोक्तदेवतारूपतया ध्यातः, सर्वेभ्यः साधकेभ्यः फलं ददाति ।।

यत एवम्—

तस्मात् स्रोतःसु सर्वेषु चिन्तामणिरिवोज्ज्वलः ।
भावभेदेन वै ध्यातः सर्वागमफलप्रदः ।।१०।।
शिवः सदाशिवश्चैव भैरवस्तुम्बुरुस्तथा ।
सोमसूर्यस्वरूपेण वह्निरूपधरो विभुः ।।११।।

सर्वेषु स्रोतस्सु उज्ज्वलो भ्राजमानः शिवो भावभेदेनाशयविशेषौचित्येन सदाशिवादिरूपतया ध्यातः सिद्धान्तवामदक्षिणादिशास्त्रोक्तं फलं प्रददाति ।।११।।

युक्तं चैतदित्याह

यतो ज्ञानमयो देवो ज्ञानं च बहुधा स्थितम् ।
नियन्त्रितानां बद्धानां त्राणं तन्नेत्रमुच्यते ।।१२।।

देवः परमेश्वरो ज्ञानमयश्चिन्मात्रपरमार्थः। तच्च ज्ञानं बहुधेति स्वातन्त्र्यात् संकोचमाभास्य नानात्वमाश्रित्य स्थितम्। अतश्च संकोचाभासभाजो ये निगूहितस्वरूपतया नियन्त्रिता आभासिता देवेन तत एव बद्धास्तेषां नानादर्शनोपासाभिः स्वस्वरूपप्रथाहेतुतया यतो देवस्त्राणम्, तस्मान्निरुक्तदृशा नेत्रमुच्यते, न तु चक्षुर्गोलकतया ॥१२॥

अयमेव च—

मृत्योरुत्तारयेद्यस्मान्मृत्युजित्तेन चोच्यते।
अमृतत्वं ददात्येवममृतेश इति स्मृतः ॥१३॥

मृत्योर्देहप्राणादिजवञ्जवीभावात्। अमृतत्वं रुद्रशक्तिसमावेशम् ॥१३॥

एवं सर्वगतो देवो बहुरूपो मणिर्यथा।
सर्वैराराधितो देवि स्वसिद्धिफलवाञ्छया ॥१४॥
सर्वेषां फलदो देवः प्रार्थितार्थविधायकः।

एवमित्युक्तनीत्या। स्वसिद्धिफलवाञ्छयेति तदिच्छावग्राहितत्फलाभिनिवेशतया ॥१४॥

यत एवम्—

तस्माद्भावानुरूपेण साधकः साधने स्थितः ॥१५॥

येन येनैव भावेन तस्य तत्फलदो भवेत्।

भावानुरूपेणाशयानुगुणेन। भावेन भावनाप्रकारेण ॥१५॥

इत्थं चान्तर्बहिर्यागयोः—

यः सदाशिवरूपेण सदा ध्यायति साधकः ॥१६॥
सदाशिवतनुस्तस्य भवतीव सुरेश्वरि।

सदाशिवतनुर्भवति सादाशिवीमिव मूर्तिमनुग्रहायाश्रयति ॥१६॥

उपपन्नं चैतदित्याह—

सर्वास्ता...ह्येष सर्वानुग्रहकारकः ॥१७॥

अतश्च श्रीमदघोरवक्त्रानुगुण्येनायम्—

सद्यो वामो ह्यघोरश्च पुरुषेशानविग्रहः।

ध्यातव्य इति शेषः ॥

अस्य च मन्त्रराजस्य पराद्वैतरूपतया विश्वात्मकत्वादनेनैवाङ्गासनादिन्यस्यमित्याह—

अनेन हृदयादीनि न्यस्तव्यानि वरानने ॥१८॥

अनेनैव तु मन्त्रेण स्वासनं परिकल्पयेत् ।

अनया विशेषोक्त्या पूर्वोक्ताङ्गमन्त्राणामपवादो दर्शितः । एवकारोऽन्यूनातिरिक्ततामाह । शोभनमभेदव्याप्त्यावस्थितम्, स्वं चानन्तान्तमासनं स्वासनम् । यदुक्तं श्रीकालोत्तरे—

'वीजाङ्कुरं पुरा शक्त्या पश्चादानन्तमासनम् ।
अनन्तं चान्तगं कुर्यात् क्रमेणैव षडानन ॥'

इत्यादि ॥

भगवतः सदाशिवाकारं ध्यानमाह—

चन्द्रार्बुदप्रतीकाशं हिमाद्रिनिचयोपमम् ॥१९॥
पञ्चवक्त्रं विशालाक्षं दशबाहुं त्रिलोचनम् ।
नागयज्ञोपवीतं तु व्याघ्रचर्माम्बरच्छदम् ॥२०॥
बद्धपद्मासनासीनं सिद्धपद्मोपरिस्थितम् ।

देवं ध्यायेत् ॥

किं चास्य—

त्रिशूलमुत्पलं वाणमक्षसूत्रं समुद्गरम् ॥२१॥
दक्षिणेषु करेष्वेवं वामेषु शृण्वतः परम् ।
स्फेटकादर्शचापं च मातुलुङ्गं कमण्डलुम् ॥२२॥

स्फेटकमुद्यमनकम् ॥२२॥

किं च—

चन्द्रार्धमौलिनं देवमापीतं पूर्ववक्त्रतः ।

ध्यायेत् ॥

अस्य च—

दक्षिणं कृष्णभीमोग्रं दंष्ट्रालं विकृताननम् ॥२३॥
कपालमालाभरणं जगत्संत्रासकारकम् ।
पश्चिमं हिमकुन्दाभं वामं रक्तोत्पलप्रभम् ॥२४॥
ऊर्ध्ववक्त्रं महेशानि स्फटिकाभं विचिन्तयेत् ।

स्पष्टम् ॥

एवं ध्यात्वा तु देवेशं पूजयेद्विधिपूर्वकम् ॥२५॥

विधिः सिद्धान्तोक्तः प्रकारः ॥२५॥

क्व पूजयेदित्याह—

स्वमूर्तौ स्थण्डिले लिङ्गे जले वा कमलोपरि ।

स्वमूर्तिर्मुख्येत्यादावुक्ता ॥

तत्र च—

ईशानाद्यांश्च सद्योन्तान् स्वदिक्षु प्रतिपूजयेत् ॥२६॥

मूलमन्त्रेणैव ईशानपूर्वादिदिक्षु ईशानादिवक्त्रावरणक्रमेण प्रपूजयेत् ॥२६॥

तदग्रे—

आग्नेय्यादौ हृदादीनि न्यस्येत् पूजाविधानतः ।

पूजाविधिनिमित्तमग्नीशरक्षोवायुविदिक्षु हृच्छिरःशिखाकवचानि, पूर्वादिदिक्चतुष्टयेऽस्त्रम्, देवाग्रे नेत्रमितीत्थमङ्गानि न्यस्येत् । तदुक्तं तत्रैव—

'आग्नेय्यां हृदयं न्यस्येदैशान्यां तु शिरस्तथा ।
नैरृत्यां तु शिखां न्यस्येद्वायव्यां कवचं तथा ॥
अस्त्रं दिक्ष्वथ विन्यस्येत् कर्णिकायां सदाशिवम् ।' (कालो० ७।७-८)

इति । नेत्रस्य ज्योतीरूपतया प्राधान्यात् कर्णिकाग्रे स्थानम् । यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'ज्योतीरूपप्रतीकाशं नेत्रं मध्ये तु संस्थितम् ।' (२।१११)

इति ॥

यदा चैवं पूजयेत् कश्चित्—

तदा सिध्यत्यसंदेहं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥२७॥

आराधकवर्गं इति शिवम् ॥

परानुग्रहहेवाकाश्रितसादाशिवाकृति ।
मृत्युजिज्जयति श्रीमच्छाङ्करं नेत्रमद्वयम् ॥

नवमोऽधिकारः समाप्तः

———

दशमोऽधिकारः

पाशराशिकवलीकृतिदक्षं दक्षिणं वपुरघोरममोघम् ।
भैरवं श्रयदनुग्रहहेतोः शाङ्करं जयति नेत्रमणुत्रम् ॥

पूर्वोद्दिष्टभैरवात्मतां भगवतो निर्णेतुं श्रीभगवानुवाच—

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि भैरवागमभेदितम् ।
भिन्नाञ्जनचयप्रख्यं कल्पान्तदहनात्मकम् ॥१॥
पञ्चवक्त्रं शवारूढं दशबाहुं भयानकम् ।
क्षपामुखगणप्रख्यं गर्जन्तं भीषणस्वनम् ॥२॥
दंष्ट्राकरालवदनं भ्रुकुटीकुटिलेक्षणम् ।
सिंहासनपदारूढं व्यालहारैर्विभूषितम् ॥३॥
कपालमालाभरणं दारितास्यं महातनुम् ।
गजत्वक्प्रावृतपटं शशाङ्ककृतशेखरम् ॥४॥
कपालखट्वाङ्गधरं खड्गखेटकधारिणम् ।
पाशाङ्कुशधरं देवं वरदाभयपाणिकम् ॥५॥
वज्रहस्तं महावीरं परश्वायुधपाणिकम् ।
भैरवं पूजयित्वा तु तस्योत्सङ्गगतां स्मरेत् ॥६॥
प्रलयाग्निसमाकारां लाक्षासिन्दूरसप्रभाम् ।
ऊर्ध्वकेशीं महाकायां विकरालां सुभीषणाम् ॥७॥
महोदरीं पञ्चवक्त्रां नेत्रत्रयविभूषिताम् ।
नखरालां कोटराक्षीं मुण्डमालाविभूषिताम् ॥८॥
भैरवोक्तभुजां देवीं भैरवायुधधारिणीम् ।
इच्छाशक्तिरिति ख्यातां स्वच्छन्दोत्सङ्गगामिनीम् ॥९॥
अघोरेशीति विख्यातामेतद्रूपधरां स्मरेत् ।

भैरवागमेषु दक्षिणस्रोतःसमुत्थेषु स्वच्छन्दचण्डत्रिशिरोभैरवादिषु भेदितं भेदसंहारित्वेन दीप्तविशिष्टरूपतया प्रतिपादितं भगवतो मृत्युजितः स्वरूपं वक्ष्यामि। भिन्नेत्यादिना भेदसंहर्तृत्वेनातिकृष्णमहादीप्तरूपतोक्ता। शवोऽत्र सदाशिवः। यथोक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'ब्रह्मविष्णुमहेशानं शवान्तं परिकल्पयेत्।' (१।३९)

इति। गर्जन्तमिति नादामर्शपरम्। दारितं व्यात्तमाननं यस्य। गजत्वगेव प्रावृतः प्रावरणीकृतः पटो येन। कपालेत्यादि सव्यापसव्यक्रमेण दशभुजत्वनिर्णयाय। पूजयित्वेति अनेनैव मन्त्रेण हृदाद्यङ्गसहितमुक्तवक्ष्यमाणस्थित्या अमुष्यैव सर्वत्राधिकारात्। कोटराक्षीमित्यन्तर्लक्ष्यां बहिर्दृष्टिं च। इच्छाशक्तिरित्यनेनाकृतिमत्त्वेऽपि परव्याप्तिसारत्वमुक्तम्। न विद्यते घोरं भेदात्म भेदाभेदप्रधानं च रूपं यासां पराद्वयधामप्रथनात्मकानुग्रहकर्त्रीणाम्, ता अघोरा मरीचिरूपाः शक्तयस्तासामीशीं स्वामिनीं स्मरेत् पूजार्थं ध्यायेत्। यदत्र भैरवाकृतौ रहस्यमस्ति, तच्छ्रीस्वच्छन्दोद्द्योते वितत्य मया दर्शितम् तद्वदाकृत्यन्तरेष्वपि ज्ञेयम्। शिष्टं स्पष्टम्॥

एतच्च परचिदात्मकस्वच्छन्दभैरवतदिच्छाशक्त्यात्मभैरवीयामलस्वरूपं मया—

सर्वतन्त्रेषु च प्रोक्तं प्रच्छन्नं स्फुटीकृतम्॥१०॥

सिद्धान्तेष्वपि निष्कलस्वतन्त्रपारमेशव्याप्तेर्भावात्॥१०॥

केवलं गूढत्वात् तत्र—

ममाशयो न केनापि लक्षितो भुवि दुर्लभः।

स्थूलदृशो हि न रहस्यमाम्रष्टुं क्षमाः।

तथा च श्रीकालोत्तरेऽपि—

'नादाख्यं यत्परं वीजं' (१।५)

इत्यादि,

'पञ्चैतानि तु तत्त्वानि यैर्व्याप्तमखिलं जगत्' (८।२)

इति,

'एवं ज्ञात्वा महासेन श्वपचानपि दीक्षयेत्'

इत्याद्यतिरहस्यमन्यथा व्याकुप्येत॥

एतत् प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह—

व्याधिनिग्रहणाद्येषु पापेषु क्षयहेतवे॥११॥

गोब्राह्मणेषु रक्षार्थं शान्तौ पुष्टौ सदा यजेत्।

व्याधिकृतं निग्रहणमाक्रमणम्। आदिशब्दादाकाशादयः। तेषु पापेषु शान्तये रक्षाशान्तिपुष्ट्यर्थं चैतद्भैरवयामलं यजेत। गोब्राह्मणेष्वित्येतदन्ताः सप्तम्यः षष्ठ्यर्थे॥

अथवा हिमकुन्देन्दुमुक्ताफलसमद्युतिम्॥१२॥

चन्द्रकोटिसमप्रख्यं स्फटिकाचलसंनिभम् ।

भैरवयामलं ध्यायेत् ॥

कल्पान्तदहनप्रख्यं जपाकिंशुकसंनिभम् ॥१३॥
सूर्यकोटिसमाकारं रक्तं वा तमनुस्मरेत् ।
अथवा पद्मरागाभं हरितालसमद्युतिम् ॥१४॥

एकः कथं नानेत्याशङ्क्याह—

इच्छारूपधरं देवमिच्छासिद्धिफलप्रदम् ।

चिद्भैरव एव तत्तत्सिध्द्यभिलाषुकतत्तत्साधकाशयेनेच्छया तत्तद्रूपं गृह्णातीत्यर्थः ॥

अतश्च—

यादृशेनैव वपुषा साधकस्तमनुस्मरेत् ॥१५॥
तादृशं भजते रूपं तादृक्सिद्धिप्रदं शुभम् ।

'चन्द्रकोटि' (१०।१३) इत्यादिरूपं देवं न प्राग्वत् शवारूढम्, अपि तु—

पद्ममध्यस्थितं ध्यायेत् पूजयेद्विधिना ततः ॥१६॥
यथानुरूपनैवेद्यपुष्पधूपासवैर्विभुम् ।

विधिर्निरोधार्घदानादिः । यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'पश्चादर्घः प्रदातव्यः सुरया सुसुगन्धया ।' (२।१३६)

इत्यादि । यथानुरूपं ध्यानानुसारि ॥१६॥

प्रोक्तभैरवयामलस्य संमुखं प्राग्दक्षिणपश्चिमवामदिक्षु सिद्धारक्ताशुष्कोत्पलहस्ताख्या देवीः क्रमेणादिशति—

गोक्षीरसदृशीं देवीं हारहाससमप्रभाम् ॥१७॥
सुशुद्धस्फटिकप्रख्यां कुन्देन्दुशशिनिर्मलाम् ।
चतुर्भुजां त्रिनेत्रां च वक्त्रैकेन विभूषिताम् ॥१८॥
सिताम्बरधरां देवीं सितहारविभूषिताम् ।
सारङ्गासनसंस्थां तु वज्रहस्तां महाबलाम् ॥१९॥
पाशाङ्कुशधरां देवीं घण्टाध्वनिनिनादिनीम् ।
पूर्वस्यां दिशि तिष्ठन्तीं देवदेवस्य संमुखीम् ॥२०॥
यस्तु ध्यायति युक्तात्मा क्षिप्रं सिध्द्यत्यसौ नरः ।

इन्दुः कर्पूरम् । सारङ्गो हरिणः । देवाभिमुख्येन दिक्पूर्वा ॥

सिद्धामुक्त्वा, रक्तामाह—

सूर्यकोटिसमप्रख्यां ज्वलिताग्निसमप्रभाम् ॥२१॥
सिन्दूरराशिसदृशीं विद्युद्रूपां भयङ्कराम् ।
त्रिनेत्रां भीमवदनां स्थूलकायां महोदरीम् ॥२२॥
लम्बोदरीं लम्वकुचां प्रेतारूढां महाबलाम् ।
कपालमालाभरणां व्याघ्रचर्मकटिस्थलाम् ॥२३॥
गजचर्मोत्तरीयां च मुण्डमालाविभूषिताम् ।
महोल्कामिव राजन्तीं भासयन्तीं दिगम्बराम् ॥२४॥
चतुर्भुजामेकवक्त्रां खड्गखेटकधारिणीम् ।
कपालखट्वाङ्गधरां दक्षदिक्संस्थितां स्मरेत् ॥२५॥

दिगम्बरामिति गजचर्मोत्तरीयामित्येतदपेक्षोऽयमर्थाद्विकल्पः ॥२५॥

शुष्कामाह—

कृष्णारुणां महादीप्तां निर्मांसां विकृताननाम् ।
सुशुष्कां कोटराक्षीं च एकवक्त्रां चतुर्भुजाम् ॥२६॥
त्रिनेत्रां भीमवदनां व्यालहारविभूषिताम् ।
ऊर्ध्वकेशीं महाकायां मुण्डमालाविभूषिताम् ॥२७॥
स्नायुरज्जुनिबद्धाङ्गीं नरचर्मकटिच्छदाम् ।
व्याघ्रचर्माम्बरधरां खड्गखेटकधारिणीम् ॥२८॥
अन्त्रासृङ्मांससंपूर्णपिटकं बिभ्रतीं करे ।
त्रोटयन्तीं महान्त्राणि पश्चिमायां दिशि स्मरेत् ॥२९॥
कुम्भीरासनसंस्थां तु देवदेवस्य संमुखाम् ।

सुशुष्कत्वादेव स्नायुरज्जुषु निवद्धान्यङ्गानि यस्याः, पिटकं पात्रविशेषः ॥
आसनेऽस्याः यः कुम्भीर उक्तः, स चैवमधुनोच्यते—

उष्ट्रग्रीवो गजस्कन्धो ह्यश्वकर्णो हुडाननः ॥३०॥
व्याडजङ्घोपमाकारो वज्रायुधनखोपमः ।
कूर्मपृष्ठो मीनपुच्छः कुम्भीरः परिकीर्तितः ॥३१॥

हुडस्य मेषस्येव आननं यस्य । वज्राख्येनायुधेन नखोपमा यस्य ॥३१॥

उत्पलहस्तामाह—

नीलोत्पलदलश्यामा शारदाम्बरसंनिभा ।
त्रिनेत्रा चैकवक्त्रा च नीलाम्बरविभूषिता ॥३२॥
सिंहपृष्ठसमारूढा शरचापकरोद्यता ।
शक्तिहस्ता महादेवी ध्याता चेष्टफलप्रदा ॥३३॥

सिद्धा रक्ता तथा शुष्का तथा चोत्पलहस्तिका ।
चतुर्दिक्षु स्थिता देव्यो भैरवस्य गणाम्बिके ॥३४॥

किं च—

विदिक्षु दूत्यो विन्यस्या वह्न्यादीशदिगन्ततः ।
काली चैव कराली च महाकाली तथैव च ॥३५॥
भद्रकालीति विख्याता देवीरूपेण संस्थिताः ।

एताश्च क्रमेण—

किन्त्वेता द्विभुजा देव्यः पद्मासनमवस्थिताः ॥३६॥
कर्तिकामुण्डधारिण्यः

सर्वा एव । कर्तिका वीरकर्तिका ॥

किं च—

किंकरा द्वारदेशतः ।

क्रमेण चतुर्षु द्वारेषु—

क्रोधनो वृन्तकश्चैव कर्षणोऽथ गजाननः ॥३७॥
द्विभुजा विकृतास्याश्च खड्गखेटकपाणयः ।

एतच्च देव्यष्टकस्य किंकराणां च मुख्यभैरवयामलपरिवारत्वे रूपमुक्तम् ॥

काम्यविषये त्वाह—

शान्त्यर्थं तु सिताः सर्वे

सर्वे च सर्वाश्च इत्येकशेषः ॥

रूपं वा कर्मभेदतः ॥३८॥

एषां ध्यायेत् । 'वश्ये रक्तं स्तम्भे पीतम्' इत्यादिकम्, किङ्करान्तश्च परिवारो मूलमन्त्रेण पूज्य इति भाविरक्षाविधेर्ज्ञातम् ॥३८॥

तदाह—

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि राजरक्षां विधानतः ।
मन्त्रसंपुटयोगेन मध्ये नाम समालिखेत् ॥३९॥
तदूर्ध्वे भैरवं देवममृतेशं यजेत् प्रिये ।
देव्यो दलेषु तेनैव तथैवाद्यन्तयोजिताः ॥४०॥
दूत्यस्तथा नियोज्यन्ते मूलमन्त्रेण किङ्कराः ।
पद्मबाह्ये सुशुल्कं तु लिखेत्तच्छशिमण्डलम् ॥४१॥
चतुष्कोणं तु तद्बाह्ये वज्रलाञ्छनलाञ्छितम् ।
रोचनाकुङ्कुमेनैव क्षीरेण सितया तथा ॥४२॥

लिखित्वा पूजयेच्छान्तौ सर्वश्वेतोपचारतः ।
यतानुरूपनैवेद्यैर्घस्मरैर्बलिनासवैः ॥४३॥

गोरोचनाकुङ्कुमक्षीरसितशर्करोल्लिखितपद्मकर्णिकामध्ये साध्यनाम प्राग्वद् नेत्रमन्त्रसंपुटितं चन्द्रमण्डलगतं लिखित्वा, तत्पृष्ठे मूलेनैवामृतेशभैरवं प्रकरणात् सदेवीकं पूजयेत् । प्रागुक्तदिक्क्रमेण देवीर्दूतीश्च दलेषु मन्त्रसंपुटिता नामतो लिखित्वार्चयेत् । चतुर्षु दिग्दलाग्रेषु तथैव मन्त्रसंपुटितान् किङ्करान् लिखित्वा बहिर्वज्रलाञ्छितं चतुरश्रं कृत्वा क्रमेण मन्त्रचक्रमेतद् राजरक्षार्थं सर्वश्वेतोपचारैर्महासंभारैरर्चयेत् । नैवेद्यैर्यो बलिस्तेन सहितैरासवैरिति संबन्धः ॥४३॥

एवमर्चां कृत्वा—

सितचन्दनसंमिश्रान् कर्पूरक्षोदधूसरान् ।
साक्षतांस्तण्डुलतिलान् सितशर्करया सह ॥४४॥
घृतक्षीरसमायुक्तान् होमयेद्यस्तु यत्नधीः ।

यत्ने पराप्यायनादौ धीर्ध्यानसंविद्यस्य ॥

यदर्थं होमं कुर्यात्तस्य—

महाशान्तिर्भवेत् क्षिप्रं गृहीतो यदि मृत्युना ॥४५॥

मृत्युनापि यद्याक्रान्तः साध्यस्तस्य रक्षाचक्रार्चाहोमतः शान्तिर्भवत्येवेति शिवम् ॥

व्याधीनामगदं दिव्यमाधीनां मूलकर्तनम् ।
उपद्रवाणां दलनं श्रये चिन्नेत्रभैरवम् ॥

दशमोऽधिकारः समाप्तः ॥

एकादशोऽधिकारः

सर्वसौभाग्यसंभोगवमनं वामदर्शनम् ।
दर्शयत्परमानन्दि नौमि नेत्रं त्रिशूलिनः ॥

दक्षिणस्रोतोऽनुष्ठानात्मतां मृत्युजिन्नाथस्य प्रदर्श्य, वामदर्शनात्मतादर्शनाय श्रीभगवानुवाच—

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि तन्त्रमुत्तरमुत्तमम् ।
मन्त्रेणानेन यष्टव्यं सर्वसिद्धिफलोदयम् ॥१॥

उत्तमत्वमस्य पराद्वयसारैतन्मन्त्रव्याप्तियुक्त्यैव ॥१॥

तत्र—

सर्वोपद्रवशान्त्यर्थमष्टपत्रे कुशेशये ।
पूर्वोक्तमण्डले देवि मध्ये देवं च तुम्बुरुम् ॥२॥
दशबाहुं सुरेशानं पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ।

मूलमन्त्रन्यस्तासनोपरि मूलेनैव विन्यस्य—

सादाशिवेन वपुषा वक्त्राण्यस्य प्रकल्पयेत् ॥३॥

मूलेनैव ॥३॥

तं चार्धचन्द्रशिरसं राजीवासनसंस्थितम् ।
हिमकुन्देन्दुधवलं तुहिनाचलसंनिभम् ॥४॥
नागयज्ञोपवीतं च सर्पभूषणभूषितम् ।
सर्वाभरणसंयुक्तं व्याघ्रचर्मकटिस्थलम् ॥५॥
गजचर्मपरीधानं वृषारूढं महाबलम् ।
खड्गचर्मधरं देवं टङ्ककन्दलभूषितम् ॥६॥
पाशाङ्कुशधरं देवं चक्रहस्ताक्षसूत्रिणम् ।
वरदाभयहस्तं च सर्वकिल्बिषनाशनम् ॥७॥

ध्यायेत् । राजीवासनं शुद्धविद्यापद्मव्याप्त्या, तदुपरि वृषभो नादशक्तिव्याप्त्या, तदुपरि चिन्मूर्तिर्देवः । टङ्कः आयुधविशेषः । कन्दलं कपालम् ॥७॥

अस्य च—

सर्वदिक्षु स्थिता देव्यः पूर्वादौ दूत्य एव च ।
आग्नेय्यादिविदिक्ष्वेवं किङ्करा द्वारदेशतः ॥८॥

दूतीः किङ्कराश्च नामत उद्दिशति—

जम्भनी मोहनी चैव सुभगा दुर्भगा तथा ।
दूतयस्तु समाख्याताः किङ्करान् शृण्वतः परम् ॥९॥
क्रोधनो वृन्तकश्चैव गजकर्णो महाबलः ।

तुम्बुरुनाथस्य—

सव्यापसव्ये गायत्रीं सावित्रीं विनिवेशयेत् ॥१०॥
अध ऊर्ध्वेऽङ्कुशं मायां विन्यस्येत्तदनन्तरम् ।

तदनन्तरमिति किङ्करास्तु समस्तमन्त्रचक्रस्य बहिः ॥

इत्थं क्रमेण—

सर्वाण्येतानि योज्यानि मूलमन्त्रेण सर्वदा ॥११॥

एषां ध्यानमाह—

सितरक्तपीतकृष्णा देव्यो वै चतुराननाः ।

आसां मध्यात्—

चतुर्भुजा त्रिनेत्रा च टङ्ककन्दलधारिणी ॥१२॥
दण्डाक्षसूत्रहस्ता च प्रेतोपरि विराजते ।
जया देवी तु विजया रक्तवर्णा चतुर्भुजा ॥१३॥
चतुर्वक्त्रा त्रिनेत्रा च शरकार्मुकधारिणी ।
खड्गचर्मधरा देवी ह्युलूकोपरि संस्थिता ॥१४॥
अजिता पद्मगर्भा च चतुर्वक्त्रा चतुर्भुजा ।
शक्तिघण्टाधरा देवी चर्मपट्टिसधारिणी ॥१५॥
अश्वारूढा महादेवी सर्वाभरणभूषिता ।

अजिता जयन्ती ॥

भिन्नेन्द्रनीलसदृशी चतुर्वक्त्राविभूषिता ॥१६॥
चतुर्भुजा त्रिनेत्रा च पाशाङ्कुशधरा तथा ।
रत्नपात्रगदाहस्ता दिव्यासनसुसंस्थिता ॥१७॥
सौवर्णाम्बरसंवीता स्वर्णभूषणभूषिता ।

अपराजितेत्यर्थात् ।

एताश्च—

स्वदिक्षु संस्थिता इष्टा ध्याताः सिद्धिफलप्रदाः ॥१८॥

विदिक्षु तु—

दूत्यस्तद्रूपधारिण्यः किन्तु वक्त्रैकभूषिताः ।
द्विभुजाश्च त्रिनेत्राश्च मुण्डकर्तरिभूषिताः ॥१९॥

क्रमेणैव—

मत्स्यः कूर्मस्तु मकरो भेकस्तासां तथासनम् ।

किं च—

किङ्कराः खड्गहस्ताश्च द्विभुजाश्चर्मधारिणः ॥२०॥
एकवक्त्रास्त्रिनेत्राश्च भ्रुकुटीकुटिलेक्षणाः ।
सितादिवर्णभेदेन ध्याताः सिद्धिफलप्रदाः ॥२१॥

सितादीत्यादिशब्दाद् रक्तपीतकृष्णाः ॥

गायत्री रक्तवर्णाभा वक्त्रैकेन विभूषिता ।
बद्धपद्मासनासीना ध्यानोन्मीलितलोचना ॥२२॥
सावित्री सितवर्णेन ध्यानान्तर्गतलोचना ।
तथैवावयवा देवी

तथैवावयवेत्येकवक्त्रा देवी चतुर्भुजा च, किन्तु पाशाङ्कुशपुस्तकाक्षसूत्रकरा इयम् । देवीति गायत्री सावित्री च ॥

किं च—

माया कृष्णा चतुर्भुजा ॥२३॥
महापटावगूहिन्यासंपुटाकारयुग्मतः ।

महेति विततेनाख्यातिव्याप्तिना पटेन पार्श्वगपाशाङ्कुशवत् करयुग्मधृतेन शिरःस्थेन निगूहत्याच्छादयति विश्वमवश्यम्, तथा आ ईषत् संपुटाकारेण युग्मेनान्तःकृतविश्वाच्छादनव्याप्तिना करद्वयेनोपलक्षिता ॥२३॥

किं च—

अङ्कुशो भैरवाकारः पाशाङ्कुशधरो विभुः ॥२४॥
कपालखट्वाङ्गधरो वसासृङ्मासलम्पटः ।

भैरवाकार इति भ्रुकुटीकरालदंष्ट्रालवक्त्रः । अत एव श्रीनन्दिशिखायाम्—

'एकवक्त्रो महाभीमः'

इत्युक्तम् । तथा—

'............स्निग्धविद्रुमसंनिभः ।
पाशाङ्कुशाकारशिराः साध्यस्याकर्षणः परः ॥'

इति तत्रैवाभिधानादेवंरूपः चिन्त्यः ॥२४॥

उक्तवक्ष्यमाणस्य मन्त्रचक्रस्यासनन्यासार्थमाह—

नावं क्षीरार्णवं चोर्वीं शक्तिमाधारिकां शुभाम् ॥२५॥
आसनार्थं प्रयुञ्जीत शान्त्यर्थं सितनीरजम् ।

व्योमव्याप्त्या आधारशक्तिः, तदुपरि उर्वी पृथ्वी, तदूर्ध्वं तत्त्वव्याप्त्या क्षीरार्णवः, तदूर्ध्वं प्लवनचलनधर्मतया तेजोवायुद्वयव्याप्त्या नौः । एतावती च शुद्धविद्यातत्त्वव्याप्तिकसिताब्जस्य कन्दभूः । यथोक्तं श्रीपूर्वे—

'आदावाधारशक्तिं तु नाभ्यधश्चतुरङ्गुलाम् ।
धरां सुरोदं पोतं च कन्दश्चेति चतुष्टयम् ॥' (मा० वि० ८।५५)

इति ॥२५॥

एवमासनमन्त्रचक्रस्य ध्यानमुक्त्वाऽत्रैव विशेषमाह—

सर्व एव तु देवेशि सुशुक्लाः शान्तिकारकाः ॥२६॥
रक्ताः प.तास्तथा कृष्णा ध्यातव्याः कर्मभेदतः ।

वश्यादिवैचित्र्येण ॥२६॥

प्रागधिकारान्त इवेहापि रक्षाविधिमाह—

अथान्यं संप्रवक्ष्यामि चक्रराजं महावलम् ॥२७॥

महावलं शान्त्यादावप्रतिहतम् ॥२७॥

तत्र—

आद्यन्तसंपुटेनैव मध्ये नाम समालिखेत् ।
देवं देवीश्च दूतीश्च पूर्ववद्विधिना न्यसेत् ॥२८॥
मध्ये दलेषु विदलेष्वन्यतः सर्वतः सुधी ।

पूर्वोक्तगोरोचनादिद्रव्योल्लिखिताब्जकर्णिकायां चन्द्रमण्डलमध्ये मन्त्रसंपुटितं साध्यनाम लिखित्वा, उपरि सावित्रीगायत्रीसहितं देवं ध्यात्वा सितोपचारेण पूजयेत् । पूर्वादिदिक्पत्रेषु जयादिदेवीचतुष्टयमाग्नेय्यादिविदिग्दलेषु जम्भन्यादिदूतीः मन्त्रसंपुटिता नामतो लिखित्वा पद्मस्य वहिर्दिक्चतुष्टये किङ्करांस्तद्वहिर्मायाङ्कुशौ, तद्वहिर्वज्रलाञ्छितचतुरश्रसंनिवेशं लिखित्वा सर्वमन्त्रचक्रं सितोपचारेणार्चयेदिति पिण्डार्थः । दूतीश्चेति चकारात् किङ्करान् मायाङ्कुशद्वयं च । अन्यत इति पद्मक्षेत्राद् वहिर्दिक्षु किङ्करादिन्यासः । सर्वत इत्यनेन मायाङ्कुशयोर्बहिश्चतुष्कोणं पुरं सूचितम् ॥

एतश्च रक्षाचक्रम्—

यथानुरूपैर्नैवेद्यैर्भूरिशान्त्यर्थमात्मनः ॥२९॥
अन्यस्य वा प्रयोक्तव्यं

लिखित्वाभ्यर्च्य बन्धनीयम् ॥

किं च—

यष्टव्यं शान्तिकर्मणि ।

बहिर्मण्डलकं कृत्वा ॥

अर्चौचित्येन होममाह—

तिलतण्डुलमध्वाज्यक्षीरशर्करया सह ॥३०॥
होमयेत् पूर्ववत् कुण्डे प्रशस्तेन्धनदीपिते ।

मन्त्रचक्रतृप्त्यर्थमित्यर्थात् । पूर्ववदिति वर्तुल इत्यर्थः ॥३०॥

एवं कृते रक्ष्यस्य—

महाशान्तिः प्रजायेत सत्यं मे नानृतं वचः ॥३१॥

एताश्च—

सर्वरक्षामधानेषु याज्या देव्यः सुसिद्धिदाः ।

प्रोक्तपद्मक्रमेण ॥३१॥

बहिर्यागे क्रमान्तरेणापीत्याह—

पङ्क्तिष्ठा वा यजेद्देवीर्मध्ये देवं च तुम्बुरुम् ॥३२॥
सर्वाः श्रियः समाप्नोति साधकः संयतेन्द्रियः ।

एकाग्रचित्त एव ॥

अन्यस्य वा प्रयुञ्जानो जयत्यत्र न संशयः ॥३३॥

अत्र जगति । जयति ईंहिताप्त्या सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति शिवम् ॥३३॥

सर्वाः सिद्धीर्वमद्वामस्रोतश्चक्रार्चनक्रमात् ।
मृत्युजिज्जयति श्रीमन्नेत्रं शाक्तामृतोल्बणम् ॥

इति श्रीनेत्रोद्द्योते एकादशोऽधिकारः ॥

द्वादशोऽधिकारः

यत्कामान्तकमप्यनन्तजनताकामैकसंपूरणं
वह्निश्वान्तकमन्तकान्तकमलं यच्चाकुलं सत्कुलम् ।
सर्वोल्लासि समग्रभेददलनात्त्राणं त्रिलोक्याः परं
शावं तन्नयनं स्वधामनयनं धामत्रयात्म स्तुमः ॥

ऊर्ध्वं दक्षिणवामस्रोतोरूपतामुन्मील्य, तदविभेदसारकुलाम्नायमयतामपि मृत्युजिन्नाथस्य दर्शयितुं श्रीभगवानुवाच—

अथातः संप्रवक्ष्यामि कुलाम्नायनिदर्शनम् ।
यागं होमं जपं कार्यं येन सर्वमवाप्नुयात् ॥१॥

कुलाम्नाये निदर्शनं प्रकाशो यस्य तादृशं कार्यं कर्तव्यं यागहोमादि सम्यक् संप्रवक्ष्यामि, येन साधकः सर्वं भोगं मोक्षं प्राप्नोति । तत्रादौ ऐशान्यादिवायव्य-दिगन्तं गणेशवटुकगुर्वादीन्, प्राग्दक्षिणपश्चिमासु श्रीखगेन्द्रकूर्ममेषनाथान् सदूतीसंतानान्, उदीच्यां श्रीमच्छन्दकुङ्कुणाम्बादिसाधिकारराजपुत्रषट्कं सदूती-कमिति इहत्यमन्त्रपूर्वं पादान्तमर्चयेदिति कुलाम्नायदर्शनशब्दार्थः ॥१॥

अथैतद्युगगुरुपङ्क्त्यन्तः—

पद्ममध्ये तु संपूज्यो भैरवः पूर्वचोदितः ।
पूर्वादिदिग्दलावस्था ह्यष्टौ देव्यः स्वभावतः ॥२॥
ब्रह्मादिदेवतानां च स्वरूपायुधवाहनाः ।

ब्रह्मादीनां स्वभावत इति तदीयेन सृष्ट्यादिकारिणा स्वरूपेण । स्वादि ब्रह्मादिसंबन्धीनि रूपायुधवाहनानि यासाम् ।

ता नामतो दर्शयति—

ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ॥३॥
वाराही चैव माहेन्द्री चामुण्डा बहुरूपिणी ।

आद्याश्चतस्रः पूर्वदक्षिणादिदिक्षु । अपरा ऐशवायव्यादिविदिक्षु । एवमनु-लोमप्रतिलोमाभ्यां सर्गसंहारक्रमक्रोडीकारो भवतीति गुरवः ॥

आसां रूपायुधासनभेदं स्फुटयति

ब्रह्मादिबहुरूपान्तं रूपमासां स्ववाहनम् ॥४॥
स्वायुधं चैव सर्वासां स्वरूपेण विभूषितम् ।

ब्रह्मादीनां यदरुणत्वचतुर्भुजत्वादिरूपं तदेवासाम् । तद्वाहनमेव च वाहनं, तच्च हंसवृषमयूरगरुडैरावणकुम्भीरप्रेतरूपम् । वाराह्यास्तु वाहनं न दृश्यते । तदायुधमेव चायुधम्, तच्च दण्डत्रिशूलशक्तिचक्रवज्रखड्गरूपम्, एतच्च दक्षिणहस्ते । एतच्चासनादि सर्वं स्वेन स्वभावेन भ्राजमानम् ॥

अन्यत्र हस्तत्रये साधारविधिमाह—

कपालखट्वाङ्गधरा वराभयकरोद्यताः ॥५॥

वामो वरदः ॥५॥

दिक्क्रमेण न्यासमुक्त्वा पङ्क्तिक्रमेणाप्याह—

पङ्क्तिष्ठा वा यजेद्देवीः सर्वाभीष्टफलप्रदाः ।

देवस्य सव्यापसव्ययोश्चतुष्कं चतुष्कमित्यर्थः ॥

किं चेमाः—

सर्वेषामेव शान्त्यर्थं प्राणिनां भूतिमिच्छता ॥६॥
भूरियागेन यष्टव्या यथाकामानुरूपतः ।

शान्तिकादौ सितादिरूपेणेत्यर्थः ॥

विशेषाद्देवि यष्टव्या भूभृतामपि दैशिकैः ॥७॥

महासंभारेणेत्यर्थः ॥७॥

यतस्ते—

आसामेव प्रसादेन राज्यं निहतकण्टकम् ।
भुञ्जते सर्वराजानः सुभगा ह्यवनीतले ॥८॥

युक्तं चैतदित्याह—

यस्मादेतज्जगत्सर्वं देवीनां तु स्वभावजम् ।
एता योनिस्वरूपास्तु देवादिजगतः प्रिये ॥९॥
सर्वास्ताः सर्वदुःखौघहारिण्यः प्राणिनां प्रिये ।
रक्षन्ति मातृवच्चैताः पालयन्ति जगत् सदा ॥१०॥

विश्वकारणत्वाद्विश्ववद् भूतसर्गं स्वत एव रक्षन्ति किं पुनरर्चिता इत्यर्थः ॥१०॥

किं च—

कोष्ठे वै कार्षिका यद्वच्छक्तिरूपं जगत् प्रिये ।
प्रलये धारयन्ति स्म सृजन्तीह पुनश्च ताः ॥११॥

यथा कृषीवलाः प्रलये पौषमासात्मनि संहारकाले शक्तिरूपं बीजावस्थावशेषं स्थावररूपं जगत् कोष्ठे कुसूले धारयन्ति पुनः सृजन्ति वापोन्मुखं कुर्वन्ति तथा

देव्यो विश्वात्मजगत्संहारकालेषु संस्कारावशेषं पुनश्च सृष्ट्युन्मुखं संपादयन्ति ॥११॥

यद्वच्च कार्षकाः काले वीजवापं प्रकुर्वते ।
फलाय तद्वत् फलदा व्रह्मकल्पसिसृक्षया ॥१२॥

काल इति वसन्ते। फलदा इति देव्यः। व्रह्मेति व्रह्मणो यः कल्पः स्वदिनात्मा, तत्र या सिसृक्षा तया हेतुभूतया। व्रह्मकल्पशब्दः सदाशिवान्तदिनोपलक्षणपरः। देव्य एव हि तत्तत्सदाशिवादिव्रह्मान्तकारणाधिष्ठानेन सृष्ट्यादि कुर्वते। यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे[1]—

'व्राह्मी नाम विभोः शक्तिर्यंत्रेच्छा तत्र पातयेत्।'

इति। तथा

'वैष्णव्यास्तु स्मृतो विष्णुः............।'

इति ॥१२॥

यतश्च—

कल्पादौ कल्पमध्यान्ते व्याप्नुवन्ति जगच्च ताः ।
तस्मात् सर्वप्रकारेण शान्त्यर्थं हितकारिकाः ॥१३॥
यष्टव्या देवि होतव्या ध्यातव्याः सिद्धिकामतः ।

होतव्या इति होमेन तर्पणीयाः। सिद्धिकामत इति सिद्धिकामेन ॥

किं च—

सर्वबीजैस्त्रिमध्वक्तैस्तिलैर्वा श्रीफलैः शुभैः ॥१४॥
पुष्पैर्वा सुप्रशस्तैश्च फलैर्वान्यैः सुहोमितैः ।
सर्वसिद्धिप्रदा देव्यः सर्वकामफलप्रदाः ॥१५॥

सर्वसिद्धिप्रदस्वभावत्वात् सर्वाणि कामफलानि प्रददतीत्यर्थः। अत्र च—

'सर्वकामप्रदो होमस्तिलैः शस्तो घृतान्वितैः ।
धान्यैर्धनार्थंसिद्ध्यर्थं घृतगुग्गुलुहोमतः ॥
जायते विपुला सिद्धिरधमा मध्यमोत्तमा ।
श्वेतारविन्दैराज्याक्तैर्विल्वैश्च श्रियमाप्नुयात् ॥' (२।२८०-२८१)

इत्यादि श्रीस्वच्छन्दोक्तमनुसर्तव्यमिति शिवम् ॥१५॥

विश्वसर्गादिकृत्स्वाभावैरिञ्चयादिकुलक्रमात् ।
अकुलो जयति श्रीमानेकश्चिन्नेत्रभैरवः ॥

इति श्रीनेत्रोद्योते द्वादशोऽधिकारः ॥

---

१. स्वच्छन्दतन्त्रे नोपलभ्यते।

त्रयोदशोऽधिकारः

स्फुरत्परामृतासारापूरैरापूर्य तन्मयम् ।
भक्तिभाजां जगत्सर्वं दर्शयन्नेत्रमाश्रये ॥

अधिकारसंगतिपूर्वं वस्तूपक्षेप्तुं श्रीभगवानुवाच—

एवं वै मन्त्रराजस्य कौलिकश्चोदितो विधिः ।
पुनरन्यत् प्रवक्ष्यामि विधानं यत्फलप्रदम् ॥१॥

इहत्यव्याप्त्या पूर्णभोगापवर्गदम् ॥१॥

तत्र—

नारायणं चतुर्बाहुं पद्मपत्रायतेक्षणम्
अतसीपुष्पसंकाशमेकवक्त्रं द्विलोचनम् ॥२॥

शङ्खचक्रगदापद्मसर्वाभरणभूषितम् ।
दिव्याम्बरधरं देवं दिव्यपुष्पोपशोभितम् ॥३॥

स्फुरन्मुकुटमाणिक्यकिङ्किणीजालमण्डितम् ।
दिव्यकुण्डलधर्तारमुत्थितं तु सदा स्मरेत् ॥४॥

शङ्खचक्रगदापद्मानि च सर्वाभरणानि चेति समासः । स्मरेदिति, इहत्यमन्त्रविमृश्यमानमित्यर्थात् ॥४॥

अथवा पक्षिराजस्थं सुश्वेतं तु मनोरमम् ।
त्रिवक्त्रं सौम्यवदनं वराहहरिभूषितम् ॥५॥

भुजैः षड्भिः समायुक्तं वराभयसमन्वितम् ।
उत्सङ्गेऽस्य श्रियं ध्यायेत्तद्वर्णायुधधारिणीम् ॥६॥

लावण्यकान्तिसदृशीं देवदेवस्य संमुखीम् ।

वराभय इति पूर्वोक्तशङ्खाद्याधिक्येनोक्तम् । लावण्यकान्ती संनिवेशावयवसौन्दर्ये ॥

अस्यावरणयुक्त्या—

चतुर्दिक्षु स्थिता देवीर्विदिक्ष्वङ्गानि पूजयेत् ॥७॥

अङ्गानां विन्यासः प्राग्वत् ॥७॥

देवीराह—

जया लक्ष्मीस्तथा कीर्तिर्माया वै दिक्षु ता यजेत् ।

ताश्च---

पाशाङ्कुशधरा देव्यो वरदाभयपाणिकाः ॥८॥
देवस्य संमुखे ध्यायेच्छ्रीवर्णा रूपधारिणीः ।
देवस्य सदृशाङ्गानि तद्वर्णास्त्रधराणि च ॥९॥

देवस्य सादृश्यादङ्गानामन्तरङ्गत्वादादौ पूजा ।

एवं श्रीजयासंहितादृष्टयोक्त्वा मायावामनिकास्थित्याप्याह—

अथवाष्टभुजं देवं पीतवर्णं सुशोभनम् ।
मेषोपरिस्थितं देवि दिग्वस्त्रं चोर्ध्वलिङ्गिनम् ॥१०॥

अस्य पूर्वोक्तकरषट्कायुधाद्यतिरेकिकरद्वयनिवेशमाह—

शृङ्गं वष्टभ्य चैकेन

मेषस्य संबन्धि । स्थितमित्यर्थात् ।

तथा—

चेयारोद्यत (?) पाणिकम् ।
बालरूपं यजेन्नित्यं क्रीडन्तं योषितां गणैः ॥११॥

अस्य च—

चतुर्दिक्षु स्थिता देव्यो दिगम्बरमनोरमाः ।
कर्पूरी चन्दनी चैव कस्तूरी कुङ्कुमी तथा ॥१२॥

एताश्च—

तद्रूपधारिका देव्य इच्छासिद्धिफलप्रदाः ।

यद्वा—

बहुनात्र किमुक्तेन विश्वरूपं तु तं स्मरेत् ॥१३॥
अनेकवक्त्रसंघातैरनेकास्त्रभुजैस्तथा ।

यद्वा—

शयनस्थं विवाहस्थमर्धलक्ष्मीयुतं तथा ॥१४॥
केवलं नरसिंहं वा वराहं वामनं स्मरेत् ।
कपिलोऽप्यथवा पूज्यश्चाव्यक्तो वापि निष्कलः ॥१५॥

अव्यक्त इत्येतदाख्यः, स च निष्कलः सुशान्तस्वरूपः ॥१५॥

किं च—

येन येन प्रकारेण भावभेदेन संस्मरेत् ।
तस्य तन्मयतामेति इत्याज्ञा पारमेश्वरी ॥१६॥

मृत्युजिद्धामेत्यर्थात् ॥१६॥

इदानीं सौरसंहितावेदादिदृष्टसूर्यादिदेवताकारेणापि मृत्युजिदाराधनमाह—

तेजोमयमतो वक्ष्ये येन सिद्धिर्भवेन्नृणाम् ।
रक्तपद्मनिभाकारं लाक्षारससमप्रभम् ॥१७॥
सिन्दूरराशिवर्णाभं पद्मरागसमप्रभम् ।
कुसुम्भरागसंकाशं दाडिमीकुसुमप्रभम् ॥१८॥
कल्पान्तवह्निसदृशमेकवक्त्रं त्रिलोचनम् ।
चतुर्भुजं महात्मानं वरदाभयपाणिकम् ॥१९॥

सूर्यं ध्यायेत् ॥१९॥

स च—

वज्रमेकेन हस्तेन रश्मिमेकेन धारयेत् ।

तं च—

सप्ताश्वरथमारूढं नागयज्ञोपवीतिनम् ॥२०॥
रक्तमाल्याम्बरधरं रक्तगन्धानुलेपितम् ।
अथवाष्टभुजं देवि लोकपालायुधान्वितम् ॥२१॥
त्रिवक्त्रं घोरवदनं त्रिनेत्रं विकृताननम् ।
अश्वोपरिसमारूढं पद्ममध्ये सदा यजेत् ॥२२॥

लोकपालायुधानि वज्रशक्तिदण्डखड्गपाशध्वजगदात्रिशूलानि ॥२२॥

भगवत आवरणान्याह—

हृच्छिरश्च शिखा वर्म लोचनास्त्रं प्रपूजयेत् ।

प्राग्वत् सर्वाङ्गानि न्यस्येदिति यावत् ॥

अत्र च—

पद्ममध्ये यजेद्देवं ग्रहानष्टौ द्वितीयके ॥२३॥

चन्द्रादिषट्कं केतुराहू चेति ग्रहाः । द्वितीयके इत्यावरणे ॥२३॥

नक्षत्राणि तृतीये तु यथासंख्यं त्रिभिस्त्रिभिः ।
दलाग्रे त्रितयं पूज्यं लोकपालांश्चतुर्थके ॥२४॥
पञ्चमे पद्मसंस्थाने अस्त्राण्यष्टौ प्रपूजयेत् ।

त्रिभिस्त्रिभिर्विभक्तानि नक्षत्राणि पूर्वादिदलाष्टके चतुर्विंशतिः त्रयं च पूर्वदलाग्र इति नक्षत्रावरणं तृतीयम्, लोकपालावरणं चतुर्थमस्त्रावरणं पञ्चमम् ॥

प्रकारान्तरेणाप्याह—

उत्थितं केवलं वापि द्विभुजं रश्मिसंयुतम् ॥२५॥
विश्वकर्मस्वरूपं वा विश्वाकारं जगत्पतिम् ।
चतुर्भुजं महात्मानं टङ्कपुस्तकधारिणम् ॥२६॥
संदंशं वामहस्तेन सूत्रं वै दक्षिणेन तु ।
देवैः सिद्धैश्च गन्धर्वैः स्तूयमानं विचिन्तयेत् ॥२७॥

संदंशमिति बिभ्रतम् ॥२७॥

उक्तवक्ष्यमाणं सर्वम्—

स्थलेऽनले जले चैव पर्वताग्रे प्रपूजयेत् ।
यत्र वा रोचते चित्ते इच्छासिद्धिफलप्रदम् ॥ ॥२८॥

अस्य भगवतो देवतास्विव नाश्रयेष्वपि कोऽपि नियमः । चित्ते इति चतुर्थ्यर्थे सप्तमी ॥

किं च—

शङ्खकुन्देन्दुधवलं त्रिनेत्रं रुद्ररूपिणम् ।
सादाशिवेन रूपेण वृषारूढं विचिन्तयेत् ॥२८॥
चतुर्भुजं महात्मानं शूलाभयसमन्वितम् ।
मातुलुङ्गधरं देवमक्षसूत्रधरं प्रभुम् ॥३०॥

वृषारूढं चतुर्भुजमिति सदाशिवरूपाद्विशेषः ॥३०॥

एवमेव—

अथो बहुभुजं देवं नाटचस्थं चिन्तयेत् प्रभुम् ।
उमार्धधारिणं वद्वा विष्णोरर्धार्धधारिणम् ॥३०॥
विवाहस्थं च वा ध्यायेत् समीपस्थं प्रपूजयेत् ।

समीपस्थमित्युमादेव्या इत्यर्थात् ॥]

किं च—

ब्रह्मा चतुर्मुखः सौम्यो रक्तवर्णः सुलोचनः ॥३२॥
लम्बकूर्चः सुतेजाश्च हंसारूढश्चतुर्भुजः ।
दण्डाक्षसूत्रहस्तश्च कमण्डल्वभये दधत् ॥३३॥
वेदैश्चतुर्भिः संयुक्तः सर्वसिद्धिफलप्रदः ।

वेदैरिति साकारैः पार्श्वस्थैः ।

किं च ।

बुद्धः पद्मासनगतः प्रलम्बश्रुतिचीवरः ॥३४॥
पद्माक्षः पद्मचिह्नश्च मणिबद्धो जगद्धितः ।
समाधिस्थो महायोगी वरदाभयपाणिकः ॥३५॥
अक्षसूत्रधरो देवः पद्महस्तः सुलोचनः ।
एवं ध्यातः पूजितश्च स्त्रीणां मोक्षफलप्रदः ॥३६॥

पद्ममिवाक्षिणी यस्य । पद्मं चिह्नं करादौ लाञ्छनं यस्य । मणिबद्ध इत्याहिताग्न्यादित्वाद् निष्ठायाः परत्वम् ॥

यद्वा—

वहुनात्र किमुक्तेन पौनःपुन्येन सुन्दरि ।
कार्तिकेयश्च कामश्च सूर्यः सोमो विनायकः ॥३७॥
लोकपालास्तथा सर्वे येऽन्ये वा देवयोनिजाः ।
गारुडे भूततन्त्रे च वाग्विधानेषु सर्वतः ॥३८॥
न्यायार्हतयोगेषु वैदिकाद्येष्वनेकशः ।
यामले चैकवीरे च नवके त्रिकभेदतः ॥३९॥
समभेदे च देव्याख्ये दुर्गाख्ये विन्ध्यवासिनि ।
चण्डिकाद्ये चतुष्के च स्वयम्भूत्थे महेश्वरे ॥४०॥
प्राक्प्रतिष्ठितरूपे वा ऋषिमानुषयोजिते ।
आयुधे विविधे चैव विद्यापीठेषु सर्वतः ॥४१॥
सर्वपातालतन्त्रेषु नागेषु द्रामिडेषु च ।
शक्तयो वा ह्यनन्ताश्च मन्त्रेणानेन सुव्रते ॥४२॥
विधानेनार्चिताः सर्वे सर्वसिद्धिफलप्रदाः ।
भवन्त्यवितथाः सर्वे सत्यं मे नानृतं वचः ॥४३॥

सूर्य इति प्राक् संहितास्थित्योक्तः, इह तु बाह्यः । अन्ये इति ध्रुवान्ताः । कार्तिकेयाद्या ये च देवाः, गारुडाद्येषु द्रामिडान्तेषु च याः शक्तयो देवताः, सर्वे तेऽनेनैव मन्त्रेण विधानेनेति तत्तच्छास्त्रप्रसिद्धेनेतिकर्तव्यताभेदेनार्चिताः सर्वसिद्धिफलप्रदा भवन्ति, इति संवन्धः । न्यायशास्त्रे नरेभ्यो भिन्नः सर्वज्ञत्वादिगुणो महेश्वरो देवता, आर्हतेषु अर्हन्, योगे क्लेशाद्यस्पृष्टः पुरुषविशेषः, वैदिकमाद्यं येषु पौराणिकेतिहासिकेषु कर्मसु तत्र या अग्न्याद्या देवताः, यामल इति ब्रह्मयामलरुद्रयामलादौ, एकवीर इति परात्रीशिकामतत्रिशिकादौ, नवक इति नवात्मचक्रादौ, त्रिक इति षडर्धनयेषु, समभेदे चेति समविषमाख्येषु मतनयेषु, देव्याख्य इति महाघोराजयादिभेदेषु, विन्ध्यवासिनीत्येतदाख्यदेवताप्रति-

पादके, चण्डिकाद्ये चतुष्के इति दक्षिणवामस्रोतसि तत्तद्देवताचतुष्टयाराधन-प्रतिपादिनि, स्वयंभूत्वेनोत्थितो यो महेश्वरो लिङ्गमूर्तिस्तत्र, तत्तत्तत्त्वावतारा-नुसारमाम्नायसिद्धेऽधिष्ठातरि देवताविशेषे प्राक्प्रतिष्ठिते ऋषिमानुषयोजित इति समानाधिकरणे सप्तम्यौ। विविधे खड्गनाराचादौ, नागेष्विति तत्तन्नागा-कारेषु, द्रामिडेष्विति द्रामिडादिलोकाविगीतप्रसिद्धिसिद्धेषु देवताकारेषु। अवितथा इत्यादि प्राग्वत् ॥४३॥

किं चायम्—

सर्वसाधारणो देवः सर्वसिद्धिफलप्रदः।
सर्वेषामेव मन्त्राणां जीवभूतो यतः स्मृतः ॥४४॥

ततः—

प्रतिष्ठापूजने चैव भद्रपीठार्घपात्रके।
अग्निसंस्करणे चैव न्यासध्यानादिवाहने ॥४५॥
विकल्पो नैव कर्तव्यः सर्वसाधारणो यतः।

वाहन इत्यासने। विकल्प इति द्वैताद्वैतशास्त्रोक्तव्याप्तिभेदाशयेन नात्र शङ्कितव्यम्, यतोऽयं देवः प्रोक्तपरमाद्वयव्याप्त्या सर्वसाधारणः, विश्ववैचित्र्य-चित्रस्य समभित्तितलोपम इत्यर्थः ॥

अतश्च—

संकरोऽत्र न जायेत तस्माच्छङ्कां परित्यजेत् ॥४६॥

अन्यत्रेव नात्र मन्त्रादिसंकरः कोऽपीत्यर्थः ॥

अयमप्यस्य मन्त्रराजस्य महिमा, यत्—

सकृज्जप्तः शरीरस्थः सकृज्जप्तोऽर्घपात्रके।
सकृद्धस्तेषु विन्यासो मानसे तु सकृज्जपात् ॥४७॥
बाह्यस्थितः सकृत्पूज्यः सकृच्चन्द्रार्कमूर्तिषु।
सकृद्धोमे सकृज्जप्ये उदके तु सकृद्यजेत् ॥४८॥
सकृत्सकृच्च सर्वत्र पूजयेत् परमेश्वरम्।

सकृद्विभातत्वादस्यैवमुक्तम् ॥

अत एव—

प्राणायामादिकः क्लेशो मुद्रा योगश्च धारणा ॥४९॥
नैवोपयुज्यते ह्यस्य मन्त्रराजस्य सुव्रते।

अस्य च भगवतोऽर्चनादि सर्वम्—

व्यवसायेन कर्तव्यमन्यथा नैव

सुखोपायमहामन्त्रवीर्यानुप्रवेशनेन, न तु क्लेशेनेत्यर्थः ॥

यदि तु प्राणायामप्रयासादि आश्रीयेत, तदेतदत्र—

दूषणम् ॥५०॥

भवति ॥

व्यवसायेन तु क्रियमाणम्—

निश्छिद्रं साधकेन्द्रस्य राज्ञो राष्ट्रविवृद्धये ॥

भवतीति शिवम् ॥

समानतन्त्रप्रतितन्त्रभेदो न चासनाधेयभिदास्ति यस्य ।
नियन्त्रणात्रोटि सकृद्विभातं चिदात्म नेत्रं प्रणमामि शार्वम् ॥

इति श्रीनेत्रोद्योते त्रयोदशोऽधिकारः ॥

———

चतुर्दशोऽधिकारः

निजौजसोज्जृम्भ्य निजौजसैव यन्मन्त्रचक्रं स्फुरयन्निजात्म ।
अनुग्रहायाधिकरोति नेत्रं नुमस्तदैशं द्वयद्वन्द्वप्रशान्त्यै ॥

एवमियताधिकारकदम्बकेन सर्वदर्शनाभेदिमहारहस्यपराद्वयरूपता मन्त्रराजस्य यथाप्रश्नं निर्णीतेत्यपरमन्त्राणामनुपयोगितां संभावयमाना श्रीदेव्युवाच—

यदि देव परत्वेन वर्णितो मन्त्र उत्तमः ।
सर्वेषामेव तन्त्राणां देवतानां च सर्वतः ॥१॥
हृदयं परमं ह्येष मन्त्रराट् सर्वसिद्धिदः ।
किमन्यैर्मन्त्रमुख्यैश्च जप्तैरिष्टैर्वदस्व मे ॥२॥

किमित्यस्यादौ तर्हिशब्दोऽध्याहार्यः । चकारश्चित्रैस्तदाराधनप्रकारैरपि किमिति समुच्चिनोति ।[1] स्वेति पदं भिन्नम् ॥२॥

एवं पृष्टः श्रीभगवानुवाच—

साधु साधु महेशानि पृष्टोऽहं यत्त्वयानघे ।
तदहं संप्रवक्ष्यामि यत्सारं परमं ध्रुवम् ॥३॥

यद्वस्तु त्वयाहं पृष्टस्तत् सम्यग्वक्ष्यामि, यस्मादेतद्ध्रुवं निश्चितं सत् परं रहस्यम् ॥३॥

तद्वक्तुमुपक्रमते—

आसीदिदं शक्तिरूपमनौपम्यमनामयम् ।
शिवं सर्वगतं शुद्धमप्रतर्क्यमतीन्द्रियम् ॥४॥

इदमिति देहादिप्रमात्रपेक्षयेदन्तावभास्यं यत्किंचित्, तद्देहाद्यनाविष्टपरचित्प्रमात्रपेक्षया शक्तिरूपं परप्रमात्रभिन्नम् । अतश्च—

'स्वात्मेव स्वात्मना पूर्णा भावा भान्त्यमितस्य तु (ई० प्र० २।१।७)
इति स्थित्यानौपम्यादिरूपम् । शिष्टं प्रागेव व्याकृतप्रायम् ॥४॥

अतश्च—

---

१ अस्यार्थः परात्रिंशिकाद्वितीयश्लोकव्याख्यानेऽभिनवीये द्रष्टव्यः ।

सिसृक्षुः स्वेच्छया देवि ज्ञानशक्त्या क्रियात्मकः ।
प्रथमो ह्येष देवेशः सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥५॥
सर्वसर्वात्मको देव आदिसृष्टिप्रवर्तकः ।

यच्छक्तिरूपं विश्वमासीत् शक्तेः शक्तिमदैकात्म्यात् स एष प्रथमः प्रधानमाद्यश्च, सर्वं सर्वं यस्य स सर्वसर्वः, आत्मा स्वरूपं यस्य तादृक्, स्वयेच्छया तथैव ज्ञानशक्त्येति तद्रूपतामाप्तया क्रियात्मको गृहीतक्रियाशक्तिभूमिकः सन् अनाश्रितसदाशिवाद्याभासिन्या आदिसृष्टेर्गर्भीकृतानन्तावान्तरसर्गसंहारप्रपञ्चायाः प्रवर्तक उल्लासकः ॥

एवमादिसृष्टिमुल्लास्य, तद्भूमावेव—

ततोऽनु मन्त्रसृष्टिर्वै शिवेन परमात्मना ॥६॥
नानाप्रकारा रचिता पृथग्भेदव्यवस्थया ।
यथा तथैव देवेशः सर्वसर्वात्मकः परः ॥७॥
साधारणो मन्त्रनाथः सर्वेषामेव वाचकः ।
यदा तदा हि सर्वेषामात्मभूतो ह्यलेपकः ॥८॥

तत इति तद्भित्तावेव, अन्विति स्वतन्त्रप्रकाशात्मबोधप्राधान्यात्मना अनुरूप्येण । भेदव्यवस्थयेत्यनुग्राह्यानुग्रहवैचित्र्याभासनाशयेन । शिवेन नानामन्त्रसृष्टिर्यथा रचिता, तथैव मन्त्रसृष्टेः पराद्वयव्याप्तिर्मा निमाङ्क्षीदित्याशयेन सर्वसर्वात्मकः, परो विश्वमन्त्रपालनपूरणकृत्, साधारणो महासामान्यरूपः, अत एव सच्छब्द इव घटादीनां सर्वेषां वाचकः स्वाभिन्नमाहात्म्यामर्शनः, शिवेनैव परमात्मना रचितो निजमहाशक्त्यात्मोन्मीलितः, यदा चैवं तदा सर्वेषामात्मभूतः, हि इति यस्मादेवं तस्मादयमलेपको वेदवैष्णवगारुडसिद्धान्तादिमन्त्रैर्न लिप्यते नोपरज्यते न भेदव्याप्तिं ग्राह्यते, लेपकाभिमतानां तेषां तच्चित्प्रकाशसारमहामन्त्रवीर्यात्मतां विना वस्तुत्वाभावात् ॥

अतश्च—

मन्त्रकोट्यो ह्यसंख्याता व्यक्ताव्यक्ता व्यवस्थिताः ।
सर्वास्ताः सिद्धिदास्तेन आद्यन्तेन निरोधिताः ॥९॥
एतत्संपुटयोगेन जप्ताः सिद्धिफलप्रदाः ।
तदर्थं तव सुश्रोणि स्नेहेन प्रकटीकृतम् ॥१०॥
रहस्यं परमं सत्यं

असंख्याता इति परिवारापेक्षया । व्यक्ताव्यक्ताः सकलनिष्कलरूपाः । आद्यन्तेति 'सृष्टिं तु संपुटीकृत्य' (प० त्री० ३) इत्याम्नायनीत्या तदेव महा-

मन्त्रवीर्यात्म चिद्धाम आदिभूतं स्वभित्तौ मन्त्रचक्रमुन्मील्य चित्प्रकाशेनेवाच्छुरयति, इत्ययमत्र वीर्यप्राधान्येन निरोधार्थो विवक्षितः, संपुटीकारस्तु मन्त्रपाठयुक्त्या ॥

एतच्च यत ईदृक् परं रहस्यमतः—

नाख्येयं यस्य कस्यचित् ।

अनिवृत्तभेदवासनाकलङ्कस्य ॥

यतः—

गुप्तः सुसिद्धिदो देवि प्रकटः सिद्धिहा भवेत् ॥११॥

शोभना सिद्धिर्मुक्तिपर्यवसाना मुक्तिः ॥११॥

तस्मात् सुगुप्तः कर्तव्यः संप्रदायो मुखागमः ।

मुखात् परशक्त्यात्मनो वक्त्रादागमः प्रसरणं यस्य सोऽयं व्याख्यातरहस्यात्मा, सम्यक् तीव्रतमशक्तिपातं विचार्य तद्वते दीयत इति संप्रदायोऽयं सुष्ठु गुप्तः स्वविश्रान्तः कर्तव्य इति शिवम् ॥

आद्यन्तस्फुरणात्मवीर्यरुचिरश्रीमन्त्रराजोम्भितं
स्वस्मिन् धाम्नि विधाय शम्बरकुलं तत्तुल्यवीर्यं स्फुरत् ।
नानानुग्रहकर्मकेलिमभितो निर्वाहयच्छाङ्करं
नेत्रं नौमि समग्रशक्तिपरमानन्दामृतैरुल्वणम् ॥

इति श्रीनेत्रोद्योते चतुर्दशोऽधिकारः ॥



पञ्चदशोऽधिकारः

सर्वंसर्वात्मविलसत्स्फारसंवित्स्फुरारुणम् ।
रक्षोघ्नं सर्वरक्षाकृच्छार्वं नेत्रमुपास्महे ॥

एवंनिर्णीतमाहात्म्यस्य मन्त्रराजस्य रक्षाहेतुतामपि निर्णेतुं श्रीभगवानुवाच—

अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वरक्षाकरो यथा ।
मन्त्रनाथो महोग्रं च धूपं रक्षोघ्नचोदितम् ॥१॥

यथेति येन होमादिप्रकारेण, महोग्रमिति सर्वोपद्रवप्रशमनं धूपम्, तथा रक्षोघ्नतया चोदितं रक्षोघ्नशब्दवाच्यं वस्तु प्रवक्ष्यामि । उपलक्षणं चैतत्पुष्पादेः ॥१॥

यतोऽनेन मन्त्रेण—

सप्तवाराभिजप्तस्तु रक्षोघ्नो यस्य दीयते ।

यश्च तम्—

शिरःस्थं धारयेन्नित्यं सर्वदोषैः स मुच्यते ॥२॥

अथ रक्षोघ्नस्य नामानि निर्ब्रुवन् माहात्म्यं प्रदर्शयति—

सर्वदैत्यक्षयार्थं तु मदुक्तेनैव ब्रह्मणा ।
सेर्ष्याणां चैव सर्वेषामभिचारो यतः कृतः ॥३॥
तदासौ सर्षपः प्रोक्तः पाति रक्षति सर्वतः ।

सेर्ष्याणां मात्सर्यपूर्णानां दानवादीनाम्, सेर्ष्येभ्यः पाति रक्षति, इति कृत्वा अक्षरसारूप्यात् सर्षप इत्यर्थः ॥

यदा रक्षांसि सर्वाणि विद्रुतानि हतानि च ॥४॥
तदा देवि मया प्रोक्ता रक्षोघ्नः प्रथिता भुवि ।

रक्षांसि घ्नन्ति, इति कृत्वा रक्षोघ्ना इति मया प्रोक्ता भुवि प्रथिताः इत्यर्थः ॥

आहवेषु च सर्वेषु दैत्यैः सह सुरोत्तमैः ॥५॥
नियुक्ता दुष्टहन्तारः सिद्ध्यर्थं रिपुनाशने ।
तेषामर्थो यदा सिद्धस्तेन सिद्धार्थका भुवि ॥६॥

ख्याता दर्पहरा देवि भूतानां दुष्टचेतसाम् ।

रिपुनाशनविषये सुरैः स्वात्मसिद्धचर्थं यतो दुष्टहन्तारो नियुक्ताः, एभ्यश्च तेषां सुराणां सिद्धोऽर्थः प्रयोजनं यदा, तदा सिद्धार्थकाः ख्याताः ।

यदा सर्वेषु भूतेषु भयत्रस्तेषु सर्वतः ॥७॥
नीराजनविधानेन नामाङ्कं जुहुयात् प्रिये ।
वह्नौ संक्रुद्धमनसा मन्त्री रक्षार्थमुद्यतः ॥८॥
तदा नीराजनं ख्यातं सर्वश्रेयस्करं परम् ।

सर्वतो भयत्रस्तेष्वाध्यात्मिकादिदोषोपद्रुतेषु, नीराजनविधानेनेति वक्ष्यमाणेन, नीराजनमिति निःशेषेण राजनं दीपनम्, एतत् सर्षपाख्यं वस्तु ख्यातं प्रथितम् ॥

यश्चायं रक्षोघ्नः, असौ—

सितादिर्युगभेदेन वर्ततेऽनुग्रहे बली ॥९॥

कृतादियुगभेदेन सितरक्तपीतकृष्णरूपैर्बलवाननुग्रहे प्रवर्तते ॥९॥

तत्र—

शुक्लः सर्वप्रदः ख्यातो रक्तो राज्यप्रदायकः ।
पीतो रक्षाकरः प्रोक्तः कृष्णः शत्रुविनाशकृत् ॥१०॥

एवं वर्णभेदाश्रयः कर्मभेदः पुराकल्पेऽभूत् ॥१०॥

संप्रति तु—

चतुर्युगेषु सर्वत्र पीतकृष्णौ द्विरूपकौ ।
राजसर्षपगौराख्यौ

राजसर्षपो राजिका, गौरः पीतः ॥

द्विरूपोऽन्तर्हितः प्रिये ॥११॥

सितो लोहितश्चेति द्विरूपोऽद्य तु उत्तमत्वान्न प्रचरतीत्यर्थः ॥११॥

एतत् प्रसङ्गादुक्त्वा, प्रकृतमाह—

यदा मृत्युवशं यातः सर्वभूतैरुपद्रुतः ।
तदा तु घृतसंयुक्तं गोक्षीरसितशर्करा ॥१२॥
तिलैर्विमिश्रितं कृत्वा जुहुयात् सर्वशान्तिदम् ।

यात इति साध्य इत्यर्थात् । कृत्वेति प्रकृतं सर्षपम् । हवनमत्र मूलेन ॥

तिलैः कृष्णैः समायुक्तं राजसर्षपमुत्तमम् ॥१३॥

त्र्यक्तं वै जुहुयात् सद्यः सर्वशान्तिफलप्रदम् ।

त्र्यक्तं त्रिमधुसिक्तम् ॥

अनेनैवाभिमन्त्र्यैतद्यस्य हस्ते प्रदीयते ॥१४॥
सौभाग्यमतुलं तस्य जायते नात्र संशयः ।

अनेनेति मूलेन। एवकार ऊहप्रयोगाभावं ध्वनति । एतदिति राजसर्षपवस्तु ॥

सप्तकृत्वोऽभिसंमन्त्र्य मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् ॥१५॥
मूर्ध्नि प्रपातयेद्यस्य सर्वदोषैः स मुच्यते ।

मन्त्रविद्वीर्यज्ञः, एतच्च सर्वत्र । प्रपातयेदिति सर्षपमेव ॥

पूर्वोद्दिष्टोपलक्षितवस्तुनिर्णयायाह—

अभिमन्त्र्य वासांसि चौषधम् ॥१६॥
समालम्भेन वाभिमन्त्रितम् ।
दीयते यस्य तस्य हिंसकः ॥१७॥

वा एवार्थे। तेऽस्य वनेभि.........हिंसां नैव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥१७॥

दिग्विदिक्षु जपेद्यस्य रक्षार्थं प्रयतात्मनः ।
दिवा वा यदि वा रात्रौ स्वपतो जाग्रतोऽपि वा ॥१८॥
अवध्यः सर्वभूतैश्च भुवि तिष्ठत्यसौ नरः ।

सर्षपमित्यर्थात् ॥

उपसंहरति—

राजरक्षाविधानं तु मयैतत् प्रकटीकृतम् ॥१९॥
तव स्नेहात् प्रशस्तं तु रहस्यं सर्वसिद्धिदम् ।

प्रजानुकूले राजनि रक्षिते, विश्वं रक्षितं भवतीति प्राधान्याश्रयाद्राजशब्दः । तवेत्यनुजिघृक्षामय्याः ॥

अतश्च—

नृपाणां नृपपत्नीनां तत्सुतानां द्विजादिषु ॥२०॥
आचार्यः कुरुते यस्तु सर्वानुग्रहकारकः ।
मन्त्रज्ञः साधको वाथ स पूज्यः सर्वथा प्रभुः ॥२१॥
संमानैर्विविधैर्नित्यं दानैर्विविधविस्तरैः ।

कुरुत इति उक्तवक्ष्यमाणदृष्ट्या रक्षाम्, मन्त्रज्ञः साधक इति कल्पोक्ताराधनया सिद्धमन्त्रः, तस्याचार्यतुल्यत्वेन—

'एषा वै धारणादीक्षा कर्तव्या योगिनात्र तु ।
मन्त्रसिद्धेन वा देवि कृता वै सुकृता भवेत् ।।' (५।८७)

इति श्रीस्वच्छन्दोक्तत्वात् सर्वथाचार्यः सन्तोष्य इति ।।

एतत् दृष्टान्तप्रमुखं स्फुटयति—

यथा मन्त्रान्तसंयुक्तः स्वाहा होमे प्रशस्यते ।।२२।।
तथा सर्वेषु कार्येषु दक्षितो मन्त्रवित् सदा ।
फलप्रदो भवेत् सद्यः सर्वशान्तिप्रदः शुभः ।।२३।।

मन्त्रस्यान्ते संयुक्त इत्युच्चरितः । स्वाहेति स्वाहाशब्दः । दक्षित इति दक्षिणया तोषितः । फलं मुक्तिसिद्धी, एवमुत्तरत्र ।।२३।।

किं च—

सुधा यथा च नागानां पितॄणां च स्वधा यथा ।
नमस्कारश्च देवानां वौषट् शान्तौ प्रशस्यते ।।२४।।
मन्त्रज्ञानं तथा नित्यं दानं संमानमुत्तमम् ।
फलप्रदं भवत्याशु सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।।२५।।

स्वधेति स्वधाशब्दः । स्पष्टमन्यत् ।।२५।।

एतदेवोपपादयति—

ज्ञानशक्तौ स्थिता मन्त्रास्तज्ज्ञानं चेतसि स्थितम् ।
तच्चेतः पूजितं तुष्टं सात्त्विकं तु भवेत् सदा ।।२६।।
सत्त्वस्थास्तु श्रियो नित्यं लक्ष्मीस्तत्रैव वर्तते ।
रजस्तमोविनाशेन मन्त्राः सत्त्वोदये स्थिताः ।।२७।।
सिद्धिप्रदा भवन्त्याशु यतोऽतीव सुनिर्मलाः ।

मननत्राणधर्मकत्वाद् मन्त्रा ज्ञानशक्तौ स्थितास्तद्वीर्यसारा इत्यर्थः । तच्च वीर्यात्म ज्ञानं चेतसि स्थितं वीर्यानुसन्धानं परं चित्तमाश्रितम् । तच्च चेतः पूजितमिति भक्तिभरेणाराधितम्, अतश्च भक्त्युद्रेकावलोकनोन्मिषद्विकासं सात्त्विकं जायत इति,

'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ।।' (४।१।४)

इति प्रत्यभिज्ञोक्तनीत्योन्मज्जत्सत्त्वप्रकृतिभूतज्ञानशक्तिरूपतामाप्नोति । एवंभूते च सत्त्वे सर्वाः श्रियो महाभोगलक्ष्म्यः स्थिताः, मोक्षलक्ष्मीश्च तत्रैव तिष्ठति । अतश्च चाञ्चल्यसंकुचत्तात्मकरजस्तमोविनाशेन प्रोक्तविकासात्मक-

सत्त्वोदये मन्त्रा अतीव सुनिर्मला इति प्राप्तज्ञानशक्त्यात्ममहावीर्या आशु सदा सर्वसिद्धिदा भवन्तीति ॥

यत एवम्—

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन ह्याज्ञैषा पारमेश्वरी ॥२८॥
परिपाल्या प्रयत्नेत

सर्वप्रयत्नेन आज्ञेति निश्चिताज्ञेत्यर्थः । एषेति सर्वप्रकारमाचार्याराधनं कार्यमित्येवंरूपा ॥

तेन प्रयत्नेनैतां पालयतः—

सिद्धिमुक्ती न दूरतः ।

शीघ्रं भवत इत्यर्थः ॥

आधिकारिकमर्थमुपसंहरन् रहस्यतामस्य दर्शयति—

अनुत्तरविधानं तु न दद्यात् परदीक्षिते ॥२९॥
स्वशिष्ये दीक्षिते दद्यादन्यथा न प्रसिद्ध्यति ।

परदीक्षितस्य द्वैतशिष्यत्वादद्वयाननुप्रविष्टत्वादिति शिवम् ॥

यदामर्शपरामर्शोन्मिषत्पूर्णसुधा परम् ।
सौभाग्यं तनुते तत्तत्तन्नेत्रं शाङ्करं श्रये ॥

इति श्रीनेत्रोद्द्योते पञ्चदशोऽधिकारः ।

————

षोडशोऽधिकारः

विचित्रैराचारैरुपरचितचित्राकृतिफलं
चिदेकात्मस्वात्मस्फुरणमविचित्रं दिशति यत् ।
जगच्चित्रोल्लेखाश्रयलसदचित्रस्वमहिम,
स्तुमः शार्वं नेत्रं तदसमसुखोल्लाससरसम् ॥

पूर्वाधिकाराधिगतसर्वदेवतात्मकश्रीनन्मृत्युजित्स्वरूपमनुभाष्य, तत्प्राप्तिहेतु-समयाचारादि निर्णिनाययिषुः श्रीदेव्युवाच—

कथितं देवदेवेन रहस्यं परमाद्भुतम् ।
सर्वागममयो देव एकवीरो महाबलः ॥१॥
वामदक्षिणसिद्धान्तभेदत्रयविभेदतः ।
वैष्णवादिसमायुक्तः सरहस्यमुदाहृतः ॥२॥
सर्वदेवमयो ह्येष मृत्युजिद्व्यापकः शिवः ।
बहुभिः संप्रदायैश्च यष्टव्यो भावभेदतः ॥३॥
नानाक्रियोपचारेण नानासिद्धिफलप्रदः ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि संशयो मे हृदि स्थितः ॥४॥
त्वदृते संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ।
पृथक् पृथक् समाचारः पूर्वं देवेन भाषितः ॥५॥
कथमस्मिन् समाचारः सामान्यः पूर्वचोदितः ।

रहस्यत्वं सर्वागममय इत्युक्त्या व्यक्तीकृतम् । एक इति अद्वितीयः । वीरः सर्वकार्यकरणक्षमः । महाबलः सर्वमन्त्रवीर्यभूतः । वैष्णवादीति वैष्णवे आकारे, आदिशब्दाद्ब्रह्मसौरादौ सम्यगभेदव्याप्त्या आ समन्ताद्युक्तः । सरहस्यमिति कुलप्रक्रियया उदाहृत उक्तः । व्यापक इति एतत्सर्वदेवमयत्वे हेतुः, अतश्च शिवः परमाद्वयश्रेयोरूपः । संप्रदायैरिति तत्तच्छास्त्रोक्तज्ञानयोगरूपैः । भावभेदत इति आराधकचित्तौचित्यात् । श्रोतुमिच्छामीत्युक्तेः पृथगिति श्लोकेन विषयो दर्शितः । पूर्वमित्यादावुक्तासु नानासंहितासु । सामान्य इति देवस्य महा-सामान्यरूपत्वात् सामान्येनैव आचारेण भाव्यम्, न चासौ कोऽपि लक्ष्यत इत्याशयशेषः । पूर्वचोदित इति पूर्वं हि नवमाधिकारे—

'एवं सर्वगतो देवो बहुरूपो मणिर्यथा ।
सर्वैराराधितो देवि सुसिद्धिफलवाञ्छया ॥' (९।१४)

इत्यादिना आराधित इति सामान्येनैवोक्तम् ॥

किं च—

कथमेकेन मन्त्रेण सर्वे सिद्धयन्ति पूजिता ॥६॥

यतस्तत्र तत्र शास्त्रे—

बीजैः कूटैस्तथा पिण्डैर्मालामन्त्रैरशेषतः ।
वाच्यवाचकभेदेन सर्वसिद्धिफलप्रदाः ॥७॥

उक्ताः । बीजैः स्वरैः । कूटैः पिण्डपदात्मभिः । पिण्डैर्नवात्मादिभिः । मालामन्त्रैः पदसमुदायरूपैः । वाच्यवाचकभेदः परावाक्प्राधान्येन बीजानाम्, पश्यन्तीदृशा पिण्डानाम्, मध्यमायुक्त्या मालामन्त्राणाम्, पश्यन्तीमध्यमाभ्यां कूटानाम् ॥७॥

अतश्च तावतां नानामन्त्रवाच्यानाम्—

कथमेकेन मन्त्रेण पूजनार्हो नरो भवेत् ।
भवन्तीह सुराः सर्वे कथं वापि प्रसादतः ॥८॥
मनुष्याणां हितार्थाय कारुण्यात् परमेश्वर ।

एकेन सामान्यमन्त्रेण अनिर्ज्ञातविशेषा ब्रह्मविष्ण्वाद्याः सर्वेसुरा कथं प्रसादतः प्रसादीभवन्ति, मानवानामज्ञाततद्विशेषाणां कथं प्रसीदन्तीत्यर्थः ॥

किं च—

कलिमासाद्य सिद्धयन्ति मनुजा दुःखमोहिताः ॥९॥
दारिद्र्यानलसन्तप्ता नानामृत्युभयान्विताः ।
पापैकनिरता क्रूराः शौचाचारबहिष्कृताः ॥१०॥
हिंसापैशुन्यनिरतास्तपःसत्यविवर्जिताः ।
योगिनीशाकिनीभिश्च डाव्या डामरिकादिभिः ॥११॥
भूतैर्यक्षैरपस्मारैर्मुद्रिताः प्राणिनो यथा ।
सिद्धयन्ति विगतायासास्तथा ब्रूहि महेश्वरः ॥१२॥

यथा सिद्धयन्तीति येन दुःखदारिद्र्यादिप्रशमनेनोपायेन परामपरां वा सिद्धिमाप्नुवन्ति, तं प्रकारं ब्रूहीति संबन्धः । शौचं चित्तवित्तदेहविषयम् । शाकिन्यादीनां स्वरूपमग्रे दर्शयिष्यामः ॥

एतत्प्रश्ननिर्णयाय श्रीभगवानुवाच—

साधु साधु महाभागे यथापृष्टं वदामि ते ।

एवं प्रतिज्ञाय कलिमासाद्येति यदुक्तम्, तदाशयेन तावदाह—

अल्पायुषस्तथा मर्त्या मोहोपहतचेतसः ॥१३॥
दुष्टाचाररतः नित्यमसत्सङ्गोपसेविनः ।
निन्दका बलिनः क्रूरा जरारोगवशीकृताः ॥१४॥
दुष्टाचाररता मूर्खाः परेर्ष्यसेविनः सदा ।
महाभयाक्रान्तनिभा दारिद्र्यानलपीडिताः ॥१५॥
नास्तिक्यवादिनो दुष्टाश्चौराचारसमन्विताः ।
अभक्ता देवगुरुषु मात्सर्याधमसेविनः ॥१६॥
तीर्थोपवासनियमैर्व्रतैः कष्टतरैस्तथा ।
सिद्धिहीनास्तु ते सर्वे न मुक्ता इति निश्चयः ॥७७॥
तेषामुद्धरणार्थं तु मन्त्रराजं महाबलम् ।
येन चेष्टेन ध्यातेन पूजितेन सुरार्चिते ॥१८॥
संगच्छन्ति परं स्थानं निर्वाणं भेषजं परम् ।
भविष्यति महादेवि कलिः कष्टतरो यतः ॥१९॥
तदर्थं परमार्थोऽयं माया ते प्रकटीकृतः ।

आदावेव विदितकारुणिकत्वदाशयेन मयेत्यर्थः । अयमिति मृत्युजिन्नाथरूपः ॥

अतश्च सर्वथा—

परमार्थः परत्वेन मृत्युजित् सर्वतोमुखः ॥२०॥
भावभेदेन यष्टव्यो मोक्षसिद्धिमभीप्सता ।

सर्वतो मुखानि तत्तद्देवताध्यानादीनि द्वाराणि प्राप्त्युपाया यस्य स, परत्वेन सर्वोत्कृष्टचिदानन्दाद्वयव्याप्त्या भवानां बुद्धिधर्माणां रागादीनां भेदेन विदलनेन परमार्थरूपः परमोपादेयो मृत्युजित् मुमुक्षुणा यष्टव्यः ।

अस्य च नियताकृत्युपायाश्रयिभिराचारादिर्नियत एव आश्रेय इत्याह—

येषु येषु समाचारो मया शास्त्रेषु भाषितः ॥२१॥
स्रोतःसु स तथा कार्यो विशेषाद्यागहोमयोः ।

आकृतिशबलतावद् द्रव्यादिशाबल्यं न कार्यमित्यर्थः । आचारशबलतापि चिदभेदमय्येवेति चेत्, तर्हि आचारनियम इव आकृतिनियम इत्युक्तम्—

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥' (वि०भै० १४७)

इत्येवावशिष्यते । एतद्दशासमापन्नस्य च योगीन्द्रस्य सततोदितरहस्य-पूजादिजुषो न किञ्चित् कर्तव्यमस्ति । यथोक्तमस्मत्प्रभुभिः स्तोत्रे—

'तव न का किल न स्तुतिरम्बिके सकलशब्दमयी वत ते तनुः ।
निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो मनसिजासु वहिष्प्रसरासु च ।।
इति विचिन्त्य शिवे शमिताशिवे जगति जातमयत्नवशादिदम् ।
स्तुतिजपार्चनचिन्तनवर्जिता न खलु काचन कालकलास्ति मे ।।'

इति । अद्वयधाम प्रविविक्षून् प्रति त्वाकृतिनियमवदाचारनियमः, तत्रापि परमेश्वराद्वयहेतुमन्त्रवीर्यानुसन्धानमुपदिष्टमिति यथोक्तमेव ज्यायः ।।

ननु प्रणवादिसाधारणमन्त्रान्तरसद्भावेऽस्यैवायमियान् प्रकर्षः कुत इत्याशङ्क्य परममहेश्वरनियोग एवात्र हेतुरित्याशयेन आह—

अन्ये सामान्यतो देवि न सिद्धयन्ति कदाचन ।।२२।।
किन्त्वस्मिंश्चाधिकारोऽस्ति त्रिविधे सर्वसिद्धिदे ।

अन्ये इति **प्रणव-मातृका-माया-व्योमव्यापि-षडक्षर-प्रासाद-बहुरूपाः** सामान्यतः पराद्वयस्फुरत्तात्ममहासत्तारूपपरचैतन्यात्मनि सामान्येन कदाचित् सिद्धयन्ति, न जातु तत्प्राप्तिहेतवो भवन्ति, अपि तु तत्तच्छास्त्रोक्ततत्तद्दैवतोचितपदप्रापकाः । सामान्यत इति आवृत्त्या योज्यम् । अस्मिन्नेव च प्रोक्तवक्ष्यमाणसर्वसर्वात्मकतात्ममहाव्याप्तिके मन्त्रराजे—

'त्रिधा तिसृष्व' (१।१)

इत्येतच्छ्लोकव्याख्यातसतत्त्वत्रैविध्ये तत एव सर्वसिद्धिप्रदेऽयमधिकार इति प्रोक्तसामान्यसिद्धिप्रदत्वमैश्वरनियोगादस्ति । यथोक्तं प्राक्—

'देवेशः सर्वसर्वात्मकः परः ।
साधारणो मन्त्रनाथः सर्वेषामेव वाचकः ।।' (१४।८)

इति । अतश्चायं प्रणवादिसाधारणमन्त्रान्तराणां क्रमकुलमतषडर्धादिविशेषमन्त्राणामपि च वाचकत्वात् साधारणासाधारणो विशेषविशेषश्चाभिधीयत इति गुरवः ।।

यत एवम्, तस्मात्—

द्वैताद्वैतविमिश्रे वापीष्टो वै सिद्धिदो भवेत् ।।२३।।
यस्मात् सर्वगतो देवो विश्वरूपो मणिर्यथा ।

विश्वं रूपं यस्यासौ स्वस्वातन्त्र्यावभासितविश्वमूर्तिः अत एव प्रोक्तदृशा एकवीरोऽपि स्वातन्त्र्यगृहीतविश्वात्मद्वैतमूर्तिस्तस्या अपि मूर्तेरद्वयचित्प्रकाशभित्तिलग्नतया प्रकाशमानत्वाद् द्वयाद्वयरूपोऽपि, इति कृत्वा परमाद्वयानुत्तररूपोऽयं सर्वगतत्वात् सिद्धान्तविशेषतन्त्रेषु द्वैताद्वैतविमिश्ररूपेषु इष्टः सिद्धिदो भवत्येव । मणिरत्र चिन्तामणिः ।।

अतश्च न केवलमित्थं महाद्वयव्याप्त्या सर्वत्र जीवन्मुक्तिप्रदोऽयम्, यावत्—

साधकस्येच्छया चेष्टः सिद्धिदो भवति ध्रुवम् ॥२४॥

ध्रुवं निश्चितमेव सर्वसिद्धिप्रदो भवति ॥२४॥

एतदुपसंहरति—

योऽसौ सर्वगतो देवः सर्वेष्वन्तर्गतो विभुः ।
सिद्धिमुक्तिप्रदाताऽसौ न वर्णाः परमार्थतः ॥२५॥
यस्मात्तस्मात् सदा देवि यष्टव्यो भावभेदतः ।

यस्मात् स्वतन्त्राद्वयचिदात्मा महेश्वरः सिद्धिमुक्ती प्रददाति परमार्थतः, न तु वर्णास्तेषां वर्णत्वेनेतरवर्णेभ्योऽविशेषात्, तस्मात् स्वच्छस्वतन्त्रस्फुरच्चित्परामर्शपरमार्थो मन्त्रनाथो भावभेदत इति मुमुक्षुबुभुक्षुभिर्यष्टव्यः । बुभुक्षवोऽपि हि अद्वयधामामर्शपुरःसरं कर्मणि प्रवर्तमाना विघ्नैर्नाभिभूयन्त इति श्रीसर्वाचारभट्टारक उक्तम् । योऽसावित्यादि प्रागेव व्याकृतम् ॥

अथ—

यागमस्य प्रवक्ष्यामि क्रियते तु यथेच्छया ॥२६॥
पर्वताग्रे नदीतीरे गवां गोष्ठेऽथ चत्वरे ।
वने चोपवने रम्ये देशकालानुरूपतः ॥२७॥
सर्वशल्यविनिर्मुक्ते दुष्टसत्त्वविवर्जिते ।
पुण्यधर्मिष्ठसंवासे पापाचारविवर्जिते ॥२८॥
यत्र निन्दापराः पौरा न दृश्यन्ते कदाचन ।
यन्न पश्यन्ति ते दुष्टाः संकीर्णाः सर्वसंकराः ॥२९॥
तस्मिन् यजेन्महामन्त्रमीतिभिः परिवर्जिते ।

देवतोद्देशेन द्रव्यप्रक्षेपो यागः । यथेच्छयेति पर्वताग्रादिष्विच्छानतिक्रमेण यत्रेच्छा तत्र कार्यं इत्यर्थः । देशकालानुरूपत इति देशकालसौकर्येणेत्यर्थः । पुण्यश्चासौ धर्मिष्ठसंवास इति समासः । संकीर्णा विलोमजाः । सर्वसंकरा इति क्षुद्रपापिष्ठहिंस्रादिभिः सर्वैः संकरो व्यामिश्रता येषाम् । ईतयोऽतिवृष्ट्याद्याः ॥

यद्वा—

गृहे यागः प्रकर्तव्य आचार्यैस्तत्त्वदर्शिभिः ॥३०॥

तत्त्वदर्शितां विना तु न आचार्यत्वं किंचित् ॥

स च—

सुगुप्तस्तु प्रकर्तव्यो विशेषाच्छान्तिकर्मणि ।

विशेषशब्दो नित्येऽपि गुप्तिमाह ॥

नैमित्तिके कर्मण्यनुग्रहप्राधान्यान्न नियम इत्याह—

दीक्षाकाले तु कर्तव्यं मण्डलं यत्र तत्र हि ॥३१॥

गृहे वा पर्वताग्रादौ वा ॥३१॥

काम्ये तु गुप्ते एव स्थाने इत्याह—

शान्तौ पुष्टौ प्रयत्नेन सुगुप्तं यजनं ध्रुवम् ।

ध्रुवं निश्चितं कृत्वा ॥

अत्रोपपत्तिमाह—

यस्माद्धिंसापरा लोके दृश्यन्ते सिद्धिहिंसकाः ॥३२॥

सिद्धिहिंसकशब्दवाच्याः क्षुद्रा योगिनीभूतपिशाचाद्या यतो हिंसापराः दृश्यन्ते, ततः सुगुप्ततैव युक्ता ॥३२॥

तैर्हि—

कीलनं चैव मन्त्राणां भेदनं मोहनं तथा ।
संत्रासं ताडनं चैव जम्भनं स्तम्भनं तथा ॥३३॥
रिपुत्वकरणं चान्यत् प्रत्यङ्गिरत्वमेव हि ।
सर्वहानिविधायित्वं क्रियते दुष्टमन्त्रिभिः ॥३४॥

तत्र—

'जाज्वल्यमानं संचिन्त्य पादाङ्गुष्ठात्तु मस्तकम् ।
प्रविश्याधोमुखं कृत्वा अपानस्थान आत्मनः ॥
दग्धकाष्ठसमप्रख्यं साध्यमुल्मुकरूपिणम् ।
त्यक्तदेहं विचिन्त्यैवं मन्त्रच्छेदः कृतो भवेत् ॥
कीलनं मोहनं चैव तेजोहानिस्तथा भवेत् ।
रक्षाच्छेदश्च भवति सत्यं नास्त्यत्र संशयः ॥
सर्वद्विष्टश्च भवति न मन्त्रस्तस्य सिद्धयति ।'

इति ध्यानयुक्त्या, तथा—

'ककारपुटयोर्मध्ये यस्य नाम समुल्लिखेत् ।
तद्बाह्ये वह्निभवनं रेफाष्टकविभूषितम् ॥

लिखित्वा स्थापयेद्यन्त्रं कपालोभयसंपुटे ।
यस्य नाम्ना महागौरि मन्त्रच्छेदस्तु तस्य वै ॥
जायते सिद्धिहानिश्च विद्विष्ट सर्वतो भवेत् ।

इत्यादियन्त्रयुक्त्या च श्रीकुलार्णवोक्तया, तथा—

'आकारश्छेदने प्रोक्त ऋकारस्ताडने...'

इत्यादिना श्रीमच्छुष्मतन्त्राद्यादिष्टाकारादिसंपुटीकारयुक्त्या दे...योगसहितैंत-त्ताडनादि दुष्टाः कुर्वन्ति । कीलनमन्यादृशत्वापादनम्, भेदनं साध्यसांमुख्य-त्यागम्, मोहनं निर्वीर्यीकरणम्, जम्भनं कार्यंकरणासाध्यसामर्थ्याधानम्, स्तम्भनं निश्चेष्टत्वापादनम्, प्रत्यङ्गिरत्वं भूतादिदमनप्रयुक्तस्य मन्त्रस्य प्रयो-क्तारं प्रति विरुद्धकारित्वम् । स्पष्टमन्यत् ॥३४॥

एवं दशप्रकारेण प्रयतन्ते हि हिंसकाः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सुगुप्ते शरणोपरि ॥३५॥
स्वगृहे कारयेद्यत्नाद्यागं होमं जपं तथा ।

हियंस्मादर्थे । स्वगृह इति तत्र यथारुचि गुप्तीकर्तुं शक्यत्वात् ॥

किं चायम्—

अत्यन्तफलदः श्रेष्ठः सुगुप्तो मृत्युजित् सदा ॥३६॥
मण्डले स्थण्डिले कुम्भे निर्विशङ्केन चेतसा ।

भवत्येवामुतः फलमिति निश्चितमनसा कुम्भादौ सुगुप्तो नाथो नित्य-मिष्टोऽभीष्टफलप्रदः ॥

किं च—

हर्म्योपरि तथा होमो विशेषाच्छान्तिपुष्टिदः ॥३७॥

तथेति सुगुप्त्या निःसंशयतया च ॥३७॥

अतश्च—

न विकल्पोऽत्र देवेशि

कार्यः ॥

यतः—

विकल्पाद्रौरवं व्रजेत् ।

तदुक्तमन्यत्र—

'नान्यच्छिद्रं प्रपश्यामि मन्त्रिणां मन्त्रसाधने ।
यन्न तादृक्तथालिङ्गः केवलं विचलत्यसौ ॥'

इति ॥

तेन यो निष्कम्पः साधकः—

याग होमं तु तत्रैव सर्वसिद्धिफलप्रदम् ॥३८॥

संशय्य प्रवृत्तं तु—

तस्करं तु विजानीयात् सिद्धिहानिं करोति यः ।
नाधिकारी भवेद्धै स तन्त्रेऽस्मिन् पारमेश्वरे ॥३९॥

अनाश्वस्तहृदयतया पारमेशे च्छद्मना प्रवर्तमानश्चौरवद् वध्यत इत्यर्थः ॥३९॥

यत एवम् तेन—

सर्वदः स भवेद्देवि तत्त्वविच्चाध्वविद्गुरुः ।

तत्त्ववित् साक्षात्कृतप्रकाशानन्दघनपरमशिवात्मस्वस्वरूपः । अध्ववित् क्रियाशक्तिविकासात्म विश्वं चिन्वानः । यत एवम्, तत एव स्वस्थानोल्लसितं सर्वफलमसौ दातुं क्षमः ॥

किं च—

एवं व्याप्तिं तु यो वेत्ति परापरविभागतः ॥४०॥
स भवेन्मोचकः साक्षाच्छिवः परमकारणम् ।

साधकानामिव सिद्धिर्मुमुक्षूणां मुक्तिस्तत्त्वविद एवेत्यर्थः । साक्षाच्छिवः परमकारणमिति विशेषणमत्र भेदवाद इव परमशिवाद् मुक्तशिवानामन्यत्वं न आशङ्कयमित्याशयात् ॥

एतदेव व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—

शिवतत्त्वमविज्ञाय दीक्षां प्रकुरुते तु यः ॥४१॥

तेन सह दीक्ष्या नापवर्गगामिनः, अपि तु—

अन्धेनैव यथान्धस्तु सर्वे ते श्वभ्रपातिनः ।

एवकारो यथोक्तशिवतत्त्वज्ञानहीनस्य लेशेनाप्यनुन्मिषितपरनेत्रप्रकाशत्वं ध्वनति ॥

अतश्चाविज्ञाततत्त्वोऽनधिकृतोऽपि जीविकया प्रवृत्तः—

आत्मानं च तथा शिष्यान्नयेन्निरयसंकटम् ॥४२॥

यत एवम्—

तस्मात्तत्त्वविदाचार्यः श्रीमान् सर्वप्रदो भवेत् ।

गीमान् जीवन्मोक्षलक्ष्म्या आलिङ्गितः ॥

न च तत्त्वविस्त्वं विना कर्मिणोऽप्याचार्यस्य प्रवृत्तिर्युक्तेत्याह—

यावन्न तत्त्वविच्छैवे कथं कर्माणि कारयेत् ॥४३॥
मन्त्रज्ञो मन्त्रयागे पु परस्यैवात्मनोऽपि वा ।

मननत्राणधर्मकपराशक्तिवीर्यसारमन्त्रकरणके यागे शिवाध्वरे यानि पूजाहोमदीक्षादिकर्माणि तानि यावन्न परममहेश्वरात्मस्वात्मतत्त्ववित्, अत एव तत्स्फुरत्तात्मकमहावीर्यसारमन्त्रज्ञः शैवे शास्त्रे आचार्यस्तावत् कथं कारयेत्, कुर्वन्ति मन्त्रकरणानि कथं प्रयुञ्जीत । परस्य आत्मनोऽपि वेत्यत्रायमर्थः— आत्मन एवासौ कर्तुं न किंचित् क्षमः, किं पुनः परस्येति ॥

ननु मन्त्रमण्डलादिमाहात्म्येन दीक्षा सेत्स्येति किमाचार्यस्य तत्वज्ञतयेति चित्रमण्डलोल्लिखनमन्त्रन्यासतत्पठनतिलाज्यप्रक्षेपमात्रकृतप्रयासानां मोहमपोहयति महेश्वरः—

यावन्न निर्मला मन्त्रास्तावत्सिद्धिः कथं भवेत् ॥४४॥
निर्मलः स भवेच्चेत्ततस्था मन्त्राः सुनिर्मलाः ।
तदुद्भूतास्तत्समाश्च भवेयुः सर्वसिद्धिदाः ॥४५॥

यद्याचार्यो निर्मलः प्रशान्तदेहपुर्यष्टकादिकालुष्योन्मिषत्स्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दसमावेशशाली ततस्तदुद्भूतास्तच्छक्तिवीर्यसारतया उच्चरन्तो मन्त्रा अपि तत्समा निर्मलाः सर्वसिद्धिप्रदा भवन्ति । यथोक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'मन्त्राः करणरूपास्तु पशुकार्यस्य साधने ।
आचार्यः कारणं तत्र शिवरूपो यतः स्मृतः ॥' (३।१६०)

इति । स्पन्देऽपि—

'तदाक्रम्य' (२।१)

इत्यादि

'तेनैते शिवधर्मिणः ॥' (२।२)

इत्यन्तम् ॥४५॥

तत्समा इत्युक्तिं स्फुटयति—

शिवशक्तिनियोगाच्च मन्त्राणामुदयः परः ।
सर्वत्र फलदा मन्त्रा यतस्तेऽतः शिवाः स्मृताः ॥४६॥
तस्माच्छिवसमाः सर्वे नित्यानुग्रहकारिणः ।

शिवशक्तिनियोगः परप्रकाशानन्दोपोद्बलितत्वम्, ततो मन्त्राणां वाच्यवाचकाभेदस्फुरत्तासाराणां पर उदयो भवति, अतश्च सर्वत्र फलदाः । यत

एवमतस्ते स्मृता एवंरूपतया विमृष्टाः शिवैकरूपाः। तस्मादिति ईदृशेन शिवसमानत्वेन एते नित्यमनुग्रहं ताच्छील्येन कुर्वन्ति ॥

शिवावेशज्ञस्यैवाचार्यस्यैते शिवरूपाः सन्तः फलन्तीति प्रकृतमनुबध्नाति—

शिवश्चाचार्यरूपेण तेनैते फलदाः स्मृताः ॥४७॥

रूपशब्दः शिवाचार्ययोर्न अधिष्ठात्रधिष्ठेयता मन्तव्येति बोधयति। तदुक्तं[1] श्रीस्वच्छन्दे—

'मण्डलस्थोऽहमेवात्र'

इत्युपक्रम्य

'साक्षात् स्वदेहसंस्थोऽहं कर्तानुग्रहकर्मणाम्'

इति ॥४७॥

एतदेव स्वप्रतिज्ञया हृदि रोहयति—

यावन्न तत्त्वविन्मन्त्री गुरुर्वा साधकोऽपि वा।
तावन्न फलदो देवि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥४८॥

साधकः फलदः स्वस्मै, अपिशब्दात् पुत्रकोऽपि ॥

एतद्वैधर्म्योक्त्या द्रढयति—

अन्यथा भोगसंयुक्त आचार्यः फलदो नहि।

पानाशनावेशवैवश्यपोषितशरीरित्वाभिनिवेशः पशुर्निर्विशेष एवेत्यर्थः ॥

यत एवम्—

तस्मात्तु तत्त्वविच्छ्रेष्ठः सर्वदा सर्वकर्मसु ॥४९॥

नित्यादिषु ॥४९॥

किं च—

तेन यो दीक्षितो जन्तुः

असौ—

ब्रह्महापि शिवो भवेत्।

अस्य महाप्रभावतामादिशति—

यत्र यत्र स्थितो देशे यश्चैवं तु विधिं यजेत् ॥५०॥
येन येनोपचारेण भावभेदेन येन वा।
सामान्येन विशेषेण कौलिकेनाथ सुव्रते ॥५१॥

---

१. स्वच्छन्दतन्त्रे नोपलभ्यते।

तत्तत्साधयते शीघ्रं यथा देव सदाशिवः ।

एवमिति शिवावेशोन्मिषन्मन्त्रज्ञतया यो विधिं शाम्भवं विनियोगं यजेद् यागेन संपादयेत्, भावभेदेन तत्तदाराध्यदेवताराधनौचित्येन यो यो द्वैताद्वैतविमिश्ररूप उपचार आचारस्तेन तेनासौ तत्तदभीष्टं झटिति घटयति सदाशिवनाथवत् ॥

न च तत्त्वज्ञस्य कुण्डमण्डलप्रमाणादिनियम इत्याह—

चतुरश्रे वर्तुलेऽथ हस्तमात्राधिकेऽपि वा ॥४२॥
आचार्यस्येच्छया सर्वं सिद्धयति व्याप्तिवेदनात् ।

व्याप्तिज्ञतैव आचार्यीया समस्तसिद्धिसाधनी ॥

व्याप्तिं लेशतो दर्शयति—

क्रियाशक्तिस्वरूपेण कुण्डल्या व्याप्तिभावनात् ॥५३॥
तत्कुण्डं व्यापकं ज्ञात्वा सर्वज्ञस्तु भवेद् गुरुः ।

निजक्रियाशक्त्यात्मकोर्ध्वकुण्डलिनीव्याप्त्या कुण्डस्य व्यापकतां ज्ञात्वा शिवावेशशाली दैशिको दीक्षादिना भोगमोक्षप्रदो भवति ॥

व्याप्तिज्ञतैव फलदेति व्यतिरेकतोऽन्वयतश्चादिशति—

यावन्न विन्दते व्याप्तिं कुण्डस्यैवात्मनोऽपि च ॥५४॥
साध्यस्यैव पशोश्चैव पाशानां च षडध्वनः ।
बालवत् क्रीडते तावत् कार्यं तस्य कथं भवेत् ॥५५॥
यः पुनर्वत्ति चात्मानं शिवशक्तिस्वरूपकम् ।
स सर्वफलदः श्रेष्ठः स कर्ता सर्वविच्छिवः ॥५६॥

तत्र कुण्डस्य ऊर्ध्वकुण्डलिनीशक्त्यात्मा, आत्मनः परशिवसमवायिनी, साध्यस्य आराध्यस्य मन्त्रस्य पराशक्तिस्फुरत्तावीर्यसारा व्याप्तिरित्युक्तम् । पशोस्तु—

'शब्दराशिसमुत्थस्य' (स्प० ३।१३)

इति नीत्या गृहीतसंकोचशिवात्मकता आणवमायोयकार्माणामपूर्णंमन्यताभिन्नवेद्यप्रथाशुभाशुभादिसंस्काररूपाणां सत्त्वरजस्तमसां च पारमेशेच्छाज्ञानक्रियाशक्तिसंकोचप्रकर्षस्वभावा व्याप्तिः । यथोक्तम्—

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥' (३।२।४)

इति,

'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम् ।
कर्तर्यबोधे कार्मं तु.........॥' (३।२।५)

इति,

'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ॥' (३।२।३)

इति च प्रत्यभिज्ञायाम्, स्पन्देऽपि—

'निजाशुद्धयासमर्थस्य' (१।९)

इत्यादि । वर्णमन्त्रपदकलातत्त्वभुवनाख्यस्य षडध्वनोऽपि परसूक्ष्मस्थूलरूपतावस्थितवाचकतद्वाच्याभासरूपक्रियाशक्तिस्फारसतत्त्वता । तत्राप्यभेदेन विश्वं विमृशन्ति वर्णाः, भेदाभेदाभ्यां मन्त्राः, भेदेन पदानि । पूर्वः पूर्वश्च अध्वाऽत्रोत्तरत्र व्यापकतया स्थितः, उत्तर उत्तरः पूर्वत्र व्याप्यतया स्थितोऽन्तर्भूत इति सर्वः सर्वत्रास्ति । अत एव गर्भीकृतेतराध्वपञ्चकैकाध्वशुद्धिस्तत्र तत्र शास्त्रे चोदिता । तथा श्रीस्वच्छन्दे—

'भुवनव्यापिता तत्त्वेष्वनन्तादिशिवान्तके ।
व्यापकानि च षट्त्रिंशन्मन्त्रवर्णपदात्मकाः ॥
तत्त्वान्तर्भाविनः सर्वे वाच्यवाचकयोगतः ।
कलान्तर्भाविनस्ते वै निवृत्त्याद्याश्च ताः स्मृताः ॥' (४।९५-९७)

इत्याद्युक्तम् । एतच्च तदुद्द्योते निर्णीतमस्माभिः । एवं मण्डलादावपि परमेशाभेदसारत्वपर्यवसाना यादृशी व्याप्तिः, तथा तत्रैव वितत्य दर्शितम् । अत एव—

[1]'मण्डलस्थोऽहमेवात्र'.........।'

इत्यादि विततं श्रीस्वच्छन्दादौ देवदेवेन आदिष्टमित्यलम् । कार्यमिति भोगमोक्षादि । यस्तु आत्मानं मुख्यतया चकारसमुच्चितं मन्त्रादि सर्वं शिवं प्रकाशमानतया प्रकाशैकघनशिवरूपं तथाविधतत्स्वातन्त्र्याद् दर्पणनगरवद् भेदेनैव स्फुरणाम् शक्तिरूपं च वेत्ति, असावभेदसर्वज्ञसर्वकर्तृशिवरूपो भोगमोक्षप्रदः श्रेष्ठः । उक्तं च प्राक्—

'स्वपरस्थेषु भूतेषु' (८।१८)

इत्यादि । श्रीत्रिशिरोभैरवेऽपि—

१. स्वच्छन्दतन्त्रे नोपलभ्यते ।

'जीवः शक्तिः शिवस्यैव सर्वत्रावस्थितापि सा ।
स्वरूपप्रत्ययारूढा ज्ञानस्योन्मीलनाच्छिवा ॥'

इति ॥५६॥

पूर्वोक्तक्रियाशक्तिमयस्य कुण्डस्य—

ज्ञानशक्तिमयो वह्निर्व्याप्यव्यापकभेदतः ॥

आचार्येण ज्ञातव्यः ॥

यश्च ईदृगाचार्यः—

स ज्ञाता सर्वकर्ता च मोक्षदः फलदो गुरुः ॥५७॥

ज्ञाता तत्त्वज्ञः । सर्वकर्ता परशक्तिस्फारात्मा । फलदः सिद्धिदः ॥५७॥

किं च—

षडध्वातीतयागं तु यजते यस्तु दैशिकः ।
मायोदधौ स नौभूतः सर्वत्राणकरः शिवः ॥५८॥

षडध्वातीतश्चिदानन्दघनः परमशिवः, स एव इज्यत इति व्युत्पत्त्या यागो याज्यस्तं यो दैशिक आचार्यो यजेत, मायाब्धौ नौरिव सर्वस्य त्राणकृत् शिवरूपः ॥५८॥

यथोक्तां तु व्याप्तिमज्ञात्वा—

अध्वमध्यगतं यागं यः करोत्यविचारतः ।
नासौ मोचयितुं शक्तः परमात्मानमेव वा ॥५९॥

यागं पूजाहोमादिरूपम्, अध्वगतमिति याज्ययजनाधारयजनयाजकादि सर्वं भेदमयं मन्वानोऽविचारस्तत्त्वाविमर्शात् । आत्मानमेव वेति वाशब्द उत्तर-पक्षदार्ढ्ये ॥५९॥

एष च—

नैव सिद्धिं तु लभते न कार्यकरणे क्षमः ।

प्रत्युतास्य भेदप्रमातृतया देहाद्यात्माभिमानिनः—

षडध्वना तु तेनैव बन्धनं तु मलं स्मृतम् ॥६०॥

तेनैवेति परमशिवतयाऽपरिज्ञातेन ॥६०॥

एवंविधस्य चास्य—

मायीयाणवकार्मं तु विसरेद्बन्धकारणम् ।

विसरेत् प्रत्युत विशेषेण सरेत् प्रसरेत् ॥

अतश्चासौ—

पशाश्चैव न तत्रस्थः शक्तो वै मोचने गुरुः ॥६१॥

तत्रस्थोऽध्वमध्यगतः । गुरुरिति नाममात्रेण, यद्वा देहादिमयत्वाद्भार-भूतः ॥३१॥

युक्तं चैतत्—

अध्वमध्यगताः पाशाः प्ररोहन्ति सदात्मनः ।

अध्वमध्यगततया भिन्नतां मन्वानस्य ॥

अतश्चोक्तोपदेशयुक्त्या आत्मानम्—

तदतीतं परं ज्ञात्वा को न मुच्येत बन्धनात् ॥६२॥
को वा मोक्षप्रदो न स्यात् कः सिद्धिं लभते न च ।
को न दाता भवेन्मन्त्री कः कार्ये न क्षमः प्रिये ॥६३॥

तदतीतमध्वातीतं परमशिवैकरूपम् । दातेति साधकेभ्यः सिद्धेः । कार्ये इति रक्षाप्यायनादौ ॥

अतश्च—

यः परः सर्वतोरुद्रस्तं ज्ञात्वा तन्मयो भवेत् ।

य इति असामान्यः, परोऽनुत्तरः, समस्तरुग्द्रावणाद् रुद्रः । ज्ञात्वेति स्वात्मरूपतया प्रत्यभिज्ञाय ॥

अतत्त्वज्ञस्तु—

मानोन्मानप्रमाणादि वेत्ति वै योऽध्वनो गुरुः ॥६४॥
शिल्पिवत् स भवेद्दक्षो विचित्राकारकारकः ।
न मोक्षदस्तु भवति नासौ सिद्धिफलप्रदः ॥६५॥

वेष्टनोर्ध्ववैपुल्यमानं मानोन्मानप्रमाणम्, आदिशब्दात् तत्त्वादीनामौत्तराधर्यक्रमम् । विचित्राकारकारक इति नानासंनिवेशमात्रकल्पकः, न तु व्याप्तिज्ञः ॥६५॥

यत एवमज्ञा गुरवो हेयाः—

तस्माच्छिवसमाः सर्वे द्रष्टव्यास्तत्त्ववेदिनः ।

शिवसमाधिस्थैरित्यर्थात् ।

यद्यपि—

कर्मी योगी तथा ज्ञानी आचार्यस्त्रिविधः स्मृतः ॥६६॥

तत्र तत्र शास्त्रे ॥६६॥

तथापि—

कर्मयोगौ तु देवेशि ज्ञानमूलौ फलप्रदौ।
पृथग्भेदो न दृश्येत ज्ञानाद्वै योगकर्मणोः ॥६७॥

क्रियायास्तद्विशेषफलात्मनश्च योगस्य ज्ञानशक्तिस्फारूपत्वान्न ज्ञानात् पृथक् भेदोऽस्ति, अपि तु ज्ञानदर्पणान्तः प्रतिबिम्बितत्वेन भिन्नाभासत्वमिव ॥६७॥

यत एवम्—

तस्मादाचार्यमुख्यस्तु ज्ञानवान् सर्वदो भवेत्।

ज्ञानवान् परचित्समावेशात्मकप्रशस्तज्ञाननित्ययुक्तो यः, स एव कर्मयोगादिप्रधानाचार्याणां मध्ये मुख्य आचार्यः। स एव सर्वदो भवति। तदुक्तं श्रीकामिकायाम्—

'ज्ञानमूलो गुरुः प्रोक्तः सप्तसत्रीप्रवर्तकः।'

इति। श्रीसिद्धामतेऽपि—

'ज्ञानेन तु महासिद्धो भवेद्योगीश्वरस्त्विह।'

इति॥

ज्ञानवत्त्वादेव ह्यसौ—

शिवाश्रयः शिवस्थस्तु शिवशक्तिप्रचोदितः ॥६८॥
निर्मिमीते जगत्सर्वं शिवरूपो यतः स्मृतः।

शिव आश्रयो भित्तिरूपत्वेनावलम्बनीयो यस्य, तत एव शिवशक्त्या प्रचोदितोऽनुग्रहादौ कर्मणि प्रवर्तितः, तथापि च

'संबन्धे सावधानता' (वि० भै० १०६)

इति नीत्या शक्त्यवष्टम्भेन शिवे परचिद्धाम्नि स्थितस्तत्समावेशशाली, अतश्च शिवस्वभावः सन् जगद् निर्मिमीते निमेषोन्मेषदशासु. शब्दादिपञ्चकात्म विश्वं चिद्रसाश्यानविलापनात्मना भेदेनाभेदेन चाभासयति ॥

अयं हि—

इच्छाज्ञानक्रियायोगशिवशक्तिविशारदः ॥६९॥

इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिभिर्योगो वीर्यं ययोः प्रकाशानन्दात्मनो शिवशक्त्योः, तत्र विशारदस्तत्समावेशमयः ॥६९॥

एवंभूतं हि दीक्षाकर्म—

यः करोति शिवेच्छातो ज्ञात्वा चाप्यध्वसंस्थितिम्।

पूर्वोक्तदृशा क्रियाशक्तिस्फारव्याप्त्या व्याप्यस्याध्वनः संस्थितिं ज्ञात्वा यः शिवरूपस्य स्वात्मनः संबन्धिन्या इच्छया करोति।

तस्य संबन्धिनी—

अचिन्त्या मन्त्रशक्तिर्वै परमेशमुखोद्भवा ॥७०॥

यद्यत्प्रकुरुते ज्ञानी शिवशक्तिसमाश्रयात् ।

परमेशमुखं परा शक्तिः ॥७०॥

अचिन्त्यमन्त्रशक्तिश्चायम्—

तत्तन्निष्पद्यते तस्य शिवशक्तिप्रभावतः ॥७१॥

तस्य वै संमुखा मन्त्रा दृष्टप्रत्ययकारकाः ।

दृष्टेत्युक्तिं स्फुटयति—

शान्तिकादीनि कर्माणि विषभूतग्रहादिषु ॥७२॥

क्षणेन कुरुते सर्वं

शान्तिकादीनि विषादिविषयाणि च निर्विषीकरणत्वादीनि कर्माणीति योज्यम् ॥

नन्वस्य आदि करणे सामर्थ्यम्, तत् 'शिवशक्तिप्रभावतः' इति किमुक्तमित्याशङ्क्य तस्यैव सर्वत्र मूलकारणत्वमित्याह——

शिवः परमकारणम् ।

स एव हि तत्तद्भूमिकाविष्टस्तत्तत्करोति । यथोक्तं श्रीश्रीकण्ठ्याम्——

'प्रवर्ततेश्वरात् सर्वं निवर्तेत तथेश्वरात्'

इति ॥

अतश्च—

तं प्रबोधयते यस्तु ज्ञानयोगबलान्वितः ॥७३॥

मन्त्रशक्तिप्रभावेण स दीक्ष्यान् दीक्षयेत् प्रिये ।

प्रबोधयते स्वात्मान्तर्निगूहितस्वरूपं देहादिनिमज्जनोन्मज्जच्चिद्घनतया साक्षात्करोति ज्ञानयोगयोर्बलेन प्ररूढचा अन्वितो युक्तः, अतश्च वीर्यसारमाहात्म्याद् दीक्ष्यान् दीक्षयत्येव ॥

एतदेव दीक्षानिरुक्तिभङ्ग्या स्फुटयति—

क्षयं नयत्यसौ पाशान् ददात्येव परं पदम् ॥७४॥

योजन्या योजने शक्तः शिवशक्तिप्रभावतः ।

यस्मात् प्रोक्तशिवशक्तिप्रभावतोऽसौ श्रीस्वच्छन्दाद्यादिष्टयोजनिकाक्रमस्थित्या योजने शिष्यस्य परापरपदैक्यापादने शक्तः, तस्मात् पाशक्षपणशिवात्मपरपददानात्मिकां दीक्षामयमेव कर्तुमर्हतीति युक्तमुक्तम् ॥

सर्वस्रोतःकर्मस्वेष एव प्रभवतीत्याह—

प्रत्ययस्तु भवेत्तस्य दृष्टो नान्यस्य कस्यचित् ॥७५॥
गारुडे मातृतन्त्रे च वामे स्रोतसि दक्षिणे ।
ज्येष्ठे चण्डासिधारे च प्रत्यक्षफलदा क्रिया ॥७६॥

यतोऽस्य दृष्ट इहैव प्रत्ययः शिवसमावेशात्मा साक्षात्कारो भवति, ततो गारुडे पूर्वस्मिन्, मातृतन्त्रादौ पश्चिमे, जयादिनये वामे, भैरवशास्त्रे च दक्षिणे, चण्डासिधारादावूर्ध्वे, ज्येष्ठे च मतकुलादौ रहस्ये स्रोतसि, सर्वत्रास्य क्रिया विषभूतशमनमेलकसौभाग्यविचित्रानुग्रहादिरूपा प्रत्यक्षमेव फलदा सद्यःप्रत्ययेत्यर्थः ॥७६॥

एतदीया हि—

अत्यन्तमलिनस्यास्य पुंसो विद्धस्य मायया ।
कर्मणा भोगसक्तस्य अभिलाषान्वितस्य च ॥७७॥
मोक्षं ददाति दीक्षासौ क्रियाख्या ज्ञानरूपिणी ।

अत्यन्तमलिनत्वमेव मायया कर्मणेत्युक्ताभ्यां मायीयकार्ममलाभ्याम्, तथा

'अभिलाषो मलोऽत्र तु' (स्व ४।१०५)

इति श्रीस्वच्छन्ददृष्ट्या आणवमलेनाभिलाषान्वितस्येत्युक्तेन व्यक्तीकृतम् । क्रियाख्येति क्रियेत्याख्या यस्याः सा वस्तुतो ज्ञानस्वरूपिणीति कृत्वा आचार्येणोभयज्ञेनापि ज्ञानविश्रान्तेन भाव्यमित्याह । यदुक्तमन्यत्र—

'न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया ।
क्रियाज्ञानविनिष्णन्न आचार्यः पशुपाशहा ॥

इति ॥

होत्रादिक्रियाया अपि महाविमर्शमयी आन्तरी शक्तिः प्राणितरूपेत्याह—

उन्मना तु परा शक्तिर्ज्ञानरूपावधूतिका ॥७८॥
सा क्रियेत्यभिधीयेत न क्रिया त्वध्वमध्यगा ।

परेत्यनवच्छिन्नस्फुरत्तात्मा । ज्ञानरूपेति

"तस्मात्सा तु परा विद्या' (४।३९५)

इति श्रीस्वच्छन्द उक्तत्वात् । अवधूतिकेत्यवहतं धूतं कम्पो यस्यां सा तथा, नित्योदितेत्यर्थः । सा क्रिया । यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

'इत्थं तथा घटपटाद्याभासजगदात्मना ।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता कर्तृता क्रिया ॥' (२।४।२१)

इति । अध्वमध्यगेत्येवंविधमहाविमर्शात्मक्रियाशक्तिव्याप्तिशून्यनिःसार-पूजाहोमाद्यात्मा ॥

यथा च प्रोक्तक्रियाशक्तिव्याप्तिसारा पूजाक्रिया, तथा ज्ञानयोगावपि तद्व्याप्तिमयावेवेत्याह—

योगशक्तिर्ज्ञानशक्तिः सर्वशास्त्रेषु गीयते ॥७९॥
सा शक्तिः परमेशस्य शिवस्याशिवहारिणी ।

तदुक्तं श्रीगमशास्त्रे—

'योगो नान्यः क्रिया नान्या तत्त्वारूढा हि या मतिः ।
स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते ॥'

इति ॥

यतश्च सा शिवसंबन्धिनी, अत एव—

बन्धमोक्षकरी पुंसां न स्वतन्त्रा स्वभावतः ॥८०॥

शक्तिमत्स्वरूपायत्तत्वात् शक्तेः ॥८०॥

अनेनैवानुसारेण शिवः सर्वप्रदः शुभः ।

यदुक्तं विज्ञानभैरवे—

'शक्तिशक्तिमतोर्यस्मादभेदः संव्यवस्थितः ।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् परा शक्तिः परात्मनः ॥ (१८)

इति ॥

न केवलं शिवशक्त्यभेदावष्टम्भाद् ज्ञानयोगक्रियाः शिवशक्तिमय्यः, यावत्—

शिवादिगुरुपङ्क्तिर्या रुद्रकोटयो ह्यनेकशः ॥८१॥
आप्तोपदेशमात्रेण पारम्पर्येण संस्थिता ।

शिवोऽनाश्रितनाथ आदिर्यस्याः सदाशिवेश्वरानन्तश्रीकण्ठादिरूपाया गुरुपङ्क्तेः, सा तथा रुद्रकोटयोऽनन्ताधिष्ठितमन्त्रकोटयो बह्वयो यास्ताः सर्वा आप्तस्य परमशिवस्य संबन्धी य उपदेशः स्वात्मसमीपदेशनापदेशो निज……
…………………………………………………………………………………………
……केन योगेन कर्मणा वा सम्यक् स्थिताः स्वात्मा……मः ।

आप्तोपदेशः परशक्त्युन्मेषात्मैवेत्याह—

शिवज्ञानं यतो देवि सदैवाप्तागमः स्मृतः ॥८२॥

शिवज्ञानं रुद्रशक्तिसमावेशः । यत इति हेतौ । तेन युक्त एव पूर्वश्लोकार्थः ॥८२॥

न केवलं शिवादिगुरुपङ्क्त्याः शिवशक्तिमयत्वं यावत्—

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं शिवशक्तिसमन्वितम् ।

शिवशक्त्या सम्यगन्वितं तदभेदमयम् । यदुक्तं शिवसूत्रेषु—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (३।३०)

इति ॥

एतदुपसंहरन् स्फुटयति—

एवं शक्तिमयं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥८३॥

अनाश्रितादिक्षित्यन्तं सर्वं शिवशक्तिमयं केवलं मन्त्रमन्त्रेश्वरादिवर्गं उन्मिषच्छिवशक्तिमयः, विज्ञानाकलादिस्थावरान्तं तु निमिषच्छिवशक्तिमयमिति विभागः ॥८३॥

अतश्च—

शक्तिमान् सर्वकर्माणि कुरुते नात्र संशयः ।

शिवशक्त्यावेशशाली मन्त्राचार्यादिवर्गस्तत्तत्कार्यकरणक्षमः ॥

अन्ये तु—

शक्तिहीना न सिद्ध्यन्ति यागकोटिशतैरपि ॥८४॥

जपकोटिसहस्रैस्तु होमलक्षैः सविस्तरैः ॥

मन्त्राचार्याः ॥

यत एवम्—

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शिवज्ञानं समभ्यसेत् ॥८५॥

तदा सिध्यन्त्यशेषाणि कर्माण्येवान्यथा नहि ।

एवकारो नशब्दानन्तरं योज्यः ॥

यदा चाभ्यस्तशिवज्ञानः—

शान्तिकादीनि कर्माणि कुरुतेऽसौ तदा गुरुः ॥८६॥

किं च—

यागे होमे जपे चैव तथालेख्यक्रमेऽपि च ।

स एवाधिकृतः ॥

एवम्—

'यागमस्य प्रवक्ष्यामि' (१६।२६)

इत्युद्दिश्य यागगृहगुप्तिं रुद्रशक्तिसमावेशशालिव्याप्तिज्ञगुरुसतत्त्वं पराशक्तिवीर्यसारतां च मन्त्रादिस्थावरान्तस्य विश्वस्य उक्त्वा, उद्दिष्टभगवद्यजनाश्रयभूतम्—

आपदो यदि चोत्पन्नाः पूर्वोक्तं यागमारभेत ।।८७।।

भाविचतुर्द्वारादिविभागं पूर्वोद्दिष्टरूपं मण्डलं भगवत्पूजार्थमारभेत ।।८७।।

तत्र च—

साध्यं विमृश्य तद्द्रव्यं संभारेण तु संभृतम् ।

रजश्चन्दनकुङ्कुमधूपादिसामग्रीसाध्यं श्रेयोऽभिसन्धिना विमृश्य ।।

श्रीमदमृतेशपूजाहोमाद्यात्मा—

यागस्तु क्रियते यस्य

साध्यस्य कस्यचित् ।।

तस्य शान्तिः प्रजायते ।।८८।।

आपदो नश्यन्ति ।।८८।।

किं च—

तिलं क्षीरं घृतेनैव सितशर्करया सह ।
होमयेद्यस्य नाम्ना च

स साध्यः—

महाशान्तिमवाप्नुयात् ।।८९।।

क्षीरवृक्षसमिद्भिस्तु क्षीराक्ताभिः समाहितः ।
होमयेद्यस्य नाम्ना च

पूजानन्तरं होमेन मन्त्रराजं तर्पयेत् यन्नाम्ना—

तस्य शान्तिर्भवेद्ध्रुवम् ।।९०।।

सुमनोघृतसंयुक्ता होमयेद्यस्य नामतः ।
तस्य शान्तिर्भवेत् क्षिप्रं नात्र कार्या विचारणा ।।९१।।
श्रीकामः श्रीफलान् हुत्वा श्रियमाप्नोति पुष्कलाम् ।

साधकः ।।

घृतगुग्गुलहोमेन पुष्टिर्भवति शाश्वती ।।९२।।

आचार्यकृतेन साध्यस्य ।।९२।।

मृत्युजित्संपुटं कृत्वा साध्यनाम जपेद्यदि ।
आत्मनो वा परस्यापि मृत्युस्तस्य न बाधते ।।९३।।

साध्यस्य मन्त्रेण रक्ष्यस्य आत्मनः परस्य वेत्यर्थः ॥९३॥

अष्टपत्रेऽथ कमले कर्णिकायां निवेशयेत्।
साध्यार्णरोधितं नाम तदूर्ध्वे मृत्युजिद्भवेत् ॥९४॥
आग्नेय्यादिविभागेन दलेष्वङ्गानि विन्यसेत्।
द्विरष्टदलसंपूर्णं बाह्ये तत्कमलं लिखेत् ॥९५॥
कलाषोडशकेनैव पूर्वादौ पूरयेत्ततः।
द्वात्रिंशद्दलसंयुक्तं तद्बाह्ये पङ्कज न्यसेत् ॥९६॥
कादिमान्तक्रमेणैव पूर्वादावीशमन्ततः।

भवेदिति लिखितव्यः। अङ्गानि द्वितीयाधिकारोक्तान्यग्नीशरक्षोमरुद्दिक्षु। हृदयादीनि चत्वारि पूर्वादिदिक्चतुष्केऽस्त्रं कर्णिकायां भगवदग्रे लोचनमिति विभागः तत्कमलमिति तस्य कमलमिति समासः। ईशमन्तत इति ईशदिग्गतदलचतुष्टयान्तमित्यर्थः ॥

एते च—

साध्यार्णरोधिताः सर्वे वर्णाश्चक्रत्रये स्थिताः ॥९७॥

चक्रत्रये दलपुञ्जत्रये। साध्यार्णरोधनं प्राग्वत् ॥९७॥

एषां च दलवर्णानाम्—

सर्वेषां मध्यतः संज्ञां साध्यस्यैव तु रोधयेत्।

रोधनं साध्यार्णसंपुटीकरणम् ॥

कर्णिकायां मन्त्रसंपुटमध्यगतस्य नाम्नो विशेषमाह—

जीवमध्यगतं नाम कर्णिकायां निवेशयेत् ॥९८॥

जीवः सकारः, तदन्तः कृतनामकम् ॥९८॥

प्राणान्तः कल्पयेज्जीवं

प्राणो हकारः ॥

तमपि तादृशम्—

प्राणं वर्णान्तमध्यगम्।

क्षकारान्तःस्थम्। तत्र च 'कषमध्यगतम्' इत्यन्यत्रत्यो विधिरनुसर्तव्यः ॥

एवमेतत्पद्मद्वयगर्भं पद्ममालिख्य—

बाह्येऽस्य मण्डलं सौम्य सुसंपूर्णं तु कारयेत् ॥९९॥

ठकारं दद्यात् ॥

तद्बाह्ये तु पुरं चैन्द्रं वज्रभृद्वज्ररोधितम्।

कुर्यात् ॥

इत्थम्—

भूर्जपत्रे तु संलिख्य चक्रमेतद्वरानने ॥१००॥
सुश्रद्धे निर्व्रणे श्लक्ष्णे रोचनाकुङ्कुमेन च ।

चन्दनक्षीरयुक्तेन ॥

पश्चादेतत्पूजयन्नाचार्यः कर्पूरक्षोदधूसरं कृत्वा—

संवेष्टय सितसूत्रेण कार्पासेन नवेन च ॥१०१॥
मधुमध्ये निधाप्यैतत् सुगन्धिघृतमिश्रिते ।
मृद्भाण्डे संनिधाप्यैतत् सितपुष्पैः प्रपूजयेत् ॥१०२॥
पायसैर्घृतसंमिश्रैर्भक्ष्यैर्नानाविधैस्तथा ।
मृष्टैर्धूपैर्धूपयित्वा पूजयेद् भूरिसंभृतैः ॥१०३॥

संभृतैः संभारैः ॥१०३॥

अस्य चायं संनिवेशः—

बाह्येऽत्र कलाशानष्टौ पूर्वादौ पूजयेत्ततः ।
सितचन्दनकर्पूरसुधूपामोदसंयुतान् ॥१०४॥
रत्नगर्भाम्बुसंपूर्णान् सर्वौषधिसमन्वितान् ।
सौवर्णान्राजतांस्ताम्रान् मृण्मयान् वा सुशोभनान् ॥१०५॥
अकालमूलान् सुशुभान् प्रशस्तांल्लक्षणान्वितान् ।
तेषां मध्ये तु संपूज्य लोकपालान् क्रमेण तु ॥१०६॥

न कालं मूलमधःस्थानं येषां ते । संपूज्येति प्रणवस्वनामनमोभिः ॥१०६॥

तेषां शिवाज्ञा दातव्या रक्षध्वं साध्यमुत्तमम् ।

उत्तममिति वदन्नत्रत्यो विधिरनुत्तमविषये न योज्य इति शिक्षयति ॥

अथ—

प्रातर्मध्येऽह्नि सायं च निशार्धे पूजयेत्ततः ॥१०७॥

यस्य नाम्ना एवं कृतम्, असौ—

सप्तरात्रे व्यतिक्रान्ते मृत्युजिद्भवते नरः ।
सर्वव्याधिविनिष्क्रान्तः सर्वदोषविवर्जितः ॥१०८॥
सर्वरोगैर्विमुच्येत ज्वरैः सर्वैर्न संशयः ।
सर्वदुःखविनिर्मुक्त ईतिभिः परिवर्जितः ॥१०९॥
तिष्ठेच्च स नरो भूयो यथाहिर्मुक्तकञ्चुकः ।

व्याधय उदराद्याः । रोगाः पिटकाद्याः ॥

किं च, एतच्चक्रार्चायाम्—

यदि नान्यमना देवि साधकस्तत्परायणः ॥११०॥
जपहोमरतः शान्तस्तस्मिन् स्थाने तु तिष्ठति ।
सत्त्ववान् वीर्यसंपन्नो दयादाक्षिण्यसंयुतः ॥१११॥
सप्तरात्रे व्यतिक्रान्ते मृतांश्चैवानयेद् बलात् ।

मृतानपि प्रत्युज्जीवयेत् । वीर्यसंपन्नो मन्त्रवीर्यज्ञः साधक इति मन्त्रसिद्ध आचार्यो वा ॥

एवंविधश्च—

गोभूहिरण्यवस्त्राद्यैः केयूरकटकादिभिः ॥११२॥
पूज्योऽसौ परया भक्त्या शान्तिपुष्ट्या विशेषतः ।
यस्मान्मन्त्रमयो वै स शिव. साक्षात्तु दैशिकः ॥११३॥
तेन पूजितमात्रेण सर्वे सिद्धिफलप्रदाः ।
भवन्त्यवितथं भद्रे

मन्त्रमय इति पूर्वोक्तयुक्त्या शिवावेशमयत्वात् । सर्वे इति चक्रपूजिता मन्त्राः ॥

अत्र च मायाप्रमातृसुलभः संशयस्त्याज्य इत्यन्वयव्यतिरेकोक्तिभ्यामाह—

सत्यं मे नानृतं वचः ॥११४॥

यदि तु न गुर्वर्चा क्रियते, यदा एवं भवतीत्याह—

अन्यथा सिद्धिहानिः स्यात् कृतं चैव निरर्थकम् ।
आचार्यस्यापि साध्यस्य कृत्या स्थितिविनाशिनी ॥११५॥

आसतां समयिपुत्रकसाधकाः, आचार्यस्यापि साध्यस्य कृत्या दृष्टिस्थिति-विनाशिनी राक्षसी उत्तिष्ठत्येव, गुर्वनर्चनादित्यर्थः ॥११५॥

यत एवम्—

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मन्त्रवित् पूजयेद् गुरुम् ।

इत्थं हि तस्य—

भवन्ति पूजिता मन्त्राः सर्वसिद्धिफलप्रदाः ॥११६॥

तत्त्वज्ञगुरुपूजा साधयत्यभीष्टमिति शिवम् ॥११६॥

कर्मातिदुर्घटमपि यत्समावेशतो भृशम् ।
कुर्वते गुरुमन्त्राद्यास्तन्नेत्रं शाङ्करं श्रये ॥

इति श्रीनेत्रोद्द्योते षोडशोऽधिकारः ॥१६॥

———

सप्तदशोऽधिकारः

विचित्रचक्रविस्फूर्जन्निजज्योतिःसुधाभरैः ।
मृत्युजिज्जयति श्रीमन्नेत्रमैशं भयापनुत् ॥

कारुणिकत्वात्यच्चक्रान्तराण्यपि रक्षार्थं प्रतिपादयितुं श्रीभगवानुवाच—

अथातः संप्रवक्ष्यामि चक्रराजं महाबलम् ।

अथेति पूर्वाधिकारोक्तप्रमेयानन्तरम् । अत इति यतो बहुरनुग्राह्यो जनस्ततः कस्यचित् कथंचिदनुग्रहो भविष्यतीत्याशयेन ॥

तत्र—

पूर्ववन्मध्यतो नाम जीवान्तः कल्पयेत् सुधीः ॥१॥
प्राणस्यान्तस्ततः कृत्वा वर्णान्तान्तर्व्यवस्थितम् ।
अन्तिमं तु ततो बाह्ये तद्बाह्ये मध्यमं न्यसेत् ।२॥
प्रथमं तु ततो बाह्यो कर्णिकायां तु विन्यसेत् ।
केसरेषु स्वराः पूज्या दलेष्वङ्गानि पूर्ववत् ॥३॥
बाह्ये कलशमालिख्य कमलोभयमध्यगम् ।
पूज्येत् पूर्वविधिना जपहोमार्चने रतः ॥४॥
साधयत्यचिरेणैव चिन्तितं नात्र संशयः ।

पूर्ववदिति साध्यार्णसंपुटितमुपरिलिखितमन्त्रराजं च नाम द्वितीयान्तं पूर्ववत् ।

'रक्षापदसमायुक्तं ।' (१७।११)

इत्यग्नेऽभिधास्यमानत्वाद् रक्षेत्येतद्युक्तं जीवस्य सकारस्य अन्तःकृतं प्राणस्य हस्य अन्तः क्षित्वा वर्णान्तस्य क्षस्य अन्तः कुर्यात् । ततोऽस्य बाह्येऽन्तिमं क्षकारम्, तद्बाह्ये मध्यमं हकारम्, तद्बाह्ये प्रथमं सकारं लिखित्वा एतत् कर्णिकायां विन्यस्येत् । केसरेषु पूर्वादिक्रमेण स्वरान् दलेष्वङ्गानि हृदयादीनि । पूर्ववदिति आग्नेय्यादिक्रमेण । ईदृशस्य कमलस्य बाह्ये कलशं लिखेत्, तच्च ऊर्ध्वाधःकमलमध्यगं कृत्वा साङ्गमूलमन्त्रार्चाजपहोमरतोऽभीष्टं क्षिप्रं साधयति । अत्र च नमःशब्दान्तो मन्त्रः पूजाजपयोः, होमे तु स्वाहान्त इति पूर्ववच्छब्दार्थः ॥

किं च इदम्—

सर्वशान्तिप्रदं चक्रं पुष्टिसौभाग्यदायकम् ॥५॥
आयुर्वीर्यप्रदं चैव ज्वररोगविनाशनम् ।
परराष्ट्रविभीतानां नृपाणां विजयावहम् ॥६॥
राजस्त्रीणां तत्सुतानां विप्रादीनां च सर्वशः ।
रक्षा ह्येषा प्रकर्तव्या सर्वोपद्रवनाशिनी ॥७॥

स्पष्टम् ॥७॥

पङ्क्त्या चैव लिखेन्नाम त्वक्षरान्तरितं प्रिये ।
आद्यन्ते मूलमन्त्रं तु वौषड्जातियुतं न्यसेत् ॥८॥
पूर्ववत् पूजयेद्भूरियागेनैव सितः शुभैः ।
तत्क्षणान्मुच्यते रोगैराघ्रातो यदि मृत्युना ॥९॥

देवदत्तादिनाम्, अक्षरान्तरितमिति प्रतिवर्णान्तरालं लिखित्वा, आद्यन्तयोर्वौषड्जातियुतं मूलमन्त्रमनुलोमप्रतिलोमाभ्यां न्यस्य, सितकुसुमादिभिर्यो भूरियागः, तेन पूर्ववत् पूजयेदित्यैकाग्र्येण पूजाजपहोमादिभिराराधयेत् ॥९॥

वौषड्जातियुतं मन्त्रं दिक्ष्वष्टासु लिखेत् सिते ।
भूर्जवल्कलके रम्ये मध्ये नाम तु पूर्ववत् ॥१०॥
रक्षापदसमायुक्तं तद्बाह्ये शशिमण्डलम् ।
मन्त्रान्त्यवर्णममृतं कलाषोडशसंस्थितम् ॥११॥
ताभिर्मण्डलमापूर्य बाह्ये तु कलशं न्यसेत् ।
तद्बाह्ये चन्द्रसूर्यौ तु पुरन्दरपुरस्थितौ ॥१२॥
रोचनाकुङ्कुमेनैव क्षीरशर्करया लिखेत् ।

दिक्ष्विति पद्मदलात्मसु, मध्य इति कर्णिकायाम्, पूर्ववदिति प्रथमप्रयोगवत् साध्यार्णसंपुटीकृतम्, तद्बाह्ये कर्णिकान्ते, शशिमण्डलं ठकारम्, मन्त्रस्य च यदन्त्यवर्णं सकारः, अमृतमिति उक्तवक्ष्यमाणपरामृतव्याप्तिकम्, कलासु आदिविमर्शान्तासु षोडशसु स्थितं तत्संभिन्नम्, ताभिः सकारश्लिष्टाभिः कलाभिः, मण्डलमिति चान्द्रं ठकारम्, बाह्य इत्येतत्कमलं कलशोदरे लिखेदित्यर्थः। कलशबाह्ये चन्द्रसूर्यौ ठडौ पुरन्दरपुरे चतुरश्रे वज्रलाञ्छितसंनिवेशेन स्थितौ कुर्यात्। एतत् शान्तौ, पूर्वोपद्रवनाशिनी, पुनरस्यैवोपरि क्षीरपूर्णममृतं स्रवन्तं कलशं ध्यायेदिति पुष्टिः ॥

पूजयित्वा विधानेन पूर्ववच्छान्त्यवस्थितः ॥१३॥

शान्तिकर्मण्यवस्थितो गुरुः सावधानः स्यादित्यर्थः ॥१३॥

एषा च—

राजरक्षा तु वै प्रोक्ता सर्वोपद्रवनाशिनी ।

आस्थां तु क्रियमाणायामयं विशेषो यत् ।

राजरक्षाविधानेन होमयेत् क्षीरसंयुतान् ॥१४॥
सितशर्करया युक्तान् सुगन्धीन् घृतमिश्रितान् ।
क्षीरवृक्षेन्धने वह्नौ तिलान् शान्ति लभेत सः ॥१५॥

राजरक्षाविधानेनेति तेन प्रयोजनेन बुद्धिस्थेन हेतुना । स इति राजा ॥१५॥

किं च—

यदा मृत्युवशाघ्रातः कालेन कलितो नरः ।
दृष्ट्वा तं पूर्ववद्यागो मण्डले तु यथोदिते ॥१६॥
क्रियते द्रव्यसंभारसंभृतो मृत्युनाशनः ।

अस्यैव कलशोदरस्य, उक्तस्थित्या न्यस्तमन्त्रनाथस्य, मृत्युनाशनाख्यत्वात् ॥

पूजिते च अस्मिन्—

मृत्योरुत्तरते शीघ्रं मन्त्रस्यास्य प्रभावतः ॥१७॥
तदेव भूर्जपत्रे तु सितशर्करया सह ।
क्षीरेण रोचनायुक्तं कुङ्कुमेन युतं लिखेत् ॥१८॥
रुक्मकुम्भे तु मध्वक्तं स्थापयेत् सुगोपितम् ।
तदूर्ध्वतो द्वितीयं तु क्षीरपूर्णं सुशोभनम् ॥१९॥
स्रवन्तममृतं ध्यात्वा स्थापयेत् पुष्टिकामतः ।

तदेवेति तदेव कलशोदरे चक्रम् । एवं च वदन् समनन्तरयाग एवैतद्विषय इति बोधयति । क्षीरेणेत्यादि वदन् पूर्वोक्तस्य यागस्य शालिचूर्णसंपाद्यत्वमादिशति । मध्वक्तमिति मधूच्छिष्टवलितम् । अमृतमिति क्षीररूपमेव स्रवन्तं धारणाक्रमेणाधःस्थकलशान्तर्मुञ्चन्तम् ॥

यस्य नाम्ना एवं क्रियते, असौ—

सप्तरात्रप्रयोगेण मृत्युजिद्भवते नरः ॥२०॥

तथा—

क्षीणकायो भवेत् पूर्णः पक्षान्ते तु यथा शशी ।
न मृत्योर्वशगः सो वै सत्यं मे नानृतं वचः ॥२१॥
साध्यार्णरोधितं नाम रक्षापदसमन्वितम् ।
मध्ये संपूजयेत् साध्यं पूर्ववच्चामृतीकुरु ॥२२॥

साध्यमिति नामद्वारेण भावितम् पूर्ववदमृतीकरणं दलाष्टके प्राग्वद् वौषडन्तमन्त्रराजकृताप्यायनम् ॥२२॥

एवंभूतं च—

तदात्मना तु संवेष्ट्य वारुणेन तु वै पुनः।
कलाशेषेण तद्बाह्ये संपूर्णेन तु वेष्टयेत् ॥२३॥

आत्मना पुरुषवाचिना मकारेण, ततो वारुणेन वकारेण, ततः कलाशेषेण टकारेण, ततः संपूर्णेनेति ठकारेण वेष्टयेत्। कलशेनेत्यपपाठः ॥२३॥

अनन्तरम्—

पुरन्दरं ततो बाह्ये द्विश्चतुर्दिक्षु गोचरे।
तन्मण्डलं तु योज्येत वज्रमण्डलमध्यगम् ॥२४॥

पुरन्दरं चतुरश्रं तन्मण्डलम्, द्विर्द्वौ वारौ। चतुर्दिक्ष्विति चतुरश्रोपरि चतुरश्रं तथा न्यस्येद् यथा अष्टारः संनिवेशो भवति। तच्च अष्टाश्रि मण्डलं वज्रमण्डलमध्यगमिति वज्रेण चतुरश्रं मण्डलं कृत्वा तन्मध्ये न्यस्येत् ॥२४॥

एतच्च यस्य नाम्ना क्रियते, असौ—

रक्षितश्चामृतेशेन

चकारादमृतीकृतः ॥

ईदृशस्य च साध्यस्य—

न तस्य भयदाः क्वचित्।
भवन्ति योगिनःभूतयक्षराक्षसहिंसकाः ॥२५॥

प्रयोगान्तरमाह—

कुम्भान्तस्तु लिखेन्नाम तत्स्थाप्यं कमलोपरि।
अधोमुखं तु तत्पृष्ठे कमलं पूर्ववल्लिखेत् ॥२६॥
तत्कर्णिकास्थं विलिखेदधोवक्त्रप्रयोगतः।
स्रवन्तममृतं ध्यायेत् संपूर्णं सर्वतोमुखम् ॥२७॥
अमृतेशं करन्ध्रेण प्रविष्टं तस्य भावयेत्।
हृदये तत्प्रविष्टं तु सर्वनाडीः प्रपूरयेत् ॥२८॥

कुम्भान्तः कमलकर्णिकोपरि साध्यनाम लिखेत्। पूर्ववदिति कलशस्य उपरि। तदिति ऊर्ध्वकमलकर्णिकास्थममृतेशमन्त्रमधोमुखं लिखित्वाधोमुखबिन्दुगत्याऽमृतं स्रवन्तं ध्यायेत्। तच्चामृतं साध्यस्य नामस्थानध्यातस्य करन्ध्रेण हृत्प्रविष्टं सर्वनाडीः प्रपूरयेत् ध्यायेत्।

तस्य च—

तत्क्षणाज्जायते पुष्टिः क्षीणकायोऽपि यो नरः।

अन्यदप्याह—

पङ्क्त्या तु विलिखेन्मन्त्रं प्रत्येकं वर्णमध्यगम् ॥२९॥
नाम साध्यस्य वै लेख्यं

वर्णमध्यगमित्येकैकमन्त्रान्तरान्तर्लिखितम् तस्य बहिर्निवेशः ॥

दिग्विदिङ्मृत्युजिल्लिखेत् ।
पूर्ववत् पद्ममालिख्य षडङ्गं पूर्ववत् प्रिये ॥३०॥
संयोज्य पूजयेच्छक्त्या यथाविभवविस्तरैः ।
सर्वश्वेतोपचारेण सर्वदुःखनिबर्हणः ॥३१॥
भवते मन्त्रमुख्यस्तु नात्र कार्या विचारणा ।

कमलं लिखित्वा तद्दलेषु मृत्युजिन्नाथं पूर्ववदिति वौषडन्तम्, तद्बहिरपि कमलं लिखित्वा पूर्वोक्तं षडङ्गं प्राग्वद् दलेषु संयोज्य चक्रमेतत् पूजयेत् । पद्ममालिख्येति काकाक्षिवत् । नात्र कार्या विचारणेत्यनेन पूर्ववद् निःसंशयस्यैवैतद् फलतीत्यादिशतीति शिवम् ।

क्रीडाकल्पितसंस्थानकृतसंनिधिशाङ्करम् ।
श्रीमन्नेत्रं नुमः सर्वरक्षाकरमनर्गलम् ॥

इति श्रीनेत्रोद्योते सप्तदशोऽधिकारः ॥१७॥

———

अष्टादशोऽधिकारः

संपूर्णभोगमोक्षैकस्फुरत्तात्मा महेशितुः ।
नेत्रलक्ष्मीः परा कापि जयत्यखिलतापनुत् ॥

पूर्वोक्तानुवादेनान्यदवतारयितुं श्रीदेवी उवाच—

भगवन् देवदेवेश सर्वसत्त्वहिते रतः ।
त्रायकस्त्वं सुरेशान सर्वानुग्रहकारक ॥१॥
उक्ता त्वया महेशान व्याप्तिर्मन्त्रेषु चाध्वनः ।
आख्याहि मे जगन्नाथ यदि तुष्टोऽसि हे प्रभो ॥२॥
मन्त्राणां कीलनादौ तु योजनं सूचितं विभो ।
नाख्यातं देवदेवेन यथा सिध्यन्ति साधकाः ॥३॥
परप्रयुक्ता नश्यन्ति कृत्याखार्खोदकादयः ।

उक्तेत्यादिः प्रागुक्तानुवादः । सूचितमिति—

'कीलनं चैव मन्त्राणां भेदनं मोहनं तथा ।' (१६।३३)

इति षोडशाधिकारे । देवदेवेनेति त्वयैव । यथेति येन कीलनादियोजनेन साधकाः सिद्ध्यन्ति, परप्रयुक्ताश्च कृत्याखार्खोदकादयस्तेषां यथा नश्यन्ति । शत्रुनाशाय स्त्रीकलेवरप्रवेशिता वेताली कृत्या, मृत्यूच्चाटनादिकृत् यन्त्रं खार्खोदः, आदिशब्दात् तत्कार्यकृताः प्रतिमाः । तदेतद् वस्तु आख्याहीति संबन्धः ॥

किं च—

प्रत्यङ्गिरा प्रयोगेण हन्ति दुष्टान्यनेकशः ॥४॥
यथा तथा महादेव ब्रूहि निःसंशयं मम ।

प्रतीपं गृणाति क्षुद्रसाधकं प्रत्येव क्षुद्रकर्मफलं संपाद्यत्वेन विमृशयि या विद्या, सा प्रत्यङ्गिरेति भिन्नं पदम् । प्रणोगेण प्रयुक्त्या ॥

एतत् निर्णेतुं श्रीभगवानुवाच—

वादानामेव सर्वेषां मन्त्रवादमिहोत्तमम् ॥५॥
ज्ञात्वा नियोजयेन्मन्त्री मन्त्रलिङ्गानि सुव्रते ।

सर्वेषामेव धातुखनिवादादीनां मन्त्रमुखप्रेक्षिणां मध्यादुत्तमो यो मन्त्रवादस्तं मन्त्रा लिङ्ग्यन्ते चित्रीक्रियन्ते यैर्दीपनादिकारिकर्मभिस्तानि ज्ञात्वा शास्त्रतोऽधिगम्य मन्त्री तन्त्र तत्त्वविद् नियोजयेदवसरे प्रयुञ्जीत ॥

तमुद्दिशति—

दीपनं बोधनं चैव ताडनं चाभिषेचनम् ॥६॥
विमलीकरणं चैव तथेन्धननिवेशनम् ।
संतर्पणं गुप्तिभाव आप्यायो नवमस्तथा ॥७॥
एवं नवप्रकारेण मन्त्रवादमशेषतः ।
यो जानाति स जानाति मन्त्रसाधनसाधनम् ॥८॥

दीपनं मन्त्रस्य प्रणवेन । वोधनं नमः शब्देन । ताडनं फट्कारेण । अभिषेचनं वौषट्कारेण । विमलीकरणं स्वाहाशब्देन । इन्धननिवेशनं दाह्यपाशविषादिदहने विनियोजनं हुंकारेण संपुटीकरणम् । तदुक्तं श्रीमदुच्छूष्मतन्त्रे—

'दीपने तु महाभाग प्रणवोभययोजनम् ।
बोधने तु नमस्कारः स्वाहाकारोऽमले तथा ॥
वौषदन्तर्गतं मन्त्रमभिषेके नियोजयेत् ।
फट्कारोभयसंयुक्तं ताडने विनियोजयेत् ॥
आद्यन्तं चैव हुंकारमिन्धने विनियोजयेत् ।'

तर्पणं वलवत्ताधानम्, तच्च प्रतिवर्णं लांकारेण संपुटीकरणम् यदुक्तम्—

'लांकारेण तु बीजेन तथैकान्तरितेन च ।
वलवान् जायते मन्त्रः·············।'

इति । गुप्तिभावो रक्षणम्, तच्च नेत्रनाथसंपुटीकृतस्यायुतजपाद् भवति । यथोक्तम्—

'मृत्युजित्संपुटीभूतं जपेत्तदयुतं पुनः ।
जप्तेनानेन विधिना मन्त्ररक्षा कृता भवेत् ॥'

इति । आप्यायनं पुनर्जातवलस्य पुष्ट्याधानम्, तच्च वांकारेण प्रतिवर्णं संपुटीकारात् । यदुक्तम्—

'एकान्तरितयोगेन वांकारेण तु सर्वदा ।
भवेदाप्यायितो मन्त्रः············॥'

इति । इत्थं नवधा मन्त्रवादं यो जानाति, स मन्त्रा एव साधनानि सिद्धिकारणानि तेषां साधनमात्मायत्ततापादनं जानाति ॥८॥

किं च—

एकादशविधो मन्त्रो ज्ञातव्यश्च पुनः प्रिये ।
येन सम्यङ्नियोगेन सिद्ध्यन्ति साधकेश्वराः ॥९॥

येनेत्येकादशधा ज्ञानेन हेतुना यः सम्यङ् नियोगो मन्त्रस्य कर्मणि विनि-योजनं तेन साधकेश्वरा सिद्धचन्ति आप्नुवन्ति अभीष्टम् ॥९॥

यत एवमतः—

तं चैव संप्रवक्ष्यामि सर्वशास्त्रेषु संमतम् ।

तत्र—

संपुटं ग्रथितं ग्रस्तं समस्तं च विदर्भितम् ॥१०॥
आक्रान्तं च तथाद्यन्तं गर्भस्थं सर्वतोवृतम् ।
तथा युक्तिविदर्भं च विदर्भग्रथितं तथा ॥११॥
इत्येकादशधामन्त्रा नियुक्ताः सिद्धिदाः स्मृताः ।

आद्यन्तयोर्मन्त्रन्यासः संपुटवत् । यदुक्तम्—

'मन्त्रमादौ लिखेद्विद्वानभिधेयमतः परम् ।
मन्त्रमस्य लिखेत् पश्चात् संपुटं परिकीर्तितम् ॥

प्रत्यर्णं मन्त्रसंपुटीकारो ग्रथनम् यदुक्तम्—

अभिधेयार्णमेकैकं मन्त्रार्णैः संपुटीकृतम् ।
ग्रथितं.......................... ॥'

इति । मध्यस्थस्य नाम्नो दिक्चतुष्टये मन्त्र निवेशो ग्रस्तम् यदुक्तम्—

'ऊर्ध्वेऽधस्तात्तथा तिर्यङ् मन्त्रं कुर्याद्विचक्षणः ।
मध्ये संज्ञा भवेत्तत्र ग्रस्तमित्यभिधीयते ॥'

मन्त्रादनन्तरं नाम, पुनरप्येवमिति समस्त-लक्षणम् । यदुक्तम्—

'विन्यस्येदादितो मन्त्रमभिधेयमतः परम् ।
एवमेतद् द्विधा योज्यं समस्तं............॥'

इति । नामानन्तरं सकृन्मन्त्र इति विदर्भणम् । यदुक्तम्—

'अभिधेयं भवेत्पूर्वं ततो मन्त्रः सकृद्भवेत् ।
विदर्भितं..........................॥'

इति । मध्यस्थस्य नाम्नो मन्त्रो यदि वेष्टनया न्यस्त आक्रान्तम् यदुक्तम्—

'मन्त्रोऽभिधेयमाक्रम्य समन्तात् परिवेष्टयेत् ।
आक्रान्तं..........................॥'

इति । मन्त्रादनन्तरं नाम, ततस्त्रिर्मन्त्र इति आद्यन्तम् यदुक्तम्—

'अन्ते मन्त्रं त्रिधा योज्य सकृत्पूर्वं तु योजयेत् ।
मध्ये चास्य भवेत्संज्ञा आद्यन्तं ....॥'

इति। मध्यस्थस्य मन्त्रस्य चतुर्दिक्कं साध्यनामन्यासो गर्भस्थत्वम्. यदुक्तम्—

'यद् ग्रस्ते लक्षणं प्रोक्तं गर्भस्थेऽपि तदुच्यते ।'

इति मन्त्रस्य आद्यन्तयोः साध्यनामनिवेशः सर्वतोवृतत्वम् । यदुक्तम्—

'तद्भवेत्संपुटे रूपं तद्भवेत्सर्वतोवृते ।'

इति। पश्चान्न्यस्तमन्त्रस्य नाम्नश्चतुर्निवेशो युक्तिविदर्भणम् । यदुक्तम्—

'मन्त्रादावभिधेयं च त्रिधा योजितसंपुटम् ।
युक्त्या विदर्भणं.......................॥'

इति । नाम्नः पश्चाद् त्रिर्मन्त्रन्यासो विदर्भग्रथनम् । यदुक्तम्—

'न्यस्यादावभिधेयं तु पश्चान्मन्त्रं त्रिधा लिखेत् ।
विदर्भग्रथितं................................॥'

इति नियुक्ताः साधकैः ।

किं च

सिद्धं साध्यं सुसिद्धं च तथैवारित्वमेव च ॥१२॥
ज्ञात्वा सर्वमशेषेण मन्त्रन्यासं समाचरेत् ।

प्रणवादिमन्त्राक्षरादकारोकारमकारादिमात्रा विभज्य अवस्थाप्य तदधस्तथैव साधकनामाक्षराणि क्षिप्त्वा नामाक्षरोर्ध्वस्थमन्त्राक्षरप्राप्त्यन्तं सिद्धसाध्यसुसिद्धानि भेदेन मातृकाक्रमेण गणयित्वा आद्यद्वितीयतृतीयतुर्यस्थानेषु मन्त्राक्षरमायक्रमेण सिद्धादिरूपमुच्यते । यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे —

'मन्त्राक्षरं तु विश्लेष्य मात्राबिन्दुसमन्वितम् ।
आत्मनामाक्षरं तद्वदधोभागेऽस्य योजयेत् ॥
आत्मवर्णात् समारम्य यावन्मन्त्रार्णमागतम् ।
यस्मिन् समापतेद्देवि तमायं परिकल्पयेत् ॥
रेखाङ्गुलिगतं तं तु कथयामि समासतः ।
पर्वणि प्रथमे सिद्धः साध्यश्चैव द्वितीयके ।
तृतीयेऽपि सुसिद्धः स्यादरिर्ज्ञेयश्चतुर्थके ॥
अरिसाध्यौ परित्यज्य दातव्यश्चुम्बकेन तु ।
सिद्धश्चैव सुसिद्धश्च भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥' (८।२०-२४)

इति ॥

किं च—

उदयास्तमयौ व्याप्तिं ध्यानं मुद्रां स्वरूपतः ॥१३॥
यो वेत्त्येवं स सर्वज्ञः सर्वकृत साधकोत्तमः ।

उदयास्तमयावित्युन्मिषत्ताविश्रान्ती हृद्द्वादशान्तपदयोर्व्याप्तिं वीर्यम्, मन्त्राणां ध्यानं मन्त्रविषयम्, तदुचितामेव च मुद्रां स्वरूपत इति वीर्यात्मना स्वरूपेण ॥

एवमन्यैरशेषैश्च भावभेदैः सुरेश्वरि ॥१४॥
भावितव्या महामन्त्रा भवन्ति फलदाः प्रिये ।

अन्यैरित्यंशकशुद्धिर्वाह्यान्तः कलांशकोदयादिभिर्विशेषैः । भावभेदैस्तत्तद्देवतानुसारिभावनादिभिः ॥

यत एवम्—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ज्ञात्वा सर्वं नियोजयेत् ॥१५॥

न चान्यमन्त्रवदिहत्यमन्त्रराजविषया कात्येषा कल्पनेत्याह—

अस्यैवं मन्त्रराजस्य नास्ति भेदविचारणा ।

यतोऽयम्—

सर्वेषां मन्त्रराजानां बृंहकः परमेश्वरः ॥१६॥

पूर्वोक्तदृशा हि—

अनेन ग्रथिता मन्त्राः सूत्रे मणिगणा इव ।

तथा—

अस्य गर्भे स्थिता मन्त्राः जायन्ते मोक्षसिद्धिदाः ॥१७॥

युक्तमेतदित्याह—

परं सर्वगतं देवं सर्वसिद्धफलोदयम् ।
व्यापकं सर्वतोभद्रं सर्वतोमुखमव्ययम् ॥१८॥
पूरणं सर्वमन्त्राणां रक्षणं सर्वतोबलम् ।
मन्त्राणां योनिभूतं तु मोक्षदं सिद्धिदं शिवम् ॥१९॥
यतस्ततोऽस्य मन्त्रस्य नास्ति देव विचाराणा ।

पूर्वव्याख्याभिर्व्याकृतमेतत् ॥

यत उक्तयुक्त्या मन्त्राणां साध्यकारित्वाद्यंशकाशुद्ध्यादिवीर्यपरिज्ञानादिताडनग्रसनादिविधिश्चास्ति, यतश्च दुष्टमन्त्रवादिभिर्मन्त्रयन्त्रादिक्रमेण जनानां ताडनग्रसनादि क्रियते, तेन—

एतैर्दोषसहस्रैस्तु च्छिद्रितः साधको यदि ॥२०॥
विनायकैश्च ये ग्रस्ता आधिव्याधिप्रपीडिताः ।
विरक्तपौरा निर्भृत्य अपुत्राश्च सुदुःखिता ॥२१॥
मृतपुत्रा मृतदाराः सभया विगतश्रियः ।
आचार्याः साधका वापि मन्त्रसिद्धिपराङ्मुखाः ॥२२॥
विपुत्रा दुर्भगा नार्यो वन्ध्या विद्विष्टभर्तृकाः ।
एवमादिसहस्रैश्च दुःखदोषैश्च संयुताः ॥२३॥

ये केचित्—

दृष्ट्वा तान् मानवाँल्लोके उक्तदोषैश्च दूषितान् ।
तेषां चैव प्रकर्तव्यो यागो भाग्यावहः परः ॥२४॥
श्रीयागः परमेशानि मन्त्रेणानेन मन्त्रिणा ।

समनन्तरं वक्ष्यमाणरूपः ।

एतस्मिन् हि कृति—

महालक्ष्मीकृते यागे भाग्यभागभवते नरः ॥२५॥
पूर्वोक्तदोषनिर्मुक्तः प्राप्नोति परमं सुखम् ।

तत्र च यागे—

कलशेनाभिषिक्तोऽसौ पूजियत्वा महाश्रियम् ॥२६॥
प्राप्नोत्यचिन्तितान् कामान् ब्रह्मविष्णुशिवोपमान् ।

पूजयित्वा आचार्येणाभिषिक्त इति संबन्धः । काम्यन्त इति कामास्तत्तन्मन्त्र-मन्त्रेश्वरादिदशाविशेषाः ॥

यत एवम्, ततः—

एवं ज्ञात्वा तु मेधावी यागं कुर्यात् सुशोभनम् ॥२७॥

भाग्यावहनिमम् ॥२७॥

यतः—

यागोऽयं सर्वथा देवि सर्वश्रेयस्करः परः ।

तत्र—

पूर्वोक्ते भूप्रदेशे तु सर्वलक्षणलक्षिते ॥२८॥
सर्वशल्योज्झिते रम्ये महापद्मवनेऽथवा ।
सुप्रच्छन्ने प्रशस्ते च सुगुप्ते शरणोपरि ॥२९॥

आलिखेन्मण्डलं तत्र चतुरश्रं समन्ततः ।

तिशब्दलोप ऐशः । ऐन्द्रवारुणे इति पूर्वापरायतानीत्यर्थः ॥३०॥

तथा दक्षिणकौबेरसूत्राणि सुसमानि च ।

तथेत्येकान्नविंशतिमेव पातयेत् ॥

एवं कृते सति—

तत्राष्टादशभिर्भागैश्चतुर्दिक्षु समन्ततः ॥३१॥

त्रिशती कोष्ठकानां तु चतुर्विंशाधिका भवेत् ।

अष्टादशस्वष्टादशगुणेष्वेवमेव संख्या भवति ।

अथ—

तन्मध्ये चालिखेत् पद्ममष्टपत्रं सुशोभनम् ॥३२॥

भागाष्टके तु

सर्वतो भागपञ्चकं त्यक्त्वेत्यर्थः ॥

कथमित्याह—

तन्मध्ये चतुर्धा विभजेत्ततः ।

तदिति भागाष्टकात्म ॥

तत्र च—

प्रथमे कर्णिका कार्या केसराणि द्वितीयके ॥३३॥

सन्धयश्च तृतीये तु दलाग्राणि चतुर्थके ।

प्रथमे इति भागे । सन्धयो दलानि ॥

तांश्च भागाम्—

भ्रामयेच्चतुरो वृत्तान् सुसमांस्तु समांशतः ॥३४॥

सुसमत्वं भ्रमाणां स्वात्मनि, समांशत्वं तु परस्परम् ॥३४॥

ततः—

दिक्षु सूत्राष्टकं दद्याद्विदिक्ष्वेवं च पातयेत् ।
ऐन्द्रीं दिशं गृहीत्वा तु मध्यसूत्रप्रमाणतः ॥३५॥
किञ्जल्कस्थं भवेत् पत्रं

सूत्राष्टकान्तराले सूत्राष्टकमास्फाल्य मध्यसूत्रानुसारेण ऐन्द्रीं दिशं गृहीत्वा भाविनीत्या संसक्तदलोत्पादनाय पार्श्वसूत्रद्वयं मध्यतो विभज्य समनन्तरभाविपार्श्वसूत्रद्वयान्तं भ्रमद्वयात् पत्रं कुर्यात् । कीदृक् ? किञ्जल्कस्थं केसरेष्वाश्रयत्वेन स्थितं केसरत्रययुक्तमित्यर्थः ॥

एवं भाव्यतिदेशदृशा पत्रान्तराण्यपि प्रसाध्य—

तन्मध्ये कर्णिकां लिखेत् ।

पार्श्वद्वयभ्रमणे युक्तिमाह—

दलसन्धिस्थितं सूत्रं स्थाप्य पार्श्वे तु भ्रामयेत् ॥३६॥

वामहस्तं ससूत्रं मध्यपार्श्वसूत्रान्तरालगं कृत्वा तदेव दलसन्धिस्थितं तत्प्राप्तं कृत्वा, पार्श्वे इति पार्श्वद्वये दक्षिणहस्तेन भ्रामयेत् ॥

इत्थं सूत्रे भ्रामिते—

द्वाभ्यामुभयपार्श्वाभ्यां पूर्वपत्रं प्रसाधयेत् ।

द्वाभ्यामित्यवच्छिन्नम् ॥

एतदतिदिशति—

पीता तु कर्णिका कार्या पुष्करा हरिताः स्मृता ॥३७॥
केसराणि विचित्राणि चतुर्विंशतिसंख्यया ।
सितरक्तानि पीतानि मूलमध्याग्रदेशतः ॥३८॥
सुश्वेतानि दलानि स्युर्व्योमरेखा तु वर्तुला ।
बाह्यस्याङ्गुष्ठमानेन श्वेतवर्णा सुशोभना ॥३९॥
दलान्तराणि रक्तानि

पुष्कराणि बीजानि । मूले सितानि मध्ये रक्तान्तग्रे पीतानि केसराणि कार्याणि । दलानीति तदग्रसहितानि । बाह्यस्येति पद्मस्य । दलान्तराणीति वदन्नसंसक्तदलं पद्मं पार्श्वरेखाविभागेन कुर्यादिति शिक्षयति व्योमरेखान्तमेतत् कृत्वेति । ॥

तद्वाह्ये चतुरश्रकम् ।

कार्यम् ॥

तदर्थं च—

तथैवाङ्गुलिमानेन सितरेखा तु पीतला ॥४०॥

दातव्या, अन्ते बहिर्भागे पीतला हरि तालादियोजिता ॥४०॥

किं च—

गात्रकाणि ततो बाह्ये भागाभ्यां चैव पार्श्वतः ।

पार्श्वतो भागाभ्यामिति पार्श्वयोर्यौ भागौ, ताभ्यां प्रतिदिशं भागचतुष्टये-नेत्यर्थः । गात्रकाणि कोणान्तरालगा अवयवविशेषा व्योमरेखाया बाह्ये कार्याणि ॥

पीठे रजोन्यासमाह—

सितादिवर्णभेदेन कोणेष्वाग्नेयमादितः ॥४१॥

गात्रकान्पीतवर्णांश्च पूर्वादौ तु समालिखेत् ।

देवाभिमुखदिगपेक्षया आग्नेयादिक्रमेण ईशानानन्तं कोणेषु सितरक्तपीत-कृष्णभेदेन रजोन्यासं कुर्यात् । कोणान्तरेषु दिक्चतुष्टयगगात्रकाणि पीतानि लिखेत् ॥

तद्वहिरपि—

द्वौ द्वौ भागौ ततो लोप्यौ वीथ्यर्थं चैव सर्वतः ॥४२॥

सर्वतः सर्वासु दिक्षु । वीथी पूजाप्रदेशमार्गः ॥४२॥

सा च—

कृष्णेन रजसा लेख्य पद्मशंखविभूषिता ।

पद्मशंखौ श्रियो लाञ्छने ॥

तथा एतद्वहिः—

द्वारं च शुक्लं कुर्वीत द्विभागेनैव पार्श्वतः ॥४३॥

पार्श्वतः प्रतिपार्श्वमवशिष्टेन द्विभागेनेति कोष्ठकद्वयमानेन कुर्यात् । तदत्र पद्मार्थं कोष्ठकाष्टकस्य वहिः प्रतिपार्श्वं कोष्ठकपञ्चकात् पीठार्थमेकम्, वीथ्यर्थं च द्वयमुक्तमित्यवशिष्टे कोष्ठकद्वये एव द्वारमुक्तम् । अत्र च यत् कोष्ठकाष्टाद-शोल्लेखनम्, तदिहत्यस्थित्या गर्भीकृतेतराध्वप्रपञ्चशोध्याष्टादशशंख्याकतत्त्वा-ध्वव्याप्तिं यागस्य प्रकाशयितुम् ॥४३॥

किं चास्य—

वीथीमानेन विस्ताराद्वीथ्यर्धेन तु कारयेत् ।

कण्ठं

पार्श्वत इत्यनुवर्तते । मध्यसूत्रमपेक्ष्य पार्श्वत इति प्रतिपार्श्वम् । वीथीमाने-नेति भागद्वयेन, साकल्यतस्तु चतुर्भिर्भागैर्विस्तारमानात् तथा वीथ्यर्धेन भागेन एकेन, अर्थादूर्ध्वतः कण्ठं द्वारोर्ध्वगमवयवविशेषं मण्डलाचार्यं कर्तुं प्रयुञ्जीत ॥

तथोपकण्ठं च

कण्ठाधोगमवयवविशेषं तथेति कण्ठापेक्षया प्रतिपार्श्वं भागद्वयेन साकल्य-तस्तुभागाष्टकेन विस्तारमानात् भागेन चोद्ध्वमानात् कारयेत् ॥

द्वारपार्श्वयोः परावृत्तद्वारसंनिवेशाकारेण—

तथा शोभोपशोभके ॥४४॥

कारयेत् ॥४४॥

एवं द्वाराणि निष्पाद्य वृत्तानि त्रीणि कारयेत् ।
पश्चिमं विवृतं कार्यं

पश्चिममिति पश्चिमदिक्स्थं देवाभिमुखमित्यर्थः ॥

शोभोपशोभयोः स्थानसंनिवेशवर्णनायाह—

पार्श्वयोस्तु विलेखयेत् ॥४५॥
शोभां चैवोपशोभां च रक्तवर्णां तु पीतिकाम् ।
प्रतिद्वारं चतुर्दिक्षु कोष्ठकैरधरोत्तरैः ॥४६॥

कोष्ठकैरिति परावृत्तद्वारसंनिवेशोत्थापकैः । अत्र कोष्ठकसंख्या यद्यपि नोक्ता, तथाप्यध एकमूर्ध्वं पञ्च, इत्येवं विभाग उत्पद्यते ॥४६॥

अथ शोभोपशोभयोः पार्श्वगेषु—

कोणान्तेषु लिखेद्द्वे वि पद्मशंखौ समन्ततः ।

समन्ततः सर्वेष्वित्यर्थः ॥

एवं द्वारान्तं समस्तमण्डलं निष्पाद्य—

तस्मिन्बाह्यसमन्तात्तु भूतरेखास्तु पातयेत् ॥४७॥

भूतसंख्याकाः पञ्चेत्यर्थः ॥४७॥

ताश्च—

सितादिवर्णभेदेन

वाह्यादन्तः प्रवेशक्रमेण सितरक्तकृष्णपीत-स्वच्छरूपाः ॥
यतः—

निवृत्त्याद्यास्तु ता कलाः ।

सद्योजातादिब्रह्मव्याप्तिका हि ताः प्रोक्तवर्णा एव ॥

एतच्च—

बाह्ये तु पत्रवल्ल्यब्जैः स्वस्तिकैरुपशोभितम् ॥४८॥
आलिख्य मण्डलं मुख्यं तन्मध्ये तु यजेच्छ्रियम् ।

न च प्रथममेव मण्डलं लिखेत्, अपि तु—

पूर्वाधिवासः कर्तव्यो यथाविभवविस्तरैः ॥४९॥

पूर्वदिनेऽधिवासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥४९॥

एतदर्थमादावेव—

यागहर्म्यं तु कर्तव्यं शक्त्या द्रव्यानुसारतः ।
वेदीतोरणसंयुक्तं नानाध्वजविराजितम् ॥५०॥

ध्वजानि चित्रचिह्नानि ॥५०॥

एतच्च यागौचित्यात्—

पादुकाच्छत्रशय्यादिनानाशोभासमन्वितम् ।
गृहोपकरणाद्यैश्च भोगैर्नानाविधैस्तथा ॥५१॥

युतम् ॥५१॥

यागस्य—

वितानमूर्ध्वं कर्तव्यं सुश्वेतं तु मनोरमम् ।
जवनिकां चतुरङ्गां दीपाष्टौ दिक्षु दापयेत् ॥५२॥

किं च—

बालव्यजनघण्टादि तथादर्शचतुष्टयम् ।

दिक्चतुष्के निवेशयेत् ॥

दिक्षु विदिक्षु च पुनः—

पताकाष्टौ नवाः श्रेष्ठा नानारङ्गसमुज्ज्वलाः ॥५३॥
कलशाष्टौ तथा रौप्यास्ताम्रा वा मृण्मया अपि ।

स्थाप्याः ॥

कलशेषु च—

समुद्राष्टौ तथा पूज्याः

समुद्राधिष्ठितांश्च कलशान्—

सर्वौषधिसमन्वितान् ॥५४॥

चूतपल्लवसंयुक्तान् सहिरण्यांश्च पूजयेत् ।
काण्डाष्टौ पञ्चरङ्गाणि दिग्विदिक्षु निवेशयेत् ॥५५॥

पञ्चरङ्गाणीति सूत्राणि ॥५५॥

एतद्बाह्ये—

लोकपालास्तथा पूज्याः पटेषु स्वाकृतिस्थिताः ।

लोकपालानां समीपे

तथा ह्यस्त्राकृतिः कार्या दशदिक्षु समन्ततः ॥५६॥

तथेति इन्द्राद्यनुसारेण वज्राद्यस्त्राकृतिः पटेषु कर्तव्या ।[1] दशेत्यूर्ध्वाधःस्थौ ब्रह्मानन्तौ सायुधावैशाननैर्ऋतकोणस्थौ कार्यौ ॥५६॥

---

१. अत्र योगिनीहृदयदीपिकास्थितमिन्द्रेशानेति (पृ० २३५) वचनं द्रष्टव्यः ।

द्वाराध्यक्षास्ततो बाह्ये कार्याः स्वाम्नायदर्शनात् ।

कार्या उल्लेख्याः पूज्याश्च । स्वाम्नायदर्शनादिति सिद्धान्तस्थित्या द्वारस्य दक्षिणे नन्दिगङ्गे, वामे महाकालयमुने, भैरवदृशि तु एतदेव विपर्ययात्, वामस्रोतसि तु प्राग्वद् नन्दिगङ्गादि दिण्डिमहोदरसहितम्, त्रिकनये भैरवद्वद् मेषाननच्छागाननौ त्वधिकौ, इत्याद्यनुसर्तव्यम् । एते च लोकपालास्त्रान्तादेवताविशेषाः ॥

अस्य नयस्य—

सर्वसाधारणत्वाच्च पटे कार्यास्तु तादृशाः ॥५७॥

अत्रायं क्रमः—

वेदमङ्गलनिर्घोषैर्जयपुण्याहसंयुतैः ।
नृत्तवादित्रघोषैश्च स्तोत्रैर्नानाविधैस्तथा ॥५८॥

युक्तः सन्—

आचार्यस्तु शुचिर्दक्षश्चन्दनागुरुचर्चितः ।
धौतपौतिकया युक्त उष्णीषाङ्गुलिभूषितः ॥५९॥
कटकाद्यैर्महाहारैः पुष्पस्रग्दामभूषितः ।
मूर्तिपैर्धूपवाहैश्च अर्घवाहैस्तथैव च ॥६०॥
सर्वसंभारसंयुक्तो ह्यधिवासनपूर्वकम् ।
कुम्भास्त्रवार्धनीमिष्ट्वा कृतक्षेत्रपरिग्रहः ॥६१॥
पश्चाद्देवि रजःपातं विदध्याद् दैशिकोत्तमः ।

शुचिरिति शुद्धवित्तचित्तशरीरः । दक्षः पूजादावुद्युक्तः, अनुष्ठितनित्यकर्मत्वादेव चन्दनादिचर्चितः । धौतपोतिका महाप्रकाशपरीतताशयात् । उष्णीषः शिरसि पट्टादिबन्धः । अङ्गुलिरङ्गुलीयकम् । मूर्तिपैरिति पृथिव्यादिमूर्त्यष्टकाधिष्ठातृशर्वादिमूर्तीश्वररूपैराचार्यान्तरैरनुगतः, एवं चाष्टमूर्ति महेश्वरैकरूप इत्यर्थः । अर्घवाहैरित्यादौ युक्त इति योज्यम् सर्वसंभारोऽधिवासोचितो द्रव्यसमूहः, अधिवासनं शिवयागौचित्येन द्रव्यादेः संस्कारः श्रीस्वच्छन्दादिष्टनीत्या । कुम्भयागः सर्वविधिसंपूरणाद्यर्थः । अस्त्रयागश्च विघ्नशमनाय । कृतक्षेत्रपरिग्रहो गृहीतयागोचितस्थानविशेषः रजःपातमिति प्रोक्तक्रमेण रचितमण्डलविशेषम् ॥

एवमत्रमण्डले—

पूर्वोक्तवपुषा ध्यात्वा मृत्युजिन्मध्यतो यजेत् ॥६२॥

मृत्युजित् पारमेश्वरं रूपम् ॥६२॥

किं च—

तदुत्सङ्गगतां देवीं श्रियं वै विश्वमातरम् ।
विशुद्धस्फटिकप्रख्यां हिमकुन्देन्दुसप्रभाम् ॥६३॥
चन्द्रार्बुदप्रतीकाशां गोक्षीरसदृशप्रभाम् ।
मुक्ताफलनिभां श्वेतां श्वेतवस्त्रानुगूहिताम् ॥६४॥
सितचन्दनलिप्ताङ्गीं कर्पूरक्षोदधूसराम् ।
शुद्धहारेन्दु कान्तादिरत्नोज्ज्वलविमण्डिताम् ॥६५॥
सितस्रग्दाममालाभिः कमलैः सुविभूषिताम् ।
हरहाससुशुभ्राङ्गीं सितहासां मनोरमाम् ॥६६॥
सुशुक्लमुकुटोपेतामेकवक्त्रां त्रिलोचनाम् ।
बद्धपद्मासनासीनां योगपट्टविभूषिताम् ॥६७॥
शंखपद्मकरां सौम्यां वरदाभयपाणिकाम् ।
चतुर्भुजां महादेवीं सर्वलक्षणलक्षिताम् ॥६८॥
ध्यात्वा वै भावभेदेन रूपायुधविभूषिताम् ।

यजेत्यनुषज्यते । शुद्धहारेन्दुकान्तादिरत्नैरुज्ज्वलां च विमण्डितां च । भावभेदेनेति कामनाविशेषारूषिताशयेनोपलक्षितः साधकः शिष्टं स्पष्टम् ॥

अथ देववद् देव्या अङ्गानीत्याह—

अमृतेशविधानेन तथैवाङ्गानि कल्पयेत् ॥६९॥

द्वितीयाधिकारोद्दिष्टनीत्या । एवं चात्र विशेषोक्त्या आदिशन्नेतदतिरिक्तपूर्वोक्त सर्वदेवतानां नैतान्यङ्गानीति शिक्षयति ॥६९॥

सर्वश्वेतत्वादेव देवीम्—

सर्वश्वेतोपचारेण पूजयेत् सर्वसिद्धिदाम् ।

मुख्यं विधिमुक्त्वा प्रकारान्तरमाह—

अनेनैव विधानेन श्रीधरं वा श्रिया सह ॥७०॥
पूजयेद् भक्तितो देवि सर्वकामफलप्रदम् ।

यद्वा केवलामेव देवीम्—

पाद्यार्घ्यकुसुमैः शुभ्रैर्मृष्टधूपादिभिस्तथा ॥७१॥
लेह्यैः पेयैस्तथा चूष्यैर्भक्ष्यैर्नानाविधैः शुभैः ।
पूजयेत् परमेशानीं सर्वसिद्धिफलप्रदाम् ॥७२॥

अर्चान्ते जपानन्तरम्—

पूर्ववन्निर्मिते कुण्डे होमात् पूर्वोदितेन तु।
तर्पयेद्देवदेवेशीं भक्तियुक्तेन चेतसा ॥७३॥

पूर्वोदितेनेति तिलक्षीरघृतशर्करादिना यो होमस्तस्मात् देवदेवस्य शक्तिं तर्पयेदिति संगतिः ॥७३॥

देव्याः प्रकारान्तरमाह—

अथवाष्टभुजा देवी चिन्तारत्नकरा शुभा
कलशं धारयेन्नित्यममृतेन समन्वितम् ॥७४॥
सोमसूर्यकरा देवी सितपद्मोपरिस्थिता।
निधीनां चोपरिष्टात्तु गजमङ्गलभूषिता ॥७५॥
ब्रह्मादिसुरसंघातैः पूजितासंस्तुता सदा।
ध्याता जप्ता महेशानी सिद्धिमुक्तिफलप्रदा ॥७६॥

पूर्वोक्तशंखपद्मवराभयकरत्वोपरिचिन्तारत्नामृतकलशसोमसूर्यकरत्वेन अष्टभुजा। निधीनामुपरिष्टाद् यत् सितपद्मम्, तत्स्था। मङ्गलगजभूषितत्वं तत्करोत्क्षिप्तघटाभिषिच्यमानत्वम्। महेशानस्येयं महेशानी, अत एव ब्रह्मादिभिः पूजिता। तदाराधनादेव हि तेषामंशांशिकया व्यक्तिं गताऽसाविति श्रीस्वच्छन्देऽस्ति ॥७६॥

यद्वा—

इष्टां तु देवदेवेशीं कुम्भस्थां संप्रपूजयेत्।
पूर्वोक्तेन विधानेन यागे पूर्वोदिते शुभे ॥७७॥

अतश्च—

पूर्वोक्तध्यानयोगेन कुम्भमध्यगतां श्रियम्।
जप्त्वा चाष्टोत्तरशतमभिषिञ्चेत्तु पूर्ववत् ॥७८॥

पूर्ववदिति पुण्याहमङ्गलनिनादादिक्रमेण ॥

आचार्यो यं साधकमभिषिञ्चेत्—

तस्याचला महालक्ष्मी राज्यं वा यदभीप्सितम्।

तद् भवतीति शेषः ॥

किं चैवमभिषिक्तः साधकोऽसौ—

भौमान्तरिक्षसिद्धिं च दिव्यां चैवैश्वरीं शुभाम् ॥७९॥

यदपि चान्यत्—

ईहितं कामयेत्किञ्चित्

तत् सर्वमाराधिता देवी अस्मै—

सुप्रसन्ना प्रयच्छति ।

किं च—

आयुर्बलं यशः कीर्तिर्मेधा कान्तिः श्रियो वपुः ॥८०॥

सर्वं विवर्धते तस्य यस्य वेश्मनि पूज्यते ।

तदित्थम्—

यः कश्चिदभिषिक्तो वा

तदुक्तध्यानादिक्रमेण—

यश्च वा साधयेत् प्रिये ॥८१॥

देवीमिमाम् ॥

असौ—

पूर्वोक्तं सर्वमाप्नोति शान्तिं पुष्टिं करोति च ।

किं चोक्तध्यानादिक्रमेण—

पटे तु लिखिता देवी यस्य वेश्मनि पूज्यते ॥८२॥

पूर्वोक्तेन विधानेन तस्य सर्वं प्रयच्छति ।

अभीष्टं फलम् ॥

एवमेतदर्चापरस्य—

बहुनात्र किमुक्तेन सिंहस्येव यथा मृगाः ॥८३॥
पलायन्ते दिशः सर्वा दुष्टदोषाः सहस्रशः ।
किमन्यैर्मन्त्रवृन्दैश्च देवताराधनेन च ॥८४॥
यत्रैषा देवदेवेशी ध्याता जप्ता सुपूजिता ।

तत्र साधकस्येति शेषः दुष्टा भूता अपस्माराद्याः, दोषाः व्याध्यादिदौर्गत्याद्याः ॥

अपि चैषा—

संग्रामजाले ध्यातव्या खड्गपत्रलतास्थिता ॥८५॥

एवंकृते सति—

जयं प्रयच्छते तस्य रिपुदर्पापहा भवेत् ।

अग्रे प्रारम्भे ॥८६॥

अवश्यं जयमाप्नोति देवदेव्याः प्रसादतः ।

किं च

अपि व्याधिशतार्तो वा दुःखदोषैः प्रपीडितः ॥८७॥
सर्वपापविलिप्तो वा कृत्याखार्खोदपीडितः ।
मन्त्रैर्यन्त्रैस्तथा ध्यानैर्जपहोमैर्विषादिकैः ॥८८॥

व्याध्यादिभिः परप्रयुक्तमन्त्रमन्त्रादिभिर्वा यः पीडितः, सोऽपि देव्याः प्रसादतो जयमाप्नोतीति संबन्धः ॥८८॥

किं चेयम्—

चूर्णलेपाञ्जनादीनि कुहकानि च यानि च ।
करिष्यन्त्यरयो यत्र स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ॥८९॥
पूजितानेन विधिना तेषां प्रत्यङ्गिरा भवेत् ।

चूर्णादीनि वशीकारोच्चाटनाद्यर्थम् । कुहकानीति यन्त्रकृत्यादीनि यानि रिपवः करिष्यन्ति, तेषामेषा उक्तेन विधिना पूजितेति, अर्थात् यं प्रति कुहकादि कृतं तेन प्रत्यङ्गिरा भवेदिति दुष्प्रयुक्तास्त्रवद् रिपूणामेव स्वपक्षनाशिनी स्यात् ॥

अतश्चेमाः

आश्रित्य परमां देवीं भक्त्या संपूजयेत्तु यः ॥९०॥

सोऽभीष्टमाप्नोतीत्यर्थः ॥९०॥

तत्र च—

यथा न दृश्यते दुष्टैः पापाचाररतैर्नरैः ।
मन्त्रसिद्धैस्तथा धूर्तैः समग्रैः कण्टकैस्तथा ॥९१॥
तथा सुगुप्ता यष्टव्या गोपिता सिद्धिदा भवेत् ।

मन्त्रसिद्धैर्धूर्तैरिति क्षुद्रसिद्ध्यर्थाराधितमन्त्रैः । समग्रैः कण्टकैरिति शाकिन्याद्यैः ॥

तदित्थम्—

यागे होमे तथा जप्ये मुद्रायां ध्यानयोगतः ॥९२॥
सुगुप्तो ध्यायते देवीं यः सौभाग्यभाग्भवेत् ।

ध्यानयोगत इति ध्यानयोगेन यः सुगुप्त सन् देवीं ध्यायतीति संबन्धः ॥

एतदेवोपपादयति—

यस्माद्दुष्टाश्च बहवो जिघांसन्ति सुखानि च ॥९३॥
अन्ये सौभाग्यसंत्यक्ता दौर्भाग्येन प्रपीडिताः ।
पश्यन्ति यागं होमं च जपं ध्यानविधिं सदा ॥९४॥

जनयन्ति महाविघ्नांस्तस्माद् गुप्ततमो विधिः।

दुष्टाः पापिष्ठाः क्षुद्रकर्मरताश्च। मुखानि चेति चकारात् शरीरवित्तादीन्यपि। पश्यन्ति यागं होमं चेति चस्तुल्ययोगे। पश्यन्ति च विघ्नान् सदा जनयन्ति चेति यावत्॥

उक्तमर्थं निगमयति—

भावभेदेन यष्टव्या साधकेन विपश्चिता ॥९५॥

एकवीरक्रमेणाथ पूजिता वा सुरेश्वरी।
ददाति सर्वकामांश्च प्रसन्ना परमेश्वरी ॥९६॥

विपश्चिता व्याप्तिज्ञेन। सर्वकामांश्चेति चकाराद् मुक्तिम् ॥९६॥

भावभेदेनेत्युक्तिं स्फुटयति—

शैववैष्णवसिद्धान्तभेदेनैव सुपूजिता।
भक्तानां चित्तभेदेन फलदा परमेश्वरी ॥९७॥

किं च—

चिन्तामणिर्यथा लोके चिन्तितार्थफलप्रदः।
तथैषा तु महालक्ष्मीः सर्वकामफलप्रदा ॥९८॥

अयं चास्य महिमा, यत्—

देवासुरमनुष्याश्च नागगन्धर्वकिन्नराः।
दैत्याः सदानवा यक्षा राक्षसाश्च पिशाचकाः ॥९९॥

भूतवेतालयोगिन्यो मातरो गुह्यकास्तथा।
डाव्यो डामरिका देव्यो भगिन्यो दूतयस्तथा ॥१००॥

तथा योगेश्वराः सर्वे यागसिद्धिसमुत्कटाः।
महासिद्धिप्रसादेन सर्वे सिद्धाः सुसिद्धिताः ॥१०१॥

पिशाचा अशुचिस्थानादिवासिन उल्कामुखाः भूतास्त्वतिबलाः क्षेत्रपालाद्याः। वेतालाः शवशरीरावेशिनः श्मशानगाः। योगिन्यो योगाभ्यासासादितप्रभावाः। मातरो ब्राह्म्याद्याः गुह्यकाः प्रधानयक्षाः। डाव्या डामरिकाणां च प्रागेव स्वरूपं दर्शितम्। देव्यः खेचर्याद्याः। भगिन्यो ब्राह्म्याद्यंशकोद्भूताः। दूत्यो ब्राह्म्यादिपरिवारभूताः। योगेश्वरा योगेन परतत्त्वैक्येन ये ईश्वराः, न तु मितसिद्धिरसिकाः। योगसिद्धास्तु योगवशप्राप्तसिद्धिनिष्ठाः। सुसिद्धिता इति भावभेदानुसारासादितस्वोचितसिद्धयः ॥१०१॥

एषा हि देवी—

आकरः सर्वसिद्धीनां महालक्ष्मीर्महाबला ।
आश्रितानां च भक्तानां साधकानां वरप्रदा ॥१०२॥

सर्वमुक्तिप्रदेत्यर्थः ॥१०२॥

अस्याः पराः हि जगतो नान्या काचित् सुखप्रदा ।
अणिमादिगुणा ये च सार्वज्ञ्याद्याश्च येऽपरे ॥१०३॥
ते सर्वेऽस्याः प्रसादेन सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ।

एष च यथोक्तो यागः—

मोक्षार्थिना प्रकर्तव्य एकवीरस्तु पूर्ववत् ॥१०४॥

श्रीमदमृतेशैकविषयः ॥१०४॥

बुभुक्षोर्भोगसिद्धये प्रकारान्तरमप्याह—

अथवा शक्तिसंयुक्तं प्रतिष्ठापयते विभुम् ।
पूर्वसंभारसंयुक्तं प्रासादे तु मनोरमे ॥१०५॥
शक्तिशक्तिमतोर्योगं स्थापयित्वा विधानतः ।

विधानतो व्याप्तिज्ञतया । शक्तिशक्तिमतोर्योगं स्थापयित्वा ज्ञानक्रिया-सामरस्यात्मरुद्रतच्छक्तिसमावेशमासाद्य ॥

यो महालक्ष्म्या सह देवं संभारेण प्रासादे प्रतिष्ठापयति, एतस्य—

जन्मान्तरसहस्रैस्तु यत्पापं समुपार्जितम् ॥१०६॥
तत्क्षणान्नश्यते देवि तूलराशिरिवानले ।

किं च—

इष्टमात्रस्तु देवेशः स्थापितो वापि दीक्षितैः ॥१०७॥
कुल्यानुद्धरते सर्वान्

सर्वान् कुल्यानिति पित्र्यादिकुल्यानुद्धरति ॥

कथम्—

दश पूर्वान् दशावरान् ।

प्रतिकुलं पूर्वान् परांश्च दश दश वंश्यानुद्धरतीत्यर्थः ॥

किं च—

यावत् प्रासादलिङ्गे च प्रतिमाचित्रभित्तिषु ॥१०८॥
पाषाणे धातुषु तथा ध्वजेषु ध्वजयष्टिषु ।
संख्यानं परमाणूनां तावत्कालं भुनक्ति सः ॥१०९॥

समुद्राः सरितो यावन्मरुच्चन्द्रार्कभूमयः ।
भोगान् सादाशिवे तत्त्वे भुक्त्वा निर्वाणमाप्नुयात् ॥११०॥

पाषाणा वहिःप्राकारगाः । धातवः प्रासादगताः सुधाद्याः । ध्वजानि त्रिशूलाद्यानि । यावत् परमाणूनां संख्यानमित्यन्वयः । भुनक्ति भुङ्क्ते । समुद्रा इति चिरकालताप्रतिपादनतात्पर्येण । तदुक्तम्—

'प्रतिमालिङ्गवेदीनां यावन्तः परमाणवः ।'

इति ॥११०॥

निर्वाणस्वरूपं दृष्टान्तेनोपपादयति—

यथा समुद्रं संप्राप्य सिन्धुः समरसीभवेत् ।
तथा शिवत्वमापन्नः पशुर्मुक्तो भवार्णवात् ॥१११॥

सिन्धुर्नदी । शिवत्वमापन्नः परमशिवैक्यं प्राप्तः । पशुरिति प्रागवस्थापेक्षा उक्तिः ॥१११॥

तदेवं तिष्ठापको भुक्तिमुक्त्यात्म—

प्रतिष्ठाफलमेतद्धि प्राप्नुयान्नात्र संशयः ।

एवं महालक्ष्म्या यागं प्रतिष्ठां चोक्त्वा मृतोद्धारदीक्षां विशेषाख्यानपूर्वं वक्तुमाह—

अदीक्षिते तु नृपतौ तत्सुतेषु द्विजातिषु ॥११२॥
भोगालसेषु वा देवि कर्मदोषैश्च विघ्निते ।

अदीक्षित इति अप्राप्तदीक्षे सर्वस्मिन्, नृपतत्सुतादौ तु दीक्षितेऽप्यसम्यक्प्रजापालनपातकस्य संभाव्यत्वात्, द्विजातिषु प्राप्तदीक्षेष्वपि दृढजातिग्रहानिवृत्तेः, भोगालसेष्विति सबीजदीक्षादीक्षितेष्वपि जातिभोगासङ्गत्वाद् लुप्तसमयेषु, समयपालनपरोऽपि वा यो दैवदोषविघ्नितत्वाद् लुप्तसमयः संभाव्यते, तेष्वेव मृतेषु बन्धुमुख्याद्यायातशक्तिपातेषूद्धरणाय दीक्षार्थं परमेश्वरो यष्टव्य इति भाविग्रन्थेन संबन्धः ॥

किं च, यैरन्यैः—

न चेष्टं न तपस्तप्तं न ध्यातं न प्रतिष्ठितम् ॥११३॥
परमेशविषयं न कृतं यागादि तेष्वपि ।

तोयोद्बन्धनकुक्षिप्रहारादिजेन—

पातित्येन मृतानां तु येषां नरकसंस्थितिः ॥११४॥

किं च—

निदानैर्बहुभिर्देवि बालस्त्रीवृद्ध आतुरे ।

लूतादोषविषाशनक्षुद्रप्रयोगेशभक्षणभृगुपतनादिकारणैर्बालादिके मृते नरक-पातादि संभाव्यते ॥

तेषु सर्वेषु—

मृतेषूद्धरणार्थाय दीक्षार्थं परमेश्वरः ॥११५॥
यष्टव्यः पूर्ववद्देवः

उद्धरणं नरकभूमितो मन्त्रजालयोगक्रमेण कर्षणम्, अर्थौ भुक्तिमुक्ती तदर्थम्, या दानक्षपणार्थं दीक्षा, तत्संपत्तये देवः प्राग्वत् संभारेण पूज्यः ॥

किं च—

विशेषात्तत्र चाकृतिः ।
कर्तव्या रजसावश्यं सदृशी द्वादशाङ्गुला ॥११६॥
कार्या वा गोमयाद्देवि कुशैर्वा स्नानशोधिता ।

रजसा शालिचूर्णेन । राजतेत्यपपाठः । सदृशीति मृतदेहेन ॥

न चात्राधिवासः कार्य इत्याह—

दीक्षैव तत्र संस्कारः

केवलं भगवदर्चाहोमानन्तरम्—

'मूलाधारादुदेत्य प्रसृतसुविततानन्तनाड्यध्वदण्डं
वीर्येणाक्रम्य नासागगनपरिगतं विक्षिपन् व्याप्तुमीष्टे ।
यावद्धूमाभिरामप्रचिततरशिखाजालकेनाध्वचक्रं
संच्छाद्याभीष्टजीवानयनमिति महाजालनामा प्रयोगः ॥'

(तं० २१।२५)

इति गुर्वादिष्टसंप्रदाययुक्त्या मायाबीजावमर्शतो मायाजालेन, यद्वा—

'मध्ये नादः शण्ठस्वरा अवर्गः कचावङ्गौ ।
अणनौ टतौ ञणनाः पाद्या अष्टानु यादयो मूर्धा ॥'

इति मध्यस्थनादकषडावृत्तिमातृकाजालप्रयोगेण पूर्वोक्तं दीक्ष्यम्—

व्याप्त्या यवस्थमानयेत् ॥११७॥

व्याप्त्येति विश्वव्यापिचिद्धामावेशतः । तदुक्तं श्रीहंसपारमेश्वरे—

'सर्वार्चनं स्थण्डिले स्यान्न च तत्राधिवासनम् ।'

इत्युपक्रम्य—

'निष्कलः सकलः शान्तो ह्यहमेव परः शिवः ।
परमात्मा सर्वगतो जगद्व्याप्तं मयाखिलम् ॥

एवं ध्यानगतः कुर्याद्रेचकं पूरकं ततः ।
कुम्भकान्तं रेचकेन निक्षिपेदखिलं शनैः ॥
रेचकान्तं पुनः स्वान्ते द्वादशान्ते स्वशक्तिकाम् ।
लक्षयेदङ्कुराकारां सर्वाण्डान्तरचारिणीम् ॥
मायावीजं समुच्चार्यं चैतन्यं लिङ्गसंयुतम् ।
शुद्धमम्बुकणाकारं यत्र स्रोतोन्तरे स्थितम् ॥
गृहीत्वा तत्प्रयोगेण महाजालेन युक्तितः ।
गृहीतं हृदयं स्थाप्यं वीजाभिख्यासमन्वितम् ॥'

इति ॥११७॥

इत्थमेकं वहून् वा आनीय—

अणूंश्च योजयेत्तस्यां

प्रतिकृतावेकस्यामनेकस्यां वा न्यस्येत् ॥

ततो जीवद्दीक्षावदध्वशुद्धिं सकलां कृत्वा तां प्रतिकृतिं शिखावत्—

पूर्णाहुत्या सह क्षिपेत् ।

परे शिवाग्नौ जुहुयात् ॥

योजन्या शिवतत्त्वे तु

श्रीस्वच्छन्दादिष्टयोजनिकाप्रकारेण तं शिवतत्त्वे नियोजयेत् ॥

इत्थं प्रबुद्धाचार्यवर्यविहितदीक्षादीक्षितः—

ततः सायुज्यभाग्भवेत् ॥११८॥

शिवैक्यमियात् ॥११८॥

यद्वोक्तजनानामनुग्रहाय—

श्राद्धे संपूजयेद्देवमन्त्येष्टावथवा यजेत् ।

तत्र सैद्धान्तिकश्राद्धविधिस्तावत् प्रसिद्धः, रहस्यविधौ तु—

'गुरुरन्नमयीं शक्तिं बृंहिकां वीर्यरूपिणीम् ।
ध्यात्वा तया समाविष्टं तं साध्यं चिन्तयेत् सुधीः ॥
ततोऽस्य पाशवांशो यो भोगरूपस्तमर्पयेत् ।
भोक्तर्येकात्मभावेन शिष्य इत्थं शिवीभवेत् ॥'

इत्येवं नैवेद्यनिवेदनयुक्त्यैवोक्तः, मृतोद्धारोऽन्त्येष्टिः शवशरीरे, श्रीसिद्धायां तु—

'अन्तिमं तु भवेत् पूर्वं तत्कृत्वान्तिममादिमम् ।
संहृत्यैकैकमिष्टिर्या सान्त्येष्टिर्द्वितयी मता ।।
पूजाध्यानजपप्लुष्टसमये न तु साधके ।
पिण्डपातादयं मुक्तः खेचरो वा भवेत् प्रिये ।।
आचार्ये तत्त्वसंपन्ने यत्र तत्र मृते सति ।
अन्त्येष्टिर्नैव विद्येत शुद्धचेतस्यमूर्धनि ।।
मन्त्रयोगादिभिर्ये तु मारिता नरकेषु ते ।
कार्या तेषामिहान्त्येष्टिर्गुरुणातिकृपालुना ।।'

इत्यादिष्टम् । मन्त्रप्रातिलोम्याद् वीरक्रमेण समये पुत्रकद्वितये कार्या, न त्वभियुक्ते साधकेऽमूर्धनि त्यक्तदेहाभिमाने चिदानन्दघने आचार्ये चेति तात्पर्यम् । श्रीकुलार्णवेऽपि—

'ये केचिल्लुप्तसमया ये वा मार्गद्विषो नराः ।
प्राप्य मार्गं तु मुञ्चन्ति ये केचिदधमा नराः ।।
अत एषां महाभागे अन्त्येष्टिं कथयामि ते ।'

इति लुप्तसमयादावन्त्येष्टिदीक्षा उक्ता ।।

अथ मृतनिलयप्रतिष्ठयाऽनुग्राह्यानुग्रहः कार्य इत्याह—

प्रतिष्ठाप्यं तथा देवि दग्धपिण्डे श्मशानके ।।११९।।
पूर्वोक्तैर्द्रव्यसंभारैर्गुरुणा प्राग्विधानतः ।
पूर्वोक्तं भीषणं रूपं शक्तिद्वयसमन्वितम् ।।१२०।।

दग्धपिण्डे प्लुष्टदेहस्थाने । पूर्वोक्तमिति भैरवीयं शक्तिद्वयं कृश-स्थूलम् ।।१२०।।

यद्वा मध्यस्थभैरवपार्श्वगाः—

चतस्रोऽष्टावथो देवि पूर्वध्यानावलोकिताः ।

सिद्धाद्याश्चतस्रः, काल्यादिदूतीभिः सहाष्टौ पूर्वोक्तेन दशमाधिकारोक्तेन ध्यानेनावलोकिता ध्याताः सत्यः प्रतिष्ठाप्या, ।।

यस्यैवं प्रतिष्ठा क्रियते, असौ—

पूर्वोक्तफलमाप्नोति इत्याज्ञा पारमेश्वरी ।।१२१।।

अतिविततकालं भोगलक्ष्मीमासादयतीति शिवम् ।।१२१।।

केन नाम न रूपेण चिदात्मपरमेशितुः ।
अनुग्रहाय जगतां स्फुरन्नेत्रमुपास्महे ।।

इति श्रीनेत्रोद्योते अष्टादशोऽधिकारः ।।१८।।

———

एकोनविंशोऽधिकारः

छायाच्छिद्राणि सर्वाणि दुर्दृष्टिप्रसरादयः ।
यस्मिन् स्फुरति नश्यन्ति नेत्रोद्द्योतं तमाश्रये ।।

पटलसंगतिपूर्वं छायाच्छिद्रदृष्टिपातादिप्रशमोपायदिदर्शयिषया श्रीदेवी उवाच—

कथितं देवदेवेश प्राणिनां हितकाम्यया ।
अमृतेशविधानं तु सर्वरक्षाकरं परम् ।।१।।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि संशयो मे हृदि स्थितः ।
दृष्टिपातं प्रकुर्वन्ति मनुजे मातरः सदा ।।२।।
असंख्यातास्तु ता देव्यो ह्यप्रमेयवलान्विताः ।
छायाच्छिद्रेण बाधन्ते योगिन्यो वलवत्तराः ।।३।।
अत्यन्तमलिनास्तीव्रा निस्त्रिंशा निर्भया दृढाः ।
हिंसकाः सर्वजन्तूनां वालानां च विशेषतः ।।४।।
न संख्या विद्यते तेषां तत्रोपायं वदस्व मे ।

श्रोतुमिच्छामीति दृष्टिपातादिप्रशमोपायं प्रश्नेन विषयीकृतम् । दृष्टिपातो जिघांसया निरीक्षणम् । मातरो भूचर्याद्याः । छाया रजस्वलासूतिकापापिष्ठादिभिर्दीयमाना प्रशस्तस्य जन्तोर्भूतादिस्वीकृतिहेतुः, छिद्रमरण्ये रोदनादि । अत्यन्तमलिनास्तामसाः । तीव्राः क्रोधप्रकृतयः । निस्त्रिंशा निर्घृणाः दृढाः प्रारब्धकुकर्मणो दुर्निवारा ग्रहाद्याः । हिंसका इति तेषामिति चैकशेषः ।।

एतदेव च्छायादिसतत्त्वप्रकाशनाशयेनाप्याह—

छायारूपं छलं यत्तद्दृष्टिपातच्छलं तथा ।।५।।
प्रकुर्वन्ति सदा देव च्छाया सा कतिधा स्मृता ।
दृष्टिपातभयं किं वा कथं वा विनिवर्तते ।।६।।
एतत्सर्वं समासेन प्रसादाद्वद शूलधृत् ।

अथैतन्निर्णेतुं श्रीभगवानुवाच—

श्रूयतां संप्रवक्ष्यामि च्छायायाश्चैव निर्णयम् ।

चकाराद् दृष्टिपातादेः ।।७।।

तत्र—

अप्रमेया ह्यनन्ताश्च मातरो बलवत्तराः ।
भूताश्च विविधाकारा ह्यनन्ताश्च महाबलाः ॥८॥
यक्षरक्षःपिशाचाश्च ये चान्ये हिंसका दृढाः ।
न संख्या विद्यते तेषां

अप्रमेया अनन्ता इति जातिव्यक्तिभेदादुक्तिद्वयम् । अन्ये इति ग्रहाद्याः ॥

एते हि—

कोटिभेदेन संस्थिताः ॥९॥

तेन तादृशमुपायम्

संक्षेपेण प्रवक्ष्यामि मुच्यन्ते येन बालकाः ।
स्त्रियश्च मनुजा वापि नृपपत्न्यश्च तत्सुताः ॥१०॥

छायादिदोषैः ॥१०॥

किं च—

यथा त्यजन्ति बलिनो यागव्रतपरायणाः ।
मन्त्रसंनद्धदेहाश्च ह्यप्रमेयबलान्विताः ॥११॥

त्यजन्तीति गृहीतान् तान् बालादीन् भूतग्रहाद्याः । यागेति पशूपहारयुक्त्यैव भगवदर्चानिष्ठाः ॥११॥

पुराकल्पे समुत्पन्ना नानाजन्मसहस्रशः ।
सर्वत्र हिंसकाः क्रूराः सर्वकालं जिघांसवः ॥१२॥
यागार्थमुद्यताः सर्वे भैरवानुचरा सदा ।
तच्छक्त्या बलिनः सर्वे तत्तेजोबलबृंहिताः ॥१३॥
महापशूपहारेण तोषयन्ति महाव्रताः ।
महाभैरवरूपं यत् स्वच्छन्दं कृतावानहम् ॥१४॥
दैत्यानां तु वधार्थाय देवानां स्थापनाय च ।

हिंसकाः क्वचिद् हिंसाप्रवृत्ता अपि जिघांसवस्तावतैवासंतोषादन्यहननाभिलाषिणः । शक्तिः कार्यकरणक्षमत्वम् । बलमोजः । महाव्रताः परमेशयागैकनिष्णाताः ॥

अत्रेतिहासक्रममाह—

इन्द्राद्यास्तु यदा देवाः सर्वदैत्यैरुपद्रुताः ॥१५॥
विद्राविता यदा दैत्यैस्तदाहं संस्तुतस्तु तैः ।
ब्रह्माद्यैर्विविधैस्तोत्रैर्मया तेषां हितार्थतः ॥१६॥

महाभैरवरूपं तत् स्वच्छन्दं तु कृतं ततः।
विद्रावणाय दैत्यानां देवानां स्थापनाय च ॥१७॥
तदर्थं च ग्रहा भूता मातरो निर्मिता मया।

अनन्तरम्—

जित्वा तं शत्रुसन्दर्भं कृतार्थास्ते मदन्तिकम् ॥१८॥
आगताः प्रार्थयन्ते स्म विनाशभयहेतुतः।
भगवन् देवदेवेश अस्माभिस्तोषितो ह्यसि ॥१९॥
तुष्टेन देवदेवेन यत्कार्यं तत्प्रसादतः।
कुरु देवेति चोक्तं तैस्तदा ते तु वृता मया ॥२०॥
अजेया वरदानेन प्रार्थयन्तो महाबलाः।

अजेयाः स्यामेति वरदाने मां प्रार्थयमानाः सन्तस्ते मया वृताः ॥

यथा—

एवं भवन्त्विमे सर्वे यथा सृष्टा मया पुरा ॥२१॥

इत्थं वृतैः सद्भिः—

ततः प्रभृति तैः सर्वैर्जगत्स्थावरजङ्गमम्।
आक्रम्य पीडितं सर्वं तिर्यङ्मानुषदैवतम् ॥२२॥

अतश्च—

देवान् केचिज्जिघांसन्ति भूताः स्वर्गे महाबलाः।
मनुष्यान् बलिनोऽन्ये च जिघांसन्ति समन्ततः ॥२३॥
तिर्यग्योनीश्च विविधा जिघांसन्ति तथापराः।
असंख्यातास्तु ते प्रोक्ता ह्यप्रमेयबलोत्कटाः ॥२४॥

एवं स्थिते—

पुनः स्तुतोऽहं देवैश्च प्रजापतिपुरःसरैः।

यदा—

तदा क्षिप्ता मया सर्वे भूताश्च बलवत्तराः ॥२५॥
मातरो भीमरूपाश्च भयभीता मदन्तिकम्।
आज्ञाविधायिनः सर्वे किं कुर्वाणाः समागताः ॥२६॥

अनन्तरम्—

मया क्रुद्धेन देवेशि मन्त्रकोट्यो ह्यनेकशः।
अवतार्य विनाशार्थं मातॄणां च ग्रहेषु च ॥२७॥

अप्रमेया ह्यनन्ताश्च मातरो बलवत्तराः ।
भूताश्च विविधाकारा ह्यनन्ताश्च महाबलाः ॥८॥
यक्षरक्षःपिशाचाश्च ये चान्ये हिंसका दृढाः ।
न संख्या विद्यते तेषां

अप्रमेया अनन्ता इति जातिव्यक्तिभेदादुक्तिद्वयम् । अन्ये इति ग्रहाद्याः ॥

एते हि—

कोटिभेदेन संस्थिताः ॥९॥

तेन तादृशमुपायम्

संक्षेपेण प्रवक्ष्यामि मुच्यन्ते येन बालकाः ।
स्त्रियश्च मनुजा वापि नृपपत्न्यश्च तत्सुताः ॥१०॥

छायादिदोषैः ॥१०॥

किं च—

यथा त्यजन्ति बलिनो यागव्रतपरायणाः ।
मन्त्रसंनद्धदेहाश्च ह्यप्रमेयबलान्विताः ॥११॥

त्यजन्तीति गृहीतान् तान् बालादीन् भूतग्रहाद्याः । यागेति पशूपहारयुक्त्यैव भगवदर्चानिष्ठाः ॥११॥

पुराकल्पे समुत्पन्ना नानाजन्मसहस्रशः ।
सर्वत्र हिंसकाः क्रूराः सर्वकालं जिघांसवः ॥१२॥
यागार्थमुद्यताः सर्वे भैरवानुचरा सदा ।
तच्छक्त्या बलिनः सर्वे तत्तेजोबलबृंहिताः ॥१३॥
महापशूपहारेण तोषयन्ति महाव्रताः ।
महाभैरवरूपं यत् स्वच्छन्दं कृतावानहम् ॥१४॥
दैत्यानां तु वधार्थाय देवानां स्थापनाय च ।

हिंसकाः क्वचिद् हिंसाप्रवृत्ता अपि जिघांसवस्तावतैवासंतोषादन्यहननाभिलाषिणः । शक्तिः कार्यकरणक्षमत्वम् । बलमोजः । महाव्रताः परमेशयागैकनिष्णाताः ॥

अत्रेतिहासक्रममाह—

इन्द्राद्यास्तु यदा देवाः सर्वदैत्यैरुपद्रुताः ॥१५॥
विद्राविता यदा दैत्यैस्तदाहं संस्तुतस्तु तैः ।
ब्रह्माद्यैर्विविधैस्तोत्रैर्मया तेषां हितार्थतः ॥१६॥

महाभैरवरूपं तत् स्वच्छन्दं तु कृतं ततः।
विद्रावणाय दैत्यानां देवानां स्थापनाय च ॥१७॥
तदर्थं च ग्रहा भूता मातरो निर्मिता मया।

अनन्तरम्—

जित्वा तं शत्रुसन्दर्भं कृतार्थास्ते मदन्तिकम् ॥१८॥
आगताः प्रार्थयन्ते स्म विनाशभयहेतुतः।
भगवन् देवदेवेश अस्माभिस्तोषितो ह्यसि ॥१९॥
तुष्टेन देवदेवेन यत्कार्यं तत्प्रसादतः।
कुरु देवेति चोक्तं तैस्तदा ते तु वृता मया ॥२०॥
अजेया वरदानेन प्रार्थयन्तो महाबलाः।

अजेयाः स्यामेति वरदाने मां प्रार्थयमानाः सन्तस्ते मया वृताः ॥

यथा—

एवं भवन्त्विमे सर्वे यथा सृष्टा मया पुरा ॥२१॥

इत्थं वृतैः सद्भिः—

ततः प्रभृति तैः सर्वैर्जगत्स्थावरजङ्गमम्।
आक्रम्य पीडितं सर्वं तिर्यङ्मानुषदैवतम् ॥२२॥

अतश्च—

देवान् केचिज्जिघांसन्ति भूताः स्वर्गे महाबलाः।
मनुष्यान् बलिनोऽन्ये च जिघांसन्ति समन्ततः ॥२३॥
तिर्यग्योनीश्च विविधा जिघांसन्ति तथापराः।
असंख्यातास्तु ते प्रोक्ता ह्यप्रमेयबलोत्कटाः ॥२४॥

एवं स्थिते—

पुनः स्तुतोऽहं देवैश्च प्रजापतिपुरःसरैः।

यदा—

तदा क्षिप्ता मया सर्वे भूताश्च बलवत्तराः ॥२५॥
मातरो भीमरूपाश्च भयभीता मदन्तिकम्।
आज्ञाविधायिनः सर्वे किं कुर्वाणाः समागताः ॥२६॥

अनन्तरम्—

मया क्रुद्धेन देवेशि मन्त्रकोट्यो ह्यनेकशः।
अवतार्य विनाशार्थं मातृणां च ग्रहेषु च ॥२७॥

शिवशक्तिप्रभावेण मननत्राणधर्मिणः ।

अभिसंहिताः ॥

युक्तं चैतदित्याह—

मन्त्रकोटयो ह्यनेकास्ता मया सर्वाधिकारिकाः ॥२८॥

मया अधिष्ठिताः । यतः सर्वाधिकारिण्यः, अतो मया तथा कल्पिताः ॥ एवं च वदन् भगवानुमापतिः स्वात्मनः परमशिवैकात्म्यं दर्शयति ॥

अथ मत्संकल्पनानन्तरमेव—

विद्याबलभयाद्भीता आगतास्ते मदन्तिकम् ।

यदा—

तदा मया ते विक्षिप्ताः स्थलेषु च जलेषु च ॥२९॥
दिगन्तरेषु शून्येषु

विशरारूकृता इत्यर्थः ॥

अथ ते—

मदाज्ञावशवर्तिनः ।

तत्र तथैव संस्थिताः ॥

के ते इत्याह—

बलिकामास्तथा चान्ये भोक्तुकामास्तथापरे ॥३०॥
रतिकामा हन्तुकामा वातजाः पित्तजाः परे ।
श्लेष्मजाः संनिपातोत्था भूता विविधरूपकाः ॥३१॥

भोक्तुकामा मांसरक्ताभिलाषिणः, हन्तुकामास्तु प्राणान् जिघांसवः । वातेति वातादिप्रकोपे जायन्ते, कामपदेनाभिलाषः परं तेषामस्ति, न तु मद्भयाद् बलात् कुत्रचित् प्रवर्तयितुमुत्सहन्ते ॥३१॥

ततः—

मयोक्तास्ते तु बलिनो मर्यादावशवर्तिनः ।
मदुक्तमन्त्रमुद्राभिर्ध्यानैश्च विविधैः सदा ॥३२॥

भवन्तीति शेषः ॥३२॥

पंचस्रोतोविनिर्भिन्नं शृण्वन्ति हि यदा प्रिये ।
तदा सर्वे विद्रवन्ति पलायन्ते दिशो दश ॥३३॥

एते च मदाज्ञात एव—

निदानैर्बहुभिर्देवि जिघांसन्ति नरान् पशून् ।

निदानानि दर्शयति—

दुराचारं दुरात्मानमशुचिं पुरुषाधमम् ॥३४॥
मातापित्रोरसंमानात्तथाध्ययनवर्जनात् ।
अतिस्त्रीगमनाच्चैव क्षीवत्वाच्च विशेषतः ॥३५॥
अकाले मैथुनान्मोहभयात् संभ्रमणात्तथा ।

गृह्णन्ति ग्रहा इति भाविना संवन्धः । दुराचारं त्यक्तसमाचारम् । दुरात्मानं परद्रोहनिरतम् । अशुचिं चित्तवित्तशरीरशुद्धिशून्यम् । अध्ययनवर्जनमध्ययनेऽधिकृतस्य तत्त्यागः । मोहेनाज्ञानेन जनितं भयम् । छायादिकृतस्त्रासः संभ्रमणमसंभ्रमविषये संभ्रमग्रहणम् ॥

तथाऽधिकारस्था अपि—

सन्ध्याविवर्जिता ये च सन्ध्यामैथुनसेवकाः ॥३६॥
भोजनाध्ययनं निद्रां सन्ध्यायां ये च कुर्वते ।
अकामिनीः कामयन्ते गुरुदारांश्च ये प्रिये ॥३७॥
प्रध्वंसयन्ति बलिनो बलाच्चैवान्ययोषितः ।
तथान्येऽसत्यवक्तारः प्रभुद्रोहकृतोऽशुभाः ॥३८॥
अनुक्तैः पापचरितैर्ये नरा संयुतास्तथा ।
एतैरन्यैर्निदानैश्च गृह्णते मानुषान् ग्रहाः ॥३९॥

अकामिनीरनुत्पन्नाभिलाषाः । असत्यं ताच्छील्येन वदन्तः । अनुक्तैरिति ब्रह्महननादिभिः, अन्यैरिति मित्रद्रोहादिभिः ॥४६॥

स्त्रियश्चैव तु दौःशील्यादशौचाभक्ष्यभक्षणात् ।
तथोभय गुरुद्वेषाद्भर्तरि व्यभिचारतः ॥४०॥
अन्यैरनुक्तैर्दोषैश्च दूषिता मुद्रयन्ति ते ।

उभयगुरवः श्वशुरादयोऽनुग्राहकाश्च । अन्यैरिति निक्षेपहरणादिभिः । त इति ग्रहाः ॥

तथा—

रुदतां चापि बालानां रात्रौ जागरणात्तथा ॥४१॥
उन्मत्तविद्रुता भीतास्त्रस्ता दोषैश्च दूषिताः ।
रुदत्यः क्रोशमानाश्च मुक्तकेशाश्च दारुणाः ॥४२॥
दुष्टपुक्कसचण्डालस्पर्शेनैव तु दूषिताः ।
शवस्पर्शात्तद्गमनात्तत्रस्थस्पर्शनात्तथा ॥४३॥

तद्दुष्टसाहचर्याच्च तद्वार्तानुगमात्तथा ।
अशौचाद्यैस्तथानेकैर्दुःस्पर्शैश्चापि दूषिताः ।।४४।।

दोषैर्दूषिता दौर्भाग्याद्युपहताः । दारुणा हिंसैकासक्ताः । तत्रस्थं शवकुसुमादि, तस्य स्पर्शनात् । तत्र शवसंवन्धिनो ये दुष्टास्तद्वाद्यवादनाधिकृतस्तैः साहचर्यात् । तद्वार्ता शववार्ता, तया अनुगमः संबन्धः ।।४४।।

तत एवमादिदोषैर्दूषिता यथासंभवं स्त्रियः पुरुषा वा ये केचित् तेषां मध्यात्—

दुष्टा स्त्री पुरुषो वाथ स्नात्वा च्छायां प्रपातयेत् ।
बालानां भूपतीनां च तत्पत्नीनां तपस्विनाम् ।।४५।।

तदा तेनैव—

छायाच्छिद्रेण भूताश्च मातरो बलवत्तराः ।
दृष्टिपातं प्रकुर्वन्ति लब्धच्छिद्रा हि हिंसकाः ।।४६।।

लब्धच्छिद्रा हीत्यर्थान्तरन्यासः ।।४६।।

किं च—

रोद्रां दृष्टिं पातयन्ति बालानां च जिघांसया ।
पापिष्ठाश्च दुराचारा भूतैर्ग्रस्ता ज्वरादिभिः ।।४७।।
तथोन्मत्ता दुष्टचित्ताः पापाचाराः सुदुःखिता ।
बुभुक्षिता मत्सराश्च शत्रवो धैर्यगर्विताः ।।४८।।
एते चान्ये च बहवो दृष्टिं संपात्य भीषणाम् ।
पश्यन्ति यदि बालानां पूर्वोक्तानां च सर्वशः ।।४९।।
दृष्टिपातं ततो जातं ज्ञात्वा श्रेयः समाचरेत् ।
तत्क्षणं न विलम्बेत स्वल्पेनैव कृतेन हि ।।५०।।
बाधन्ते नैव दुष्टानि उषित्वा बाधयन्ति ते ।

पापिष्ठा निषिद्धकर्मरताः । दुराचारा अविनयप्रधानाः । तथेति पूर्वत्र योज्यम् । दुष्टचित्ताः क्रोधनादिस्वरूपाः । पापाचाराः शौण्डिकधीवराद्याः । कृतेनेति शान्तिकादिना । उषित्वेति व्यवस्थितिं लब्ध्वा ।।

यत एवम्—

न विलम्बस्तदा कार्यः सद्य एव समाचरेत् ।।५१।।

तदेति तत इत्यर्थः । समाचरेदिति प्रतीकारम् ।।५१।।

तत्र—

सर्वौषधैः सुप्रशस्तैर्बहुभिर्मङ्गलान्वितैः ।
पञ्चगव्येन वा तत्र मन्त्रयुक्तेन कारयेत् ॥५२॥
स्नानं सौभाग्यजननं सर्वदोषभयापहम् ।

औषधैः सहदेवीबलामोटिकवीराद्यौषधिभिः । कारयेदिति साध्यम् ॥

किं च, दुष्टच्छायावताम्—

आचार्यो मन्त्रकलशं पूर्ववद्विधिचोदितम् ॥५३॥
ददाति सद्यो बालानां पूर्वोक्तानां च सर्वशः ।

प्रागुक्तप्रक्रियया जप्तम्, पूर्वोक्तानां चेति राजादीनाम्, ददात्यभिषेकाय शिरस्यावर्जयति ॥

तदा—

सद्यःश्रेयस्करं पुण्यं शान्तिदं पुष्टिदं ध्रुवम् ॥५४॥

भवेदिति शेषः ॥५४॥

यदा ह्यनन्तास्तत्रस्था मातरः संनिधानतः ।
जिघांसन्ति तदा सद्यो महामातृः प्रपूजयेत् ॥५५॥

तत्रस्थाः शास्त्रेषु दृष्टाः । मातरो ब्राह्म्याद्यंशकोद्भूताः । महामातृस्तत्स्वामिनीर्ब्राह्म्याद्याः । तथा च श्रीतन्त्रसद्भावे—

'शाकिनी दूषिका चैव चुम्बिका पत्रलेखिका ।
उच्छुष्मा नक्रदूषी च ऊर्ध्वनिःश्वासिका तथा ॥
अधोनिःश्वासिका चैव आसां कर्म शृणु प्रिये ।
शाकिन्यश्चोत्तमास्तासां शेषा घोरतराः स्मृताः ॥
अजस्रं दूषते या तु रक्तं वै सार्ववर्णिकम् ।
गच्छन्ती वाथ तिष्ठन्ती तेन सा दूषिका स्मृता ॥
पुत्रमित्रपितृभ्रातृबालानास्वादयन्ति च ।
चुम्बन्त्यश्चान्नमश्नन्ति विज्ञेयाश्चुम्बिकास्तु ताः ॥
पत्रेण मुखमासाद्य पिबन्ती चामृतं सदा ।
पत्रलेखी स्मृता सा तु दुर्निवारा महाबला ॥
रात्रौ भूत्वा विवस्त्रा या मूत्रयित्वा प्रदक्षिणम् ।
कृत्वा तु प्राशयेद्रक्तं मुक्तकेशी तु कर्षयेत् ॥
उच्छुष्मिका तु सा ज्ञेया साधकैर्वीरनायिका ।
नासाग्रं वीक्षमाणा तु स्वादयन्त्यमृतं सदा ॥

नक्रदूषी तु सा ज्ञेया ऊर्ध्वनिःश्वासिका तु सा ।
नग्ना भूत्वा तु गच्छेद्या रात्रौ परगृहं सदा ॥
वस्त्रेणाच्छाद्य वक्त्रं तु भूत्वा चैवमधोमुखी ।
पिबते शोणितं नित्यमधोनिःश्वासिका तु सा ॥'

इति । शाकिनीभ्यो भिन्ना दूषिकाद्याः सप्त मातरो लक्षिताः, तत्रैव तासां ब्राह्म्याद्यंशोद्भूतत्वम्—

'अधःश्वासा तु ब्राह्म्यंशा नक्रदूषी महेश्वरी ।
दूषिका तु विशाख्यंशा वैष्णव्यंशा तु पार्वति ॥
पत्रलेखी समाख्याता चामुण्डांशा तु चुम्बिका ।
ऊर्ध्वनिःश्वासिका ज्ञेया माहेन्द्र्यंशा वरानने ॥
वाराह्यंशा तथोच्छुष्मा कथिता वीरवन्दिते ।'

इत्युक्तम् । एताश्चानन्ता इति तत्रैव दर्शितम्—

'चुम्बिकायास्त्रयो भेदाः'

इत्यादिना ग्रन्थेन ॥५५॥

पूज्या मातृरुद्दिशति—

ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्तमातरः ॥५६॥
एतास्तु मातरः सप्त पूजयित्वा शिवं भवेत् ।

श्रेयः प्राप्नुयात् । 'भू प्राप्तौ' इत्यस्य तिङ्व्यत्ययाद् भवेच्छब्दः ॥

युक्तं चैतदित्याह—

समस्तमातृचक्रस्य योनयस्ताः प्रकीर्तिताः ॥५७॥
ताभिः पूजितमात्राभिरुपहारैः पृथग्विधैः ।
कृत्स्नो मातृसमूहस्तु तुष्टो भवति तत्क्षणात् ॥५८॥

अतश्च—

प्रधानाः सर्वमातृणामेताः सप्त प्रकीर्तिताः ।
सितरक्तपीतकृष्णैः पुष्पैर्नानाविधैस्तथा ॥५९॥
पायसैः कृसरैर्मत्स्यैर्लेह्यैः पेयैरशेषतः ।
चतुर्विधेन मांसेन घस्मरैर्बलिभिस्तथा ॥६०॥
पूजयित्वा तु बालानां सद्यः श्रेयो भविष्यति ।

कृसरैस्तण्डुलसस्यमिश्रैर्भोज्यैः । चतुर्विधेनेत्यानूपजाङ्गलाम्भसनाभसभेदात् ॥

यत एव च—

तस्मात् प्रधानयागेन गुणभूतास्तु देवताः ॥६१॥
तृप्ता भवन्ति सर्वत्र

एवंकृते सति साध्यः—

सद्यः श्रेयो ह्यवाप्नुयात्।

किं च—

त्रिंशत्कोटी सहस्राणां स्वाङ्गुष्ठान्निर्मिता मया ॥६२॥
विनायकानां घोराणामग्निज्वलिततेजसाम्।
यदि तैर्विघ्नितः कश्चिदभिभूतो भवेन्नरः ॥६३॥
तत्राधिदैवतं पूज्यो विघ्नेशस्तु विनायकः।

विनायकगृहीतस्य लक्षणम्—

'हुङ्कारं मुञ्चते यस्तु पादपांसुं तथैव च।
यस्तु च्छन्दयते नित्यं दन्तान् कटकटायते ॥
विनायकगृहीतस्य ह्येतद्भवति लक्षणम्।'

इति श्रीक्रियाकालगुणोत्तरे दर्शितम् ॥

तं च—

अन्यतन्त्रोपचारेण ध्यानयोगेन पूजयेत् ॥६४॥
मोदकैर्विविधैश्चित्रैर्बलिभिर्घस्मरैस्तथा।
भूरिमद्यैस्तथा मांसैः रक्तपुष्पविलेपनैः ॥६५॥

अन्यतन्त्रे अन्यशास्त्रे उपचारो व्यवहारो यस्य ध्यानयोगस्य तेन तेन मन्त्रेणात्रत्येनैव ॥६५॥

यत्र च यादृशा देवताविशेषाः पूज्याः, तत्र तेषाम्—

सर्वेषामेव वासांसि स्वरूपाणि प्रदापयेत्।
हेमरत्नानि धातूंश्च दीपांश्चैव प्रदापयेत् ॥६६॥
स्वेन स्वेनैव रूपेण सर्वं सर्वेषु दापयेत्।

इत्थंकृते सति—

विघ्नैः प्रमुच्यते साध्यस्तत्क्षणान्नात्र संशयः ॥६७॥

किं च—

यदि भूतग्रहैर्घोरैर्मुद्रितो बलिभिर्नरः।
तदा भूतेश्वरो याज्यः पूर्वोक्तेन विधानतः ॥६८॥

श्रीतोतुले—

भूतश्चोत्तिष्ठते वेगाद्बलवान् बहुमुक्तथा ।'

इत्यादिना भूतगृहीतो लक्षितः । ग्रहोऽपि तत्रैव—

'बलिकामो भोक्तुकामो हन्तुकामस्तथैव च ।
ग्रहश्च पतितो देवि मानुषांश्चाप्यमानुषान् ॥
करोति विविधान् भावान्............... ।'

इति । पूर्वोक्तेन विधानत इति मन्त्रवीर्यस्फारानुप्रवेशादिना बहुना च बल्यादिना संभारेणेत्यर्थः ॥

किं च—

राक्षसैर्विविधैर्येऽत्र प्राणिनो भाविता ध्रुवम् ।
इष्ट्वा रक्षोधिपं श्रेयः सर्वे तत्र समाप्नुयुः ॥६९॥

भाविता गृहीताः । ते च—

'निशां प्रधावते सर्वमिकैकं तु निरीक्षते ।
पिबते च सुरां भूयः स्वमांसं भक्षयत्यपि ॥
शून्यग्रामनिवासी च ताम्रवर्णस्तथा भवेत् ।
रक्षोग्रहगृहीतस्य एतद्भवति लक्षणम् ।

इति क्रियाकालगुणोत्तरे लक्षिताः । रक्षोधिपो निर्ऋतिः ॥६९॥

किं च—

यदा यक्षैरसंख्यातैरभिभूतो भवेन्नरः ।
तदा वैश्रवणं शीघ्रमिष्ट्वा मोक्षमवाप्नुयात् ॥७०॥

यक्षगृहीतानां च लक्षणं तोतुल एव दर्शितम्—

'यक्षेण तु गृहीतस्य अट्टहासादि लक्षणम् ।'

इति, तथा—

'अतिरौद्रा भवेद्दृष्टिरकस्माच्च प्रधावति ।
भोजनं चैव भुञ्जानो देवं पूजयते सदा ॥
मद्यमांसप्रियश्चैव रुधिरं ग्रसते बहु ।
यक्षग्रहगृहीतस्य एतद्भवति लक्षणम् ॥'

इति ॥७०॥

किं च—

अष्टयोन्यो यदा देव्यो विरुद्धा यत्र कुत्रचित् ।
तदा तु भैरवं यागं कृत्वा श्रेयः समाप्नुयात् ॥७१॥

अष्टयोन्यः पैशाचद्यष्टविकल्पाः देवयोनिभेदा देव्य इति—

'तत्त्वरूपास्तु योगिन्यो ज्ञातव्याश्च वरानने ।
शिवेच्छानुविधायिन्यो मनोवेगा महाबलाः ॥
विचरन्ति समस्ताश्च ब्रह्मविष्ण्विन्द्रभूमिषु ।
अपराः कुलसंभूता योनिजाः कुलजाः प्रिये ॥
पीठजाः क्षेत्रजाश्चैव शरीरे तु विशेषतः ।

इति, तथा—

'पीठजाः योगिन्यो ज्ञेयाः क्षेत्रजा देवताः स्मृताः ।
योनिजा रूपिणी प्रोक्ता तासां भेदा ह्यनेकधा ॥

इति, तथा—

'ब्राह्मणक्षत्रविट्शूद्रकुलजाश्चैव नायिकाः ।
सप्तविंशतिभिर्वर्षैरूर्ध्वं जानन्ति तत्पदम् ॥
कुलेऽन्यत्र समुद्भूताः शाकिन्यो रुद्रमातरः ।'

इति, कथा—

'शाकिन्यो रुद्रशाकिन्यश्चान्याः शावरिकाः शिवाः ।
योगिन्यश्चापरास्तासां यद्व्याप्तमखिलं जगत् ॥
छलेनाकृष्य पिबति क्षुद्रा प्राणिपयः सदा ।
रूपपरिवर्तनार्थं लब्ध्वा पातयति पशून् ॥
शाकिनी सा तु विज्ञेया रौद्रस्थानरता सदा ।
परचित्तगतिज्ञा च रूपस्य परिवर्तनम् ।
करोत्यमृतलुब्धा च ज्ञेया सा रुद्रशाकिनी ।
शैव्यश्चैवंविधा ज्ञेया गुप्ताचारा वनेरताः ॥
न घातयत्यसौ सर्वाङ्गिच्छद्रेणास्वादयेदसृक् ।
शाबर्यस्त्वपरा ज्ञेया मन्त्रतद्गतचेतसः ॥
पञ्चामृतं समस्तं हि मानुषं च हरन्ति ताः ।
पर्यटन्ति क्षणात् पृथ्वीं रूपं कुर्वन्त्यनेकधा ॥
अपरा योगसामर्थ्यात् त्रिकालपरिवेदिकाः ।
शिवास्तु याः समाख्याता मन्त्रध्यानपरायणाः ॥
तथाष्टगुणसंपन्नाः पर्यन्तपदवेदिकाः ।'

इत्यादिग्रन्थेन श्रीतन्त्रसद्भावे नानाविधा निरूपिताः । भैरव इति तस्य सर्वशक्तिचक्रेश्वरत्वात् ॥

अत्र भैरवीये यागे—

अन्तर्बलिः प्रदातव्यः सर्वेषां भूरिघस्मरैः ।
तथा बाह्ये बलिः क्षेत्रे दातव्यः श्रेय इच्छता ॥७२॥
अरण्यके बलिश्चान्यो महिषाद्यैस्तथाजकैः ।

अन्तर्बलिर्नैवेद्यम् । बहिः क्षेत्रपालबलिः । अरण्ये भूतबलिर्महिषच्छागबर्कराद्यैः ।

किं च, अत्र माषौदनमत्स्यादिद्रव्यैः—

विविधैस्तु बलिं कुर्यात्

तं च—

सर्वेभ्यस्तु प्रदापयेत् ॥७३॥

देवतायोगिनीभूतादिभ्यः ॥७३॥

स चायम्—

नदीतीरे श्मशाने वा ह्यटव्यां मातृमण्डले ।
प्रातर्मध्याह्नकाले च सायं चैवार्धरात्रतः ॥७४॥
बलिस्तेभ्यः प्रदातव्यस्तेन तृप्ता भवन्ति ते ।

सदा च—

उदकं ह्यन्नमिश्रं च भूरि तेभ्यः प्रदापयेत् ॥७५॥
तेन तृप्तास्तु ते सर्वे सर्वश्रेयःफलप्रदाः ।
भवन्त्यवितथं भद्रे मातृवत् पालयन्ति च ॥७६॥

बलिं निर्वक्ति—

स्मृतिभोजो जयं वृद्धि वपुरापुर्यशः सुखम् ।
नष्टं बलेन सर्वेभ्यो दद्यात्तेन बलिः स्मृतः ॥७७॥

एतच्च बलिदानान्तं कर्म—

एवं मृत्युजिता सर्वं कर्तव्यं सर्वसिद्धिदम् ।

किं च—

स्कन्दग्रहगृहीतानां बालानां पीडितात्मनाम् ॥७८॥
रतिग्रहैस्तथा नार्यो ह्यभिभूताः क्वचिद्यदा ।
कार्तिकेयस्तदा याज्यः पूर्वोक्तविधिना ध्रुवम् ॥७९॥

बालग्रहलक्षणम्—

'तदङ्के रमते नित्यं बालानां च प्रसङ्गतः ।
कुमारो नृत्यते चैव पांसुना क्रीडते सदा ॥'

इति तत्रैवोक्तम् । पूर्वोक्तविधिरिह मन्त्रेण अर्चाहोमादि ॥७९॥

एवं कृते हि—

क्षिप्रं ताश्च प्रमुञ्चन्ति स्कन्दाद्या ये शिशुग्रहाः ।

चकारात्तेऽपि नारीरतिग्रहाः ॥

एवं विशेषत उक्त्वा सामान्येनाप्याह—

यस्मिन् कुले यदंशेन मुद्रितः कीलितः क्वचित् ॥८०॥
तत्कुलेनैव चेष्टेन सर्वदोषैः प्रमुच्यते ।

यद्यद्देवतांशकोद्भूतेन योगिनीभूतग्रहादिना मुद्रितो यो ग्रस्यमानबलः कीलितो वा······ग्रामा···धिष्ठाय स्थापितः, तस्य तत्तद्देवतायागादेव श्रेयः । तत्तद्देवाद्यंशकोद्भूतग्रहगृहीतानां च लक्षणं क्रियाकालगुणोत्तरे दर्शितम्—

'न कुप्यति न हृष्येच्च भोजनं नाभिकाङ्क्षति ।
न वाचालपते किंचिन्निद्रा नास्योपजायते ॥
न च मूत्रपुरीषं च नाशुचिस्तस्य जायते ।
पद्मपत्रनिभाकारं मुखं तस्योपजायते ॥
देवगृहगृहीतस्य एतद्भवति लक्षणम् ।
गायते नृत्यते हृष्टो मुखवाद्यं करोति च ॥
गन्धमाल्यरतो नित्यं क्षीरभोजन एव च ।
सततं प्रियशीलश्च अरतिं नैव गच्छति ।
गन्धर्वेण गृहीतस्य एतद्भवती लक्षणम् ॥
गन्धपुष्परतो नित्यं क्षीरभोजन एव च ।
रक्तनेत्रो ह्यधोदृष्टिर्नदीषु नाभिषिञ्चते ॥
जलं चासौ वगाहेत पर्वते रमते सदा ।
जिह्वां लालयते चैव दशनांश्च निपीडयेत् ॥
नागग्रहगृहीतस्य एतद्भवति लक्षणम् ।
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा रुद्रोऽहमिति भाषते ॥
अहं स्कन्दो विशाखश्च नास्ति तत्सदृशो भुवि ।
कदाचिद्भोजनं भुङ्क्ते नैव भुङ्क्ते कदाचन ॥

अपमन्येत देवांश्च ब्राह्मणांश्चापमन्यते ।
असुरेण गृहीतस्य एतद्भवति लक्षणम् ॥
तपःस्वाध्यायसंयुक्तो ब्राह्मणानुग्रहे स्थितः ।
कृतशौचो भवेन्नित्यमशौचं नैव तिष्ठति ॥
अपशब्दं च गृह्णाति पठत्यपि समं द्विजैः ।
गायते सामवेदं च ऋग्वेदं चाप्युदाहरेत् ॥
वेदार्थेषु च सर्वेषु श्रुतिं नित्यमुदाहरेत् ।
वैद्यमेवं तु जानाति हसन्नेव च धावति ।
ब्रह्मरक्षोगृहीतस्य एतद्भवति लक्षणम् ॥'

इति । एवं लक्षणतो देवादिग्रहगृहीतान् निश्चित्य इह मन्त्रेण देवराज-गन्धर्वराजादिपूजा कर्तव्या ॥

यत एवम्—

तदर्थेन मया सर्वं रहस्यं प्रकटीकृतम् ॥८१॥
अस्मिंस्तन्त्रे तु सर्वेषाममृतं च विधानतः ।

सर्वेषामेव तत्तद्देवतानां यद् रहस्यं परमाद्वैतमपि तन्मन्त्रवीर्यमयम्, तदत्रा-मृतं च मन्त्रनाथरूपं विधानेन मया स्फुटीकृतम् ॥

तदित्थम्—

सर्वतन्त्रेषु सामान्यो मृत्युजित् प्रकटीकृतः ॥८२॥
सर्वेषां हृदयं गुह्यमप्रकाश्यं महाद्भुतम्

उक्तनीत्यैवास्य हृदयादिरूपत्वम् ॥

एतच्च पराद्वैतप्रथानुन्मेषात्—

न केनचिदहं पृष्टः

अतश्च—

नाख्यातं कस्यचिन्मया ॥८३॥

रहस्यं

रहस्यत्वे हेतुमाह—

संप्रदायश्च सर्वश्रेयःसुखावहः ।

अयमिति, अर्थात् । चो ह्यर्थे ॥

यत एवम्, अतः—

साधकास्तु प्रसन्ना ये भक्ता ह्याराधयन्ति च ॥८४॥

सर्वदुःखविमुक्तास्ते सत्यं मे नानृतं वचः ।

सर्वैरेव समय्यादिभिः—

अनेनैवात्मनः कार्यं सर्वदुःखनिवारणम् ॥८५॥

आचार्यस्तु—

भक्तानां स्वसुतानां च स्वदाराणां च कारयेत् ।
स्वशिष्याणां च भक्तानां नान्यथा तु प्रयोजयेत् ॥८६॥

लौकिकस्नेहलोभावुत्सृज्य भक्तानामेवंविधं कुर्यात् पुत्रकादिभिर्वा, भक्तः स्वदारादिविषये आचार्यं कारयेदनेनैवेत्येवकारः सत्स्वप्यन्येषु मन्त्रेष्वस्य मन्त्रेश्वरस्य माहात्म्यं वक्ति ॥

किं च, अयं विधिः—

सर्वाश्रमगुरुत्वाच्च भूपतीनां च सर्वदा ।
तत्सुतानां च पत्नीनां कर्तव्यो हितमिच्छता ॥८७॥

सर्वाश्रमगुरुत्वं यथाशास्त्रं प्रजापालकता ॥

इमं च महामन्त्रयोगम्—

नित्ये नैमित्तिके काम्ये शान्त्यर्थं कारयेत् सदा ।

किं च—

मुखे प्रक्षालिते नित्यं तिलकः श्वेतभस्मना ॥८८॥
सप्ताभिमन्त्रितः कार्यो मातृदोषनिवृत्तये ।

किं च—

समालम्भनपुष्पं वा ताम्बूलेनाभिमन्त्रितम् ॥८९॥
दीयते यस्य तस्यैव न हिंसन्तीह हिंसकाः ।

नैव हिंसन्तीत्यर्थः ।

किं च—

भोजनं चाभिमन्त्रेत मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् ॥९०॥
उभयोः पार्श्वयोर्मध्ये भुञ्जानोऽमृतमश्नुते ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तस्तिष्ठते नृपतिः क्षितौ ॥९१॥

एवमिति स्रवत्परामृतचिद्धर्मस्फुरत्तात्मनाऽनेन मन्त्रेण प्रोक्तदृशा संपुटीकारयुक्त्या ध्यातोऽभिमन्त्रितश्चन्द्रद्वयमध्यस्थितं भोजनं भुञ्जानोऽमृतमश्नुतेऽमृतत्वमेतिः नृपतिः नृपतिरित्युपलक्षणम् ।

तस्य च—

अथ क्रीडनकालेषु गजाश्वसहितस्य च ।
अस्त्रक्रीडासु सर्वासु रक्षार्थं कलशं यजेत् ॥९२॥
क्रीडार्थं विजयार्थं च रक्षार्थं हिंसकादिषु ।

क्रीडाकालेषु दाहकेल्यादिक्रीडावसरेषु क्रीडार्थं निर्विघ्नक्रीडासंपत्त्यै गजाश्वसहितस्य चकारादमात्यराष्ट्रादियुक्तस्य विजयार्थं संग्रामाद्यवसरेषु सर्वासु शस्त्रक्रीडासु रक्षार्थं शस्त्रक्षतादिदोषशान्तये हिंसकादिविषये रक्षार्थमनेन मन्त्रेण कलशं यजेत् ॥

यस्माद्दुष्टाश्च बहवो जिघांसन्ति नृपादिकम् ॥९३॥
तस्माद्रक्षा प्रकर्तव्या

उक्तकलशार्चारूपा ॥

सर्वप्रजानुकूलनृपतिरक्षणेनैवं रक्षा—

सर्वश्रेयस्करी शुभा ।

भवेत् ॥

एवं क्रीडाद्यवसरेषु शिरोरक्षितस्य

ततः सुप्तस्य नृपते रक्षार्थं कलशं यजेत् ॥९४॥
रौप्यं चौषधिसंयुक्तं चन्दनागुरुलेपितम् ।
क्षीरेण चाम्भसा पूर्णं

तत्रार्चिते कलशे—

यजेन्मृत्युजितं परम् ॥९५॥
सर्वश्वेतोपचारेण पुष्पधूपार्घपायसैः ।

इत्थं भगवत्यर्चिते—

अग्रे स्थिता महानिद्रा जगत्संमोहकारिणी ॥९६॥
सुखार्थं नृपते रात्रौ जीर्णार्थं भोजनादिके ।
आरब्धा देवदेवेन आज्ञां दत्त्वेति भावयेत् ॥९७॥

देवेन आज्ञां दत्त्वा नृपते रात्रावग्रे स्थिता निद्रा सुखार्थं भोजनादिजीर्णतार्थं च आरब्धा प्रवर्ततेति भावयेत् ।

एवं कृते नृपतिः—

ततो रात्रिं समग्रां तु तिष्ठेद्वै निद्रया सह ।

किं च

यक्षरक्षःपिशाचाद्यैर्दुःस्वप्नैर्मातृसंभवैः ॥९८॥
भयैस्तन्त्रासदुःखैस्तु मुक्तस्तिष्ठेद्यथासुखम् ।

किं च दिग्गतेषु—

लोकपालेषु सास्त्रेषु रक्षार्थं नृपसंनिधौ ॥९९॥

पूजनं चार्घपुष्पाद्यैः कलशे पूजिते सति ।

कर्तव्यम् ॥

अतश्च कस्यचिद् शक्तिपातपूतस्य नृपतेः—

यस्यैवं सततं कुर्याज्ज्ञानवान् देशिकोत्तमः ॥१००॥

कलशाद्यर्चाम् ।

असौ—

पूर्वोक्तं समवाप्नोति

भुक्तिमुक्त्यादि ॥

न चैतदसंभाव्यम्, यतः—

प्राहेति भगवाञ्छिवः ।

किं च—

निमित्तेषु च सर्वेषु अमृतेशं यजेत च ॥१०१॥

कामरूपं सदा

तत्तन्नैमित्तिकदेवताकारकममृतेशमिति ॥

यस्मात् सर्वकामानवाप्नुयात् ।

चिन्तामणिकल्पत्वादस्येत्युक्तत्वात् ॥

निमित्तेष्वित्युक्तिं लेशतः स्फुटयति—

प्रजानां रक्षणार्थाय शालीनां चापि संपदे ॥१०२॥

सुतपत्नीषु रक्षार्थमात्मनो राष्ट्रवृद्धये ।

इन्द्ररूपं यजेत्तत्र विजयार्थं नृपस्य च ॥१०३॥

तत्रेति नैमित्तिके इन्द्रदिने । आत्मनो नृपस्य विजयार्थमिति संगतिः ॥१०३॥

किं च—

गोब्राह्मणेषु रक्षार्थमात्मनः स्वजनेषु च ।

महानवम्यां पूज्येत भूरियागेन वेश्मनि ॥१०४॥

तथा सति हि—

पूर्वोक्तं समवाप्नोति आयुरारोग्यसंपदम् ।

किं च—

अस्त्रयागः प्रकर्तव्यः प्रयत्नात् सिद्धिहेतवे ॥१०५॥

महानवम्यामेव ॥१०५॥

एवं हि यष्टा—

अस्त्रसिद्धिमवाप्नोति

दिव्यान्यस्त्राणि मन्त्रप्रभवात् संपादयति ।

राजादिश्च विजयमाप्नोतीत्याह—

प्रयोक्ता फलमश्नुते ।

प्रयोक्ता पूर्वोक्तयाजयिता ॥

किं च—

यदा मृत्युवशाघ्रातः कालेन कलितो नृपः ॥१०६॥
अरिष्टचिह्नितात्मा वै देशो वा तत्सुतादयः ।
ब्राह्मणादिषु सर्वेषु नाशे जनपदस्य च ॥१०७॥
शाल्यादिषु च सस्येषु फलमूलोदकेषु च ।
दुर्भिक्षव्याधिकार्येषु उत्पातेषु महत्सु च ॥१०८॥
तदा नीराजनं कार्यं राज्ञो राष्ट्रविवृद्धये ।

सुतादय इत्यादिशब्दाद् राज्ञ उत्पातान्तेषु सत्सु यदा ब्राह्मणादिषु नाशस्तदा नीरेण अभिषेकवारिणा, अजनं सर्वदोषाणां निवारणार्थं क्षेपणः निःशेषेण राजनं दीप्तिमत्तोत्पादनं कार्यम् ॥

तद् वक्तुमुपक्रमते—

पूर्ववद्यजनं कृत्वा कलशेनाभिषेचयेत् ॥१०९॥

कथमित्याह—

निःशंको निर्जने रात्रौ शुभर्क्षे च तथांशके ।
जयपुण्याहशब्दैश्च वेदमङ्गलनिःस्वनैः ॥११०॥
अभिषिञ्चेत्तु राजानं

निर्जन इति गुप्तस्थाने ॥

अथ चाचार्यः—

सिद्धार्थान् जुहुयाद्बहून् ।
नीराजनविधानेन नामाङ्के संस्कृते प्रिये ॥१११॥
वह्नौ संरुद्धमनसा अजांश्च प्रोक्षयेद्बहून् ।
तृप्त्यर्थं भूतसङ्घस्य मन्त्री रक्षार्थमुद्यतः ॥११२॥

नीराजनमसामान्यदीप्त्युत्पादनं मूलमन्त्रप्रयोगपूर्वकम् । 'अमुकस्य नीराजनमस्तु स्वाहा' इत्यत्र प्रयोगः भूतानि च संघश्चेति समासः, संघो मातृयोगिन्यादिगणः ॥११२॥

एवं बल्यन्तं कर्म बहिष्कृत्वा—

शाकुनोक्त्यांशगत्या वा विज्ञाय शकुनं हितम् ।
यक्षेन्द्रशिवावारुण्या निर्यातः सर्वसिद्धिदः ॥११३॥

ज्योतिर्गणोक्त्या स्वयं शुभांशकज्ञानाद् वा शकुनं माङ्गल्यवसरं ज्ञात्वा यक्षेश्वराद्यधिष्ठितोत्तरपूर्वेशानपश्चिमदिग्भ्योऽन्यतमया दिशा विजयाभिमुखेन राज्ञा सह निर्यात् आचार्यः सर्वसिद्धिदो भवति ॥११३॥

नीराजनानन्तरं राज्ञः—

अथ पूर्वोक्तविधिना गृहे यागं तु कारयेत् ।
यावत् सप्ताह्निकं देवि भूरिहोमेन सिद्धिदिम् ॥११४॥

भूरिहोमेनेति सहार्थे तृतीया ॥११४॥

यदर्थं चैवमिज्यते—

अस्याचला महालक्ष्मी राज्यं वा यदभीप्सितम् ।

तत् भवति ॥

स च—

भौमान्तरिक्षसिद्धीश्च प्राप्नुयान्नृपतिः सुखी ॥११५॥

यदा—

तदा नीराजनं ख्यातं सर्वश्रेयस्करं परम् ।

किं चैतत् सर्वम्—

पूर्वोक्तान्नाशयेद्दोषान् देवि नास्त्यत्र संशयः ।११६॥

इमं च मन्त्रनाथम्—

गोषु मध्ये यजेद्यस्मात् सदा वर्धेत गोकुलम् ।

तत्र च—

सिन्दूरं गैरिकं वापि अभिमन्त्र्यैव मन्त्रवित् ॥११७॥
योजयेद् गोषु रक्षार्थं शृङ्गोर्ध्वे सर्वदोषजित् ।

किं च—

अश्वानामपि रक्षार्थं पूर्वोक्तविधिना यजेत् ॥११८॥

तत्र च—

अभिमन्त्र्यैव कलशं मूर्ध्नि तेषां प्रपातयेत् ।
सिद्धार्थो मन्त्रजप्तस्तु कण्ठे कार्योऽथ मूर्धनि ॥११९॥

एवमेव च—

सर्वदोषविनिर्मुक्तान् गजांश्चैव तु रक्षति ।

सिद्धार्थो मन्त्रितः ॥

किं च—

अजादिषु पशुष्वेवं रक्षां सर्वेषु कारयेत् ॥१२०॥

सर्वप्राणिषु रक्षार्थं योक्तव्यो नृपतेः सदा ।

नृपतेः संबन्धिषु सर्वप्राणिष्विति संबन्धः ॥

एवं हि—

महाशान्तिर्भवेत्तेषां दुर्भिक्षं नश्यति क्षणात् ॥१२१॥

किं च—

महाभयेषु सर्वेषु भूकम्पोल्कानिपातने ।
अतिवृष्टावनावृष्टौ मूषकादिभयेषु च ॥१२२॥
अकालोत्पन्नपुष्पादौ देवैर्नष्टैश्च खण्डितैः ।
ज्वरलूतादिदोषैश्च अपमृत्युभिरेव च ॥१२३॥
दुःखैर्नानाविधैश्चैव आघ्रातं मण्डलं यदि ।
कर्मदोषाश्च ये केचिद् ग्रहदोषास्तथागताः ॥१२४॥
तिरोभावस्तथोत्पन्नो मन्त्रच्छिद्रं तथागतम् ।
नागादिविषदोषाश्च कीटविस्फोटकादयः ॥१२५॥
वातपित्तविकाराश्च श्लेष्मदोषाश्च सर्वतः ।
अर्शांसि चक्षूरोगाश्च तथा विसर्पकादयः ॥१२६॥
व्याध्यन्तराणि दोषाश्च क्षतजाद्याः सहस्रशः ।
आभ्यन्तरा व्याधयश्च शोकाद्याश्चित्तनाशकाः ॥१२७॥
अभिशप्ताश्च देवाद्यै र्ब्राह्मणाद्या यदा जनाः ।
तदा तु पूर्ववद्यागः कर्तव्यः शान्तिहेतवे ॥१२८॥

नष्टैरित्यग्निदाहादितः । खण्डितैः स्फुटितैः । आघ्रातं मण्डलं यदीति संबन्धः । कर्मदोषा असत्कर्मजानि दुःखानि । तिरोभावो देवगुर्वपराधजं किल्विषम् । मन्त्रच्छिद्रमविहिताचारेण मन्त्राराधनजो दोषः । यथोक्तमन्यत्र—

'नान्यच्छिद्रं प्रपश्यामि मन्त्रिणो मन्त्रसाधने ।
यन्न तादृग्यथालिङ्गः केवलं विचलत्यसौ ॥'

इति । नागाः सर्पाः । कीटैरान्तरैः क्रिमिभिर्जनिता विस्फोटा कीटविस्फोटाः । क्षतजा व्रणोत्थाः । आभ्यन्तरा अन्तर्गडुप्रायाः ॥१२८॥

किं चास्य मन्त्रराजस्य—

प्रत्यहं हवनं कार्यं राज्ञां राष्ट्रविवृद्धये ।

आचार्येण ॥

एवं कृते राज्ञां—

सुखेन भुज्यते राज्यं नात्र कार्या विचारणा ॥१२९॥

यतः—

सकृत्पूजनमात्रेण नश्यन्ते हिंसकादयः ।
नष्टा दश दिशो यान्ति सिंहस्येव मृगादयः ॥१३०॥

किं चैतन्मन्त्रार्चादिः—

सतताभ्यासयोगेन दारिद्र्यं नश्यति कुलात् ।

किं च—

यस्मिन् देशे च काले च निवसेन्मन्त्रवित् सदा ॥१३१॥
ईतयो व्याधयश्चैव खार्खोदास्तस्य वा ग्रहाः ।
शाकिन्यो विविधा यक्षाः पिशाचा राक्षसास्तथा ॥१३२॥
बालग्रहाश्च विस्फोटा व्यन्तराश्चापराश्च ये ।
सर्वाणि विषजातानि दुर्भिक्षं ग्रहपीडनम् ॥१३३॥
सर्वं न प्रभवेत्तत्र मन्त्रवित्संनिधानतः ।

खार्खोदाः परप्रयुक्ता यन्त्राः । व्यन्तरा घनाः ॥

अत ईदृग् व आचार्यः—

स पूज्यः सर्वजन्तूनां भूपतीनां च सर्वदा ॥१३४॥

स हि—

दानपूजनसंमानैरसमैः पूज्यते यदि ।
तेन पूजितमात्रेण सर्वे मन्त्राश्च पूजिताः ॥१३५॥
भवन्ति सुखदास्तत्र तन्मुखांस्तांस्तु पूजयेत् ।

तत्रेति यत्राचार्यवर्यः पूज्यते ॥

यतश्च—

सर्वत्र च्छेदकर्तारो ग्रहाः हिंसन्ति साधकम् ॥१३६॥
तस्माद् ग्रहाणां दातव्यं सदैवोदकमोदनम् ।

उदकमोदनं चेत्यर्थः ॥

एवं हि—

इष्टा ग्रहा हि तृप्यन्ति तृप्ता न प्रभवन्ति हि ॥१३७॥

यदा च विषमा ग्रहाः—

तदा रक्षा तु कर्तव्या दैशिकेन महात्मना ।

अथ रक्षासतत्त्वनिर्णयाय श्रीदेवी उवाच—

रक्षा तु कथिता देव प्राणिनामनुकम्पया ॥१३८॥
कीदृशी प्रोच्यते सा तु कस्य वा क्रियते कथम् ।

स्वरूपविषयान् प्रकारविषयांश्च प्रश्नान् स्फुटयति—

व्यापकः पुरुषः प्रोक्तो ह्यमूर्तः सर्वदेहिनाम् ॥१३९॥
देही ब्राह्यान्तरस्थोऽसौ निर्गुणो ह्यशरीरवान् ।

यो देही पुरुषः स यस्मादमूर्तो वाह्यान्तरस्थो व्यापकः सत्त्वादिगुणवर्जितो वस्तुतोऽशरीरः ॥

ततः—

कथं तु क्रियते तस्य रक्षा कस्माच्च रक्ष्यते ॥१४०॥

नित्यव्यापकचिदेकतमूर्तेर्निष्कलस्यास्य हिंसारक्षाविषयत्वायोगात् ॥१४०॥

अथ न आत्मा रक्ष्यते, अपि तु देहः तत्राप्याह

शरीरं सकलं वाथ रक्षितव्यं कथं च तत् ।
पृथिव्यादिमहाभूतैर्निर्मितं चोदितं किल ॥१४१॥

सकलत्वाद्रक्षार्हमपि पृथिव्यादिभूतजत्वेनावश्यंभाविविनाशत्वेन नैतत् रक्षितुं शक्यमित्यर्थः ।

न च तृतीयः कश्चिद् रक्ष्योऽस्ति, कथं कुतः केन वाऽसौ रक्ष्यत इत्यादिश्यतामित्याह—

अन्यस्तृतीयो वा रक्ष्यः कस्मादेव कथं विभो ।
कस्माच्च रक्षणीया स्यात् केन वा वद शूलधृत् ॥१४२॥

कथं केन प्रकारेण, कस्माद् भयहेतोः, केन कारणेनेत्यत्रार्थः ॥१४२॥

एतत्सर्वमशेषेण का रक्षा भगवन् वद ।

एतदिति रक्षाया विषयप्रकाररूपम्, का च स्वरूपेण रक्षा भवेदित्यर्थः ॥

एतन्निर्णयाय श्रीभगवानुवाच—

श्रृणु देवि परं प्रश्नं न पृष्टोऽहं सुरासुरैः ॥१४३॥

गरुडाद्यैस्तथा शिष्यैर्बहुभिर्मुनिभिर्न च ।

पृच्छ्यत इति प्रश्नं प्रश्नीयं रक्षास्वरूपमहं न कैश्चिदपि पृष्टः । तदेतद् वस्तुश्रृणु, इत्यनेन देव्यास्तत्त्वज्ञता श्लाघ्यते ॥

यच्च त्वयैवं प्रश्ननार्थं वस्तु पृष्टः—

तदद्य ते प्रवक्ष्यामि श्रृणुष्वायतलोचने ॥१४४॥

तत्र रक्षास्वरूपं तावद् निर्णेतुमुपक्रमते—

व्यापकः पुरुषः सूक्ष्मो निर्गुणो निष्क्रियोऽचलः

अतश्च नासौ रक्षार्हः ॥

किन्त्वाणवस्तथा कार्मो मायीयस्त्रिविधो मलः ॥१४५॥

अस्यास्ति ॥१४५॥

ततश्च—

तत्संबन्धात् स मलिनो ह्यस्वतन्त्रोऽप्यशक्तिमान् ।

अविशुद्धो ह्यसौ तस्मान्मलत्रयनिरोधतः ॥१४६॥

यतो मलत्रयनिरोधादसावविशुद्धः, अत एव कलादिमलावृतत्वाद् मलिनः, कर्मवशत्वादस्वतन्त्रः, आणवमलवशादशक्तिमान् ज्ञत्वकर्तृत्वशून्यः ॥१४६॥

तत्र चिन्मयस्यास्य कथं मलयोग इत्याह—

निर्मलो वा कथं सक्तो भोगेषु

पूर्णचिदानन्दघनस्य विशुद्धस्य कथमशुद्धभोगाकांक्षा स्यादिति मायाशक्त्युल्लासितापूर्णंमन्यतात्मकाणवमलभाज एव 'किंचिन्मे स्यात्' इति रागतत्त्वात्माऽभिलाषो घटते ।

अन्यथाऽत्र—

एतद्विरुध्यते ।

निर्मलस्य भोगासक्तत्वात् ॥

एतत् स्फुटयति—

शुद्धो भोगी न सिद्ध्येत्तु

यतः—

विकल्पो भोग उच्यते ॥१४७॥

विकल्पमात्रः संसारः

शुद्धस्य चिदानन्दघनस्य च सुखदुःखप्रतिपत्त्यात्मा विकल्पपरमार्थो भोगः संसरणसतत्व उपपद्यते । यदुक्तमन्यत्र—

[1]'यद्यशुद्धिर्न पुंसोऽस्ति सक्तिर्भोगस्य किंकृता ।'

इति ॥

यतः संसरणसारो भोगः शुद्धस्य न युक्तः,

तेन—

पशोः संसरणं सदा ।
संसार्यस्य च बद्धस्य निर्मलत्वं न युज्यते ॥१४८॥

पशुरुक्ताणवमलेनाऽङ्गीकृतोऽणुः । संसरणं भोगाद् भोगान्तरगमनम् । संसार्यस्य पारमेश्वरशक्त्या प्रापितसंसारभावस्य ॥१४८॥

यत एवमतः—

आणवोऽयं मलः सूक्ष्मः कार्यतो ह्युपपद्यते ।
अभिलाषस्ततः कार्यो भोगादौ स प्रवर्तकः ॥१४९॥

रागतत्त्वात्मनोऽभिलाषात् कार्यकारणरूपापूर्णंमन्यतात्माऽसावनुमीयते ।

यत्तु—

'अभिलाषो मलोऽत्र तु' (४।१०५)

इति श्रीस्वच्छन्दग्रन्थे उक्तं, तत्र विशेषसामान्यविषयालम्बनाभिलाषात्मा वैराग्यरागतत्त्वलक्षणोऽपूर्णंमन्यतात्मा निष्कर्माभिलाष आणवो मलोऽभिप्रेतः । भोगासावित्यादिग्रहणात् सांख्यादिदृष्टे तात्त्विके पक्षेऽपि ॥१४९॥

एवमाणवं निर्णीतं द्वयं निर्णेतुमाह—

कार्मं यद्भोगकार्यं तद्देशकालशरीरतः ।
कलादि यत्पृथिव्यन्तं मायाकार्यं विदुर्बुधाः ॥१५०॥

भोगः सुखादिसंवित् कार्यं यस्य, तद् कार्मं मलम्, तद् देशकालशरीरेभ्यः प्राच्येभ्यो हेतुभ्यो भवति, कलादिक्षित्यन्तं तु त्रिंशत्तत्त्वात्म मायाकार्यं मायाख्यं मलम् ॥१५०॥

एतत् प्रकृते योजयति—

एवं मलत्रयोपेतः संसारे संसरेदणुः ।
कोशकारः क्रिमिर्यद्वदात्मानं वेष्टयेद् दृढम् ॥१५१॥

---

१. स्वायम्भुवागमवचनमेतत् ।

तद्वेष्टनेन शक्तोऽसौ तथात्मा पाशपञ्जरैः।

आत्मानं वेष्टयेत् कोशकारदृष्टान्तेन स्वशक्त्यैवास्याणुभूमिकाग्रहणम्, न तु व्यतिरिक्तद्रव्यरूपानादिमलशक्तिनिरुद्धत्वम्। एतच्च वितत्य श्रीस्वच्छन्दोद्द्योते पञ्चमपटलान्तेऽस्माभिर्निर्णीतम् ॥

ततश्च तम्—

यावन्न चेश्वरो देवो ह्यनुगृह्णाति शक्तिमान् ॥१५२॥
तावद्बलावगूहेन गूहितस्तिष्ठते पशुः ।

स्वशक्तिगूहनावभासिताणुभूमिकः परमेश्वरो यावन्न निजशक्तिविकासेनानुगृह्णात्यणुभूमिम् तावत् स्वमायाशक्त्यवगूहनेन गूहितः पशुस्तिष्ठति ॥

अत्रानीश्वरवादिमतमाशङ्क्यापूर्वं परिहरति—

अथ चेन्नेश्वरः कश्चित् स्वतन्त्रमखिलं जगत् ॥१५३॥

सौगतमीमांसकसांख्यादिभिरिष्यते ॥१५३॥

तत्—

नियमः कारणानां तु न भवेत्

असत्कार्यवादिमते यतः कुतश्चिद् यत् किंचिद्, जायेत असतो वा सत्स्वभावतायोगाद् न कुतश्चित् किमपीति परिदृश्यमानः कारणनियमो न स्यात्। यद् यदनन्तरं दृश्यते, तज्जननरूपं तदित्यनन्यापेक्षस्वरूपमात्रावस्थितभाववादिमतेन युज्यते। आत्माश्रितत्वेऽपि जडानां संस्कारमात्ररूपाणां कर्मणां परिपाकादिवैचित्र्यं फलहेतुता चेश्वराधिष्ठानं विना न घटते। सत्कार्यवादिपक्षेऽपि सर्वस्य सत्त्वाद् न किंचित् कुत्रचित् कारणम्, अभिव्यक्त्यादेरसतो वा कारणेनासत्कार्यवादः, अविद्यावादेऽपि ब्रह्मणोऽकर्तृत्वेऽविद्यायाश्च तुच्छत्वे जगद्वैचित्र्याघटनम्, भासमानस्यातुच्छत्वेऽभ्युपगममात्रेण तुच्छस्यापि जगतो जनकमतुच्छमेवेत्यविद्यायां वस्तुत्वे द्वैतापातो न युक्त इति स्वच्छस्वच्छन्दचिद्घनपरमेश्वरप्रभावं विना कारणानां न नियमः स्यात् ॥

ततश्च—

असमञ्जसम्।

सर्वमेव स्यादिति शेषः ॥

प्रकृतमर्थं दृष्टान्तक्रमेण घटयति—

बलीवर्दो यथा कश्चिद् बध्यते पाशबन्धतः ॥१५४॥
तृणैः संयोजितो भोगैरस्वतन्त्रस्तथा पशुः।

पाशो रज्जुः, आणवादिश्च । वलीवर्दवत् पशुः पाशैर्बद्धः, अस्वतन्त्रः, तृण-प्रायैर्भोगैर्योजितः ॥

अतश्च—

ग्राह्यस्य पाशहा तस्य ग्राहकः कश्चिदुत्तमः ॥१५५॥
समर्थो दृश्यते यद्वत् तद्वदीशोऽप्यनुग्रही ।
सर्वेषां सर्वकृच्छक्त स्वशक्त्या बृंहितः शिवः ॥१५६॥

ग्राह्यस्येति पाशबद्धस्य पाशहा पाशमोचको यथा उत्तमः समर्थः कश्चिदेव, नतु सर्वः, तद्वत् सर्वकृदीश्वरः प्रभविष्णुः शिवः स्वया स्वातन्त्र्यात्मना शक्त्या बृंहितत्वात् शक्तः सर्वेषामनुग्राहकोऽसौ ॥१५६॥

यया शक्त्या बृंहितोऽसौ—

अवियुक्ता तु सा तस्य निजरश्मी रवेरिव ।

किं च—

दाहप्रकाशके वह्नावूष्मा नैव वियुज्यते ॥१५७॥

यद्वत्—

तद्वदीशस्य सा शक्तिरवियुक्ता शिवात्मिका ।
जगतः कारणं देवी सैवैका बहुभिः स्थिता ॥१५८॥

बहुभेदत्वमेव स्फुटयति—

इच्छाज्ञानक्रियारूपा कृत्यभेदेन वर्तते ।

एषणीयज्ञेयकार्यात्मकासूत्रितकल्पास्फुटस्फुटजगदाभासकत्वादिच्छादित्रयरूपेणैकैव स्वातन्त्र्यशक्तिर्वर्तते ॥

अतश्च—

अघोरा साभवदिच्छा व्यापिका समवायिनी ॥१५९॥
घोरा ज्ञानस्वरूपा तु सा परिग्रहवर्तिनी ।
घोरघोरतरा चान्या क्षोभिका सा क्रियात्मिका ॥१६०॥

न विद्यते घोरं भेदस्पर्शरूपं यस्याः, सा अघोरा आसूत्रिताशेषविश्वाद्वयप्रकाशात्मा परा अनुग्रहप्रवणा, अत एव व्यापिका समवायिनी शिवभिन्ना। घोरा भेदाभेदाभासरूपा परापरा, अत एव परितः समन्ताद् ग्रहणेन विश्वस्य स्वभित्तौ स्वानतिरिक्तस्याप्यतिरिक्तस्येवोल्लेखात्मना स्वीकारेण वर्तते तच्छीला । घोरघोरतरा स्फुटविश्वभेदावभासरूपा, अत एव क्षोभिका ग्राह्यग्राहकादिकालुष्योल्लासिकाऽपरारूपा ॥१६०॥

या एवंभूताद्वयद्वयाद्वयद्वयदर्शिका इच्छाज्ञानक्रियारूपा एकैव श्रीमातृसद्भावादिसंज्ञाभिराम्नायेषूक्ता परा चिद्भैरवनाथस्य स्वातन्त्र्यशक्तिः—

सा रक्षा सर्वभूतानां सर्वरक्षा सुरक्षिणी ।

शक्तिपातवशात् प्रत्यभिज्ञाता सती सर्वाणि संसारभवानि रक्षतीति तदाख्यातैव सुष्ठु रक्षिकेयं तात्त्विकी रक्षा ॥

युक्तं चैतदित्याह—

सा च दीक्षा समुद्दिष्टा दानक्षपणलक्षणा ॥१६१॥

चो ह्यर्थे । दानं शिवत्वाभिव्यक्तेः, क्षपणं तु पाशानाम् ॥१६१॥

एषा हि—

अनेनैव प्रकारेण सर्वदोषनिवर्हणी ।
व्यापकस्य सतः पुंसः सा रक्षा न विरुध्यते ॥१६२॥

अनेनैवेति दानक्षपणात्मदीक्षारूपेण । न विरुध्यत इति व्यापकस्याणोः स्वरूपप्रकाशनात् ॥१६२॥

किं च—

पुनरन्यां प्रवक्ष्यामि रक्षां सर्वसुरक्षिणीम् ।

तां विषयप्रदर्शनपूर्वमाह—

मलत्रयनिरोधेन नानाकर्मफलोदयात् ॥१६३॥
शब्दादिविषयाणां य इन्द्रियाणां प्रवर्तते ।
हृत्पुण्डरीकमध्यस्थो धर्माधर्मप्रवर्तकः ॥१६४॥
रागद्वेषाभिभूतस्तु त्रिधान्तःकरणावृतः ।
कार्यकारणसंबद्धः करणैर्भूतसंयुतैः ॥१६५॥
निर्बद्धश्चिन्मलेनैव शतशोऽथ सहस्रशः ।
कार्याकार्यान्तरशतैर्धर्माधर्मविचेष्टितैः ॥१६६॥
प्रलुप्तनिजचैतन्यो जीव इत्यभिधीयते ।
तस्य रक्षा समुद्दिष्टा मन्त्रैर्विविधविस्तरैः ॥१६७॥
धारणायन्त्रतन्त्रैश्च शिवेन परमात्मना ।
जीवरक्षा तु सा प्रोक्ता क्रियाशक्तिर्महेश्वरी ॥१६८॥

त्रिमलावृतत्वेन कृतो यो नानाकर्मफलानां सुखादिसंविद्भागानामुदयोऽभिमुखीभावस्ततो हेतोर्भोगसाधनानां शब्दादिगोचराणां चक्षुरादीनां यः प्रकर्षेण आसङ्गेन वर्तते, अतश्च हृत्स्थोऽपीन्द्रियवृत्त्यैव धर्माधर्मयोः प्रवर्तक उल्लासकः,

अत एव सुखदुःखानुशायिरागद्वेषाभ्यामभिभूतः अध्यवसायादिव्यापारबुध्याद्यन्तःकृतिपरवशः, कार्यैः रूपादिभिर्विषयैः कारणैश्च कारणस्कन्दपक्षस्थैर्बुद्ध्याद्यहङ्कारतन्मात्रैः संवद्धः, तथा करणैस्त्रयोदशभिः पृथिव्यादिभूतसंश्लिष्टैर्निःशेषेण वद्धः पुर्यष्टकस्थूलदेहरूपतामापादितः, इत्थं भूतपर्यन्तेन सर्वेणैतेन चेत्याभासात्मना चिन्मलेन शतश इति रागवृत्तिप्रपञ्चरूपेण तथा कर्तव्याकर्तव्यविशेषरूपैः रसंख्यधर्माधर्मोत्थापकैर्वाग्बुद्धिशरीरव्यापाररूपैर्विचेष्टितैः प्रलुप्तं शून्यादेर्गुणभावमापन्नं निजं सहजं ज्ञत्वकर्तृत्वात्म चैतन्यं यस्य, स जीव इत्युच्यते। तस्य च परमात्मना शिवेन मन्त्रतन्त्रव्यापाररूपा जीवः पुर्यष्टकचैतन्यरूप आत्मा रक्ष्यते यया, सा तदाख्या क्रियाशक्तिरूपा महेश्वरीति प्रभविष्णुः रक्षा उक्ता ॥१६८॥

किं च—

अन्या तृतीया रक्षा या शरीरस्य तु रक्षिणी।
महाभयेभ्यः सर्वेभ्यः

तां तत्तद्धेतुकभयहरां वक्तुमाह—

भूतयक्षग्रहादिकैः ॥१६९॥
डाव्या डामरिकाभिश्च भगिनीमातृभिस्तथा।
शाकिनीयोगिनीभिश्च मुखमण्डितकादिभिः ॥१७०॥
नानाविधैरशेषैश्च हिंसकैः क्रियते ध्रुवम्।
यद्भयं तस्य शमनी सा रक्षा शक्तिरुच्यते ॥१७१॥

मुखमण्डितका भूतविशेषाः, आदिशब्दात् नृसिंहादयः। शक्तिरिति क्रियाख्यैव। शिष्टं प्रागेव व्याकृतप्रायम्।

अतश्च—

भूतजं मलिनं चैतदध्रुवं यदशाश्वतम्।
वातपित्तकफश्लेष्मसंनिपातादिविस्तरैः ॥१७२॥
अनेकशतसंख्यातैर्दोषैर्दुष्टं शरीरकम्।
तच्च हिंसन्ति बहवो हिंसका दुष्टबुद्धयः ॥१७३॥
वातजाः पित्तजा भूताः श्लेष्मजाः संनिपातजाः।
भोक्तुकामा रतिकामा हन्तुकामास्तथापरे ॥१७४॥
बलिकामाश्च बहवो हिंसकाः सुतजन्तुषु।
वातस्थानं समासाद्य वातजा प्रभवन्ति हि ॥१७५॥
क्षोभयन्ति स्वकं स्थानं पित्तजाः पैत्तिकं तथा।
श्लेष्मजाश्च स्वकं स्थानं सर्वस्थाः संनिपातजाः ॥१७६॥

क्षोभयन्ति विनाशार्थं देहरक्षा तदर्थतः ।
मन्त्रौषधक्रियायोगे रक्षा वै शिवचोदिता ॥१७७॥
कर्तव्या शिवदा नित्या सा शिवाशिवहारिणी ।

भूतजत्वादेव मलिनम् । अध्रुवं विनाशि । अशाश्वतं प्रतिक्षणपरिणामि । वातादिदोषैर्दुष्टं तावत् सर्वजन्तूनां कुत्सितं शरीरम् । तच्च हिंसका हिंसन्ति बहवः । वातादिजा भूता उन्मादाः । यदुक्तं क्रियाकालगुणोत्तरे—

'वातिका : पैत्तिकाश्चैव श्लैष्मिकाः संनिपातजाः ।'

इत्युपक्रम्य—

'गन्धमाल्यप्रियो नित्यं वातिकं स्थानमाश्रितः ।
तृषा पीडयते नित्यं सुतीक्ष्णं चाभिभाषते ॥
निद्रां करोति सततं भुङ्क्ते रात्रिन्दिनं तथा ।
एतै रूपैस्तु विज्ञेयः पैत्तिकं स्थानमाश्रितः ॥
यस्तु च्छन्दयते नित्यं फेनं चैव विमुञ्चते ।
अभक्ष्यैकमतिर्ज्ञेयः श्लैष्मिकं स्थानमाश्रितः ॥
दोशत्रयं समाश्रित्य नानारूपाणि दर्शयेत् ।
दुश्चिकित्सः स उन्मादो विज्ञेयः सांनिपातिकः ॥'

इति क्षोभयन्ति विकुर्वन्ति । यत एवम्, तदर्थं देहो रक्ष्यते यया तदाख्या प्रोक्तरूपा रक्षा श्रेयस्करी श्रेयोरूपाऽश्रेयःशमनी चोद्दिष्टा ॥

अतश्च—

बलिकामांस्तु बलिभिर्घस्मरैस्तर्पयेत् प्रिये ॥१७८॥

बलिकामस्य च लक्षणम्—

'उद्विग्नस्तु भवेद्यस्तु प्रेक्षते च समन्ततः ।
ज्वरो दाहश्च शूलश्च शिरोरुग् यस्य जायते ॥
बुभुक्षितस्तृडार्तो वा देहि देहीति भाषते ।
बलिकामः स विज्ञेयः.................. ॥'

इति तत्रैवोक्तम् ॥॥१७८॥

भोक्तुकामा जिघांसन्ति

एषामपि च लक्षणम्—

'रक्तनेत्रो भवेद्यस्तु हर्षितश्चाभिभाषते ।
ईदृशं लक्षणं यस्य भोक्तुकामो ग्रहो भवेत् ॥'

इति तन्त्रैत्रोक्तम् ।।

एते च—

नश्यन्ते मन्त्रयोगतः ।

मन्त्राभिजप्तवारिताडनादिना नश्यन्ति ।।

रतिकामास्त्वनेकैश्च सर्वैस्तन्त्रैस्तथौषधैः ।।१७९।।

मन्त्रिणानुग्रहस्थेन प्रोत्सार्या मन्त्रयोगतः ।

तेषामपि तन्त्रैव लक्षणम् —

'स्नानशीलः शुचिर्नित्यमुद्विग्नश्चैव जायते ।
पूर्वभाषी भवेन्नित्यमुपभोगं च याचते ।।
गन्धमाल्यप्रियश्चैव वस्त्राभरणमिच्छति ।
प्रियवादी भवेन्नित्यमुपरोधं करोति च ।।
रमते स्त्रीशरीरेषु विचित्रैश्चैव हृष्यति ।'

इत्युक्तम् ।।

हन्तुकामास्तु ये प्रोक्ता दुराधर्षा महाबलाः ।।१८०।।

तेषामपि तन्त्रैव—

'यस्तु वै धुनते केशान् वैद्यं चैव निरीक्षते ।
हन्तुकामः स........................... ।।'

इति, तथा—

'अग्निप्रवेशनं कुर्यादुदके पतनं तथा ।
प्रमादात् पतति क्षोण्यां नृत्यत्यथ च रोदिति ।।
हन्तुकामगृहीतस्य भवत्येतत्तु लक्षणम् ।'

इति लक्षणमुक्तम् । दुराधर्षा बलिनो दुःसहाश्च ।।१८०।।

यद्यपि—

तथापि पारमेशेन मन्त्रतेजोबलेन ते ।
शिवशक्तिप्रभावेण नश्यन्त्यत्र न संशयः ।।१८१।।

शिवशक्तिप्रभावस्तदाज्ञावशर्वातिता ।।१८१।।

प्रासङ्गिकमुपसंहरति—

एवं संक्षेपतः प्रोक्तस्त्वयं भूतविनिर्णयः ।
प्राणिनां तु हितार्थाय विस्तरोऽन्यत्र वर्णितः ।।१८२।।

अन्यत्र श्रीतोतुलक्रियाकालगुणोत्तरादौ ।

तत्र हि—

'तस्मात् समाधियुक्तेन मन्त्रपूतेन वारिणा ।
गुह्यः संस्पृश्य वक्तव्यो ब्रूहि सत्यं तु गुह्यक ॥
को भवान् किंनिमित्तं च गृहीतो मानुषस्त्वया ।
का च ते क्रियते पूजा ब्रूहि सत्यं किमिच्छसि ॥
एवं तु ब्रूहि मे नित्यं रुद्रस्य वचनं स्मर ।
पटेनान्तरितं कृत्वा वामहस्तं प्रसारयेत् ॥
आकुञ्चयेत्तु प्रच्छन्नं तथा तथ्यं विनिर्दिशेत् ।'

इत्यादि बह्वस्ति ॥१८२॥

प्रकृतमुपसंहरति—

एवं तु क्रियते रक्षा सुज्ञाता सुकृता भवेत् ।
अन्यथा तु स्वघाताय वेदितव्यात्र योगिना ॥१८३॥

एवमिति प्रोक्तपराशक्त्यादिव्याप्तिस्वरूपतः सर्वरक्षाजीवरक्षादेहरक्षेति-विषयतो बलिकर्ममन्त्रतन्त्रयोगादीतिकर्तव्यताप्रयोगतश्च सुष्ठु ज्ञाता या रक्षा क्रियते, सा सुकृता स्यात् ॥१८३॥

किं च—

रक्षा बहुप्रकारा च कर्तव्याम्नायदर्शनात् ।

तत्र—

आधाररक्षा प्रथमा बीजरक्षा द्वितीयिका ॥१८४॥
तृतीया गर्भरक्षा तु सूतिकाले चतुर्थिका ।
पञ्चमी सूतिकारक्षा स्नात्वा षष्ठी भवेदिह ॥१८४॥
बालानां सप्तमी प्रोक्ता पुरुषाणां तथाष्टमी ।

तानेतान्—

भेदांस्तु संप्रवक्ष्यामि ह्याधारादिगतान् प्रिये ॥१८६॥

सम्यक् प्रवक्ष्यामि व्याख्यास्यामि ॥१८६॥

तत्र—

मातापित्रोः परा रक्षा कार्या तत्त्वविचिन्तकैः ।

तदाश्रयत्वात् सर्वस्य ॥

अत्र युक्तिमाह—

दोषैः सुदष्टः पुरुषः संभवन्त्यस्य हिंसकाः ॥१८७॥
हिंसन्ति रक्षणीयोऽसौ संभवार्थं प्रयत्नतः ।

दोषाः प्राक्तनाः कुशलोक्ता रागद्वेषाविनयादयः, तैः सुष्ठु दष्टः स्पृष्टप्रायः सर्वः पुरुषः । अतश्चास्य पूर्वोक्ता हिंसकाः संभवन्ति, हिंसन्ति चैनम् । तदसौ पुरुषो रक्ष्यः संभवार्थं सन्ततिप्रसवार्थम् ॥

किं च, दोषदष्टत्वादेव—

यदा स्त्री मुद्रिता भूतैस्तदा गर्भो न संभवेत् ॥१८८॥
एवं च प्रथमा रक्षा त्वाधाराख्या प्रकीर्तिता ।

एवं चेति, अतश्चेत्यर्थः । आधारः पितरौ, तदाश्रयत्वाधाररक्षा ।

बीजरक्षामाह—

रेतोरक्तमयः कायः सर्वेषां प्राणिनां यतः ॥१८९॥
ततः संरक्षितौ द्वौ तु कर्तव्यौ मन्त्रवादिभिः ।

द्वाविति रेतोरक्ते । आर्तवे बीजरक्षा बन्धनीयेत्यर्थः ॥

किं च—

रतिकामा ग्रहा ये च कामाचारा ह्यनेकशः ॥१९०॥
पिबन्ति रेतो रक्तं च नष्टेऽस्मिन् संभवः कुतः ।
तस्मात्तु कारणादस्मिन् रक्षिते संभवो भवेत् ॥१९१॥

अस्मिन्निति रेतोरक्तात्मनि । बीजसंभवो गर्भाधानम् ॥१९१॥

तृतीयामाह—

संभूते गर्भगे हेतौ संरक्ष्यं गर्भपातनम् ।

संभूत इति, अर्थात् गर्भे ॥

चतुर्थीमाह—

प्रसूतिकाले नारीणां रक्षागतिविशारदैः ॥१९२॥
रक्षा कार्या प्रयत्नेन

रक्षाया गतिः पूर्वोक्ता व्याप्तिः, तत्र विशारदैर्निर्मलधीभिर्मन्त्राचार्यत्नौषधयुक्त्यात्मना प्रकृष्टेन यत्नेन रक्षा कार्या ॥

एवं च—

न हिंसन्तीह हिंसकाः ।

इहेति प्रसवकाले ॥

प्रसूताया रक्षां पञ्चमीमाह—

यावन्न सूतिका शुद्धा तद्गृहस्थं तु बालकम् ॥१९३॥

तावत्—

सूतिकागृहदोषाद्या बाधन्ते रक्षया विना ।

तस्मात् सुरक्षितं कार्यं वाह्यस्त्राद्यैर्विचक्षणैः ॥१९४॥

कार्यमिति, सूतिकागृहमित्यर्थात् ॥१९४॥

षष्ठीमाह—

सूतिकास्नानकाले तु बालो वा यश्च तत्स्थितः ।

हिंसन्ति बलिनो भूतास्तस्मात् स्नाने तु रक्षयेत् ॥१९५॥

यश्चेति जातबालादन्योऽपि बालादिर्यस्तत्र स्नानगृहे स्थितोऽर्थात् तमपि भूता हिंसन्ति, तस्माद् रक्षेत् ॥१९५॥

सप्तमीमाह—

स्नात्वा तदुत्तरं कालं बाला रक्ष्याः सधात्रिकाः ।

स्नात्वा ये स्थिता बालास्ते रक्ष्याः ॥१९६॥

धात्री कस्माद् रक्ष्येत्याह—

धात्री तु कारणं तस्य क्षीरस्पर्शादिपोषणैः ॥१९६॥

तस्मात् सा रक्षितव्यादौ धात्री बालस्तदूर्ध्वतः ।

किं च—

सर्वकालं तु संरक्ष्यो मन्त्रौषधिप्रयोगतः ॥१९७॥

धारणाध्यानमुद्राभिर्यन्त्रैर्धूपैरतन्द्रितम् ॥

तिलाज्यादिकृतैर्होमैः कलशैर्विविधैः शुभैः ॥१९८॥

शिरसि ह्यभिषेकैश्च रक्षणीयश्च सर्वदा ।

बालो यः संरक्षार्हः कल्याणमूर्तिः, स सर्वदाऽतन्द्रितं कृत्वा रक्षणीयः, नतु दुर्जातः ।

किं च—

प्रतिबुद्धं तु सुप्तं च रुदन्तं च प्रसाधितम् ॥१९९॥

भुञ्जानं शयनस्थं तु तिष्ठन्तं क्रीडमानकम् ।

प्रभाते चार्धरात्रे च सायं मध्याह्नगोचरे ॥२००॥

सन्ध्याकालेषु सर्वेषु रक्षेद्यत्नात्तु बालकम् ।

क्रीडमानमिति चरन्तम् ॥

सन्ध्यासु किमिति यत्नतो रक्षेत्दियाह—

देवासुराणां भूतानां मातॄणां भगिनीषु च ॥२०१॥
ग्रहदुष्टपिशाचानां संध्याकाले तु संगमः ।
तस्मात् सर्वासु सन्ध्यासु रक्षितव्यश्च बालकः ॥२०२॥

तथा—

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपञ्जाग्रत् सर्वकालं तु रक्ष्यते ।

एतदेवोपपाक्ष्यति—

गच्छन्तं दर्शनाद्देवि जिघांसन्तीह हिंसकाः ॥२०३॥
रक्षाहीनं तु तिष्ठन्तं मुद्रयन्ति सुभीषणाः ।
स्वस्थं च्छलेन सुप्तं तु त्रासयन्ति समन्ततः ॥२०४॥
जाग्रतः केवलं रात्रौ भीषयन्ति ग्रहाधमाः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वदा रक्ष्यते शिशुः ॥२०५॥
जीवेन्नान्यैरुपायैस्तु मन्त्रवादैर्विना प्रिये ।

किं च—

विशेषाद्राजतनयो रक्षितव्यो हि दैशिकैः ॥२०६॥
भाग्यभुक् सुप्रशस्तश्च सर्वक्षलणलक्षितः ।

भागानि भुङ्क्ते फलद्वारेण ।

तं च यतः—

दृष्ट्वा यत्नेन दुष्टाश्च जिघांसन्ति शिशुं शुभम् ॥२०७॥
तस्मात् सर्वप्रकारेण धारणाभिर्निरन्तरम् ।
प्राकारास्त्रेण वा देवि मन्त्रैर्वा विविधैः शुभैः ॥२०८॥
लिखितैर्यन्त्रयोगैर्वा पूजितैः सुप्रयत्नतः ।
वेष्टितैः कण्ठसंलग्नैः सूत्रकैर्वासितादिकैः ॥२०९॥
धूपैर्विविधरूपैश्च धारितैर्मणिभिस्तथा ।
रक्षोघ्नैस्तिलकैर्वापि नीराजनपुरःसरैः ॥२१०॥
रक्षणीयः सदा बालो राजपुत्रो विशेषतः ।

धारणा अधोमुखसितसरोजसंनिविष्टेन्दुबिम्बास्त्रवत्सुधया ब्रह्मद्वारपूरणादिरूपाः । यन्त्र योगानां पूजितैरित्यादि विशेषणत्रयम् कण्ठलग्नैरिति काकाक्षिवत् । नीराजनं पूर्वोक्तम् ॥

पुरुषरक्षामष्टमीमाह—

राजानस्तदमात्याश्च राजपत्न्य स्तथा प्रिये ॥२११॥
अनेनैव विधानेन रक्षितव्याः सुनिश्चितैः।
यस्मात् क्षुद्रा ग्रहा भूता मातरो दुष्टहिंसकाः ॥२१२॥
देवेष्वसाध्या बलिनो दुर्जया दुरतिक्रमाः।
जिघांसन्ति प्रयत्नेन नित्यकालमतन्द्रिताः ॥२१३॥
तेषां प्रशमनार्थाय प्राणिनामनुकम्पया।
मन्त्रास्त्रौषधयत्नाश्च महाबलपराक्रमाः ॥२१४॥
अनुग्रहार्थं मर्त्यानां मया सर्वेऽवतारिताः।

अस्त्राणि नाराचतोमरादीनि, यत्नाश्चेति चकाराद् मणयः ॥

अस्य मन्त्रनाथस्य विशेषमाह—

तेषामेव हि सर्वेषां मन्त्राणां भूरितेजसाम् ॥२१५॥
बलमोजस्तथा ज्ञानं स्मृतिर्मेधा वपुः श्रियः।
जीवनं प्रभु सर्वेषां मृत्युजित् कथितो मया ॥२१६॥

तेषामिति ग्रहाद्युपशमहेतूनां व्याप्तिः स्मृतिरविचला प्रतिपत्तिरूपा च प्रज्ञा मन्त्राणां सारतश्च पूर्वोक्तनीत्या प्रभु प्रभविष्णु मृत्युजित्स्वरूपमेव, तथा वपुर्वाचकविशेषात्म स्वरूपं श्रियो भोगमोक्षवितरणरुचो जीवनं वाच्यरूपं चैतन्यम् ॥२१६॥

तदेव सर्वमन्त्रवैलक्षण्यमस्य दर्शयन्नन्यमन्त्रस्थितिं तावदाह—

भूरियागैर्जपैर्होमैस्तपसा संयमेन च।
मन्त्राश्चास्त्राणि सिध्यन्ति युगभावानुरूपतः ॥२१७॥
तथा कलियुगे दृष्टे पापिष्ठा ये नराधमाः।
तेषां ते सिद्धिदा मन्त्रा भवन्ति न भवन्ति च ॥२१८॥

कृतादियुगेषु यो भावः सत्त्वादिप्रधान आशयस्तदानुरूप्येण यथोत्तरमधिकाधिकप्रयत्नव्रताराधनाद्रिक्कृच्छ्रेण सिद्धयन्ति, भवन्ति न भवन्ति चेति बाहुल्येन न भवन्तीत्यर्थः ॥२१८॥

नेत्रनाथस्य त्वयं विशेषो यत्—

अस्य देवातिदेवस्य न कृतादियुगस्थितिः।

अतश्चायम्—

भावानुरूपनिष्ठानामतपोव्रतसेविनाम् ॥२१९॥
सर्वभावप्रपन्नानां द्वैताद्वैतजिगीषया।
दौर्भाग्यालस्ययुक्तानां पापोपहतचेतसाम् ॥२२०॥

भक्तिमात्रावलम्बित्वात् सिध्यत्यत्र न संशयः ।

पूर्वोक्तसिद्धान्तादिसर्वदर्शनभावानुरूपा निष्ठा स्थितिर्येषाम्, तपो व्रतं चानिषेवमाणानामपि, तथा सर्वान् भावान् प्रपन्नानां सर्वव्यवहारसङ्गिनाम्, दौर्भाग्यादिमतां च द्वैताद्वैतजिगीषया पूर्वनिर्णीतपरमाद्वैतव्याप्त्या यद् भक्तिमात्रावलम्बित्वमाराधकत्वम् तस्मादत्रेति जीवद्दशायामेव सिध्यति समावेशतः स्फुरति, अभीष्टसिद्धिं च घटयति । न संशय इति च प्राग्वत् ॥

अयं च—

चिन्तारत्नं यथा सर्वं चिन्तितार्थं प्रयच्छति ॥२२१॥
तथा सर्वाणि कार्याणि भावितस्य करोति हि ।

भावितो निश्चितमतिः ॥

किं च—

सूर्याचन्द्रौ यथा लोके सामान्येनावभासकौ ॥२२२॥
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।
सामान्यं वर्तयत्येतदन्नं क्षुद्दोषहृद्यथा ॥२२३॥
तथा सर्वेषु भूतेषु व्यापकः परमेश्वरः ।
शिवः प्रपञ्चरहितः सर्वेषां सर्वदः प्रभुः ॥२२४॥
मृत्युजित् परमो देवः सर्वेषां सर्वसिद्धिदः ।

एतदिति पृथिव्यादिव्योमान्तं कर्तृ क्षुद्दोषहृदन्नं कर्म सामान्यं साधारणं वर्तयति निष्पादयति सर्वं पाशजालं द्यतीति सर्वदो मोचकः । शिष्टं व्याकृतप्रायम् ॥

अतश्च—

भक्तिमात्रावलम्बित्वाद्धारणाध्यानतत्परः ॥२२५॥
योऽस्य वेत्ता प्रपन्नश्च मन्त्री निष्कम्पचेतनः ।
स सर्वं फलमाप्नोति सर्वसिद्धचरहो भवेत् ॥२२६॥

'धारणा परमात्मत्वम्' (८।१६)

इत्यादि धारणास्वरूपमष्टमे दर्शितम् । वेत्ता विचारको वीर्यज्ञः । निष्कम्पचेतनो निश्चतधीः । सर्वं फलं समस्तसंपदात्मिकां मुक्तिम् । अरह इति ऐशः पाठ इति शिवम् ॥२२६॥

प्रस्फुरच्चित्समावेशोन्मेषिजीवावभासितम् ।
दिव्यां देहस्थितिं कुर्वन्नेत्रं रक्षाकरं नुमः ॥

इति श्रीनेत्रोद्द्योते एकोनविंशोऽधिकारः ॥१९॥

———

विंशोऽधिकारः

परसूक्ष्मादियोगेन मुद्रितानपि लीलया ।
उन्मुद्रयत्पराद्वैतं नुमो नेत्रं महेशितुः ॥

पूर्वोक्तसंगतिपूर्वं भाव्यधिकारार्थमवतारयितुं श्रीदेवी उवाच—

उक्तं देवेन तत्सर्वं परिपृष्टं हि यन्मया ।
अधुना श्रोतुमिच्छामि संशयोऽयं हृदि स्थितः ॥१॥

योगिन्यो मातरश्चैव शाकिन्यो बलवत्तराः ।
कथं परपुरात् प्राणान् क्षणादाकर्षयन्ति ताः ॥२॥

कस्माच्च निर्घृणा रौद्राः किं वा तासां प्रयोजनम् ।
एतत्सर्वमशेषेण भगवन् वक्तुमर्हसि ॥३॥

श्रोतुमिच्छामीति देवी प्रश्नवाक्यार्थनिर्णयमधिगन्तुमिच्छति । कथमिति, कस्मादिति, किं वेत्युक्तिभिः प्रकारहेतुप्रयोजनविषयां जिज्ञासां स्फुटयति ॥३॥

एतन्निर्णयाय श्रीभगवानुवाच—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि रहस्यं परमाद्भुतम् ।
यथा प्राणाञ्जिघांसन्ति पशूनां पतिशासनात् ॥४॥

रागद्वेषविमुक्तास्ता लोभमोहविवर्जिताः ।
यागार्थं देवदेवस्य पशून् वै प्रोक्षयन्ति ताः ॥५॥

न लोभेन न हिंसार्थं न चैव हि जिघांसया ।
महाभैरवदेवस्य शासनं पालयन्ति ताः ॥६॥

तदर्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।
पशवः पतियागार्थमुपयुक्ता न चान्यथा ॥७॥

पतिशासनादिति तदाश्रित्य । एवं कस्मादिति हेतुः, यागार्थमित्यनेन च प्रयोजनं निर्णीतम् । लोभमोह इत्यादिना निर्घृणत्वं प्रत्युक्तम् । प्रोक्षयन्ति उपहाराय योजयन्ति । हिंसार्थमुपद्रवाय । तदर्थमिति यागाय । स्वयमेवेत्यनेन पतिशासनादित्युक्तिः प्रमाणीकृता । न चेति च एवार्थे ॥७॥

अतश्च ताः—

एषामनुग्रहार्थाय पशूनां तु वरानने ।
मोचयन्ति च पापेभ्यः पापौघांश्छेदयन्ति तान् ॥८॥

अनुग्रहो मुक्तिः । तान् पशून् ।।

यत एवम्, ततः—

पशूनामुपयुक्तानां नित्यमूर्ध्वगतिर्भवेत् ।

ऊर्ध्वगतिः शुद्धविद्यादिपदसृष्टिर्मुक्तिर्वा ।।

पूर्वोक्ताश्च देव्यः—

त्रिविधेन तु योगेन योजयन्ति शिवाज्ञया ।।९।।
परेणैव हि सूक्ष्मेण स्थूलेन त्रितयेन तु ।
योजयन्ति

उपहरन्ति ।।

यतश्चैवं योगिन्यः पशून् योजयन्ति, ततः—

न चैवात्र घातयन्ति बलेन ताः ।।१०।।

तत्र परयोगं तावद् वक्तुमुपक्रमते—

परः सर्वात्मकोऽनन्तो निष्क्रियो निर्मलस्तु यः ।
व्यापकः परमेशानः सर्वकारणकारणम् ।।११।।
सर्वभूतान्तरावस्थः सर्वानुग्रहकारकः ।

सर्वात्मको विश्वाभेदिपराद्वैतरूपः । अनन्तः कालानवच्छिन्नः । निष्क्रियः सक्रमक्रियाशून्यः स्फुरत्तात्मा, अक्रमक्रियाशक्त्या तु नित्ययुक्तः । निष्क्रान्तो मलो यस्मात्, स एव हि स्वरूपगोपनया मलोल्लासकृद् मलास्पृष्टश्च । व्यापको देशेन असंकुचितः । परमेशानः स्वतन्त्रः । अत एव सर्वेषां ब्रह्मादिकारणानां कारणम्, अन्तरावस्थः प्रकाशविमर्शात्महृद्रूपः तदुक्तं गीतासु—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे वसतेऽर्जुन'—(१८।६१)

इति । एष एव च स्वाभेदप्रथात्मानं सर्वेषामनुग्रहं करोति ।।

तादृशे—

तस्मिन्नेव नियुक्तास्ता निर्मला विगतक्लमाः ।।१२।।
एकीभावमनुप्राप्य न वियुक्ताः कथंचन ।

निःशेषेण युक्ताः समाविष्टाः, अतश्च परमानन्दलाभाद् विगतो देहप्राणाद्याश्रयः क्लमो यासाम्, अतश्च तदभिन्नाः ।।

तच्छक्तौ तु विलीनास्ता इच्छारूपेण संस्थिताः ।।१३।।
ज्ञानोत्कर्षाः क्रियावस्था यागयोगावधूतिकाः ।

इच्छारूपेणेत्यविकल्पसंवित्स्फारेण, ज्ञानोत्कर्षाः क्रियावस्था ज्ञानेद्धाः क्रियास्फारनिष्ठाः। यागः परमेशाय पशुनिवेदनम्, योगः परमेशैक्यापत्तिः, ताभ्यामवहृतं धूतं कम्पो यासां तास्तथा निश्चलतदैक्यमय्यः ॥

तदित्थं ताः—

तद्भावं तु समास्थाय तद्रूपं योजयन्ति यान् ॥१४॥

ते मुक्ताः शिवभूतास्तु शिवशक्त्या शिवेरिताः।
निर्मलाः शिवरूपास्तु तत्प्रभावाद् भवन्ति च ॥१५॥

तद्रूपाः सत्योऽर्थात् तत्रैव यान् योजयन्ति, ते तासां योगिनीनां प्रभावात् शिवशक्त्या शिवेनेरिताः प्रेरिताः शिवभूताः प्राप्तनिर्मलशिवैकरूपा भवन्ति ॥१५॥

अतश्च—

यथा योगेन दीक्षायां शिवत्वमुपलभ्यते।

देहस्थितैरेव दीक्षितैः ॥

तथा वै योगियोगेन शिवत्वमुपयान्ति ते ॥१६॥

योगिनीनां योगेन चण्डीशचरूपकरणेन ॥

एवं हि—

अत्यन्तमलिनस्यास्य पूर्वोक्तस्याधिकारिणः।
मलप्रध्वस्तरूपस्य नैर्मल्यं व्यञ्जयन्ति ताः ॥१७॥

न केवलं मलिनस्य यावद् मलैः प्रध्वस्तं कुत्सिभोगेष्वापातितं रूपं यस्य तादृशः, अधिकारिणो देहिनो नैर्मल्यं ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मतां च ॥१७॥

एताश्च देव्यः—

मूलच्छेदेन तेषां हि जिघांसन्ति मलत्रयम्।

अतश्च—

मलत्रयवियुक्तस्य शरीरं न प्ररोहति ॥१८॥

तदित्थम्—

दीपवद्योजनं तस्य पशोर्नैव हि घातनम्।

परयोगिन्यो हि—

व्यापकेन स्वरूपेण स्वशक्तिविभवेन च ॥१९॥

त्रोटयन्ति पशोः पाशान् शरीरं येन नश्यति।
शरीरेण प्रनष्टेन मोक्षणं नहि मारणम् ॥२०॥

व्यापकेन शिवात्मना । स्वशक्तिविभवेन शाक्तेन । येनेति त्रोटनेन ॥२०॥

यदीदृग् मरणं न, कीदृक् तर्हि तदित्याह—

दृढप्ररूढपाशस्य बद्धस्य पुरुषस्य यः ।
वियोगस्तु शरीरेण मरणं तद्विदुर्बुधाः ॥२१॥

उपसंहरति—

एवं परः प्रकाशस्तु

शाम्भवपदे विश्रान्तिप्रबोधेन योग उक्तः ॥

सूक्ष्मश्चैवाधुनोच्यते ।

तमाह—

सूक्ष्मं शक्तिमयं ज्ञानं ज्ञानशक्त्या तु गम्यते ॥२२॥
अरावरावराविण्या ध्वनिभावानुसारकम् ।

शक्तिमयं चित्स्फुरत्ताप्रधानम्, न तु प्राग्वत् शाम्भवप्रकाशविश्रान्त्यात्म, ज्ञानशक्त्या देहादिप्रमातृताप्रशमनोन्मग्नसंविदा गम्यते प्राप्यते । कीदृश्या । न विद्यते रावो मन्त्रविशेषोच्चारध्वनिर्यस्य तादृग् यो रावः सहजो नादामर्शस्तेन राविण्या प्रोन्मिषत्पराहंविमर्शरूपया । कीदृशं ज्ञानमित्याह—ध्वनेर्नादामर्शस्य भावः सत्ता, तदनुसरणं तन्मयीभावं प्राप्तम् ॥

एतच्च—

सिद्धानां सिद्धिदं ज्ञानं खेचर्यः पर्युपासते ॥२३॥

सिद्धाः श्रीखगेन्द्राद्याः खेचर्यः संविद्गगनचारिण्यो देव्यः । परितः समन्तादुपासते तन्मयत्वेन स्फुरन्ति ॥२३॥

यद्यपि शाक्तं ज्ञानं सर्वेषां भित्तिः, तथापि—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं पशूनां समलं स्थितम् ।

अज्ञानं मायाशक्तिकृतमात्मन्यनात्मताप्रतिपत्तिपुरःसरमनात्मनि देहादावात्माभिमानात्म ॥

यत एवमतो योगाभ्यासप्रवुद्धेन निजेन--

निर्मलेन तु ता देव्यो ज्ञानेनाभिभवन्ति तत् ॥२४॥

एवं च—

यथा प्रबुद्धः सुप्तेन क्रीडते च यतस्ततः ।
मदिरासवपानेन यथैवोन्मादितः क्वचित् ॥२५॥

क्रीडते ह्यस्वतन्त्रत्वाद्बालो वा भ्राम्यति क्वचित्।
उन्मत्तो वाप्रमत्तेन प्रेर्यंते पशवस्तथा ॥२६॥
मातृभिर्गुह्यकैः शक्त्या स्वेन योगबलेन तु।

तथेत्यत्र प्रेर्यन्त इति वचनपरिणामाद् योज्यम्। गुह्यका यक्षा भूतग्रहाद्यु-पलक्षकाः। शक्त्या स्वसामर्थ्येन ॥

अतश्च तैः—

जीव आकृष्यते क्षिप्रं पशूनां योगवीर्यतः ॥२७॥

एतदेव स्फुटयति—

यत्तत्परममव्यक्तं शाश्वतं ह्यचलं ध्रुवम्।
तत्प्राप्य योगमार्गेण प्रविश्य परदेहतः ॥२८॥
परो भूत्वा स्वशक्त्या तु जीवं जीवेन वेष्टयेत्।

यत्तदित्यादि प्राग्वत्। तत्प्राप्य परं चिन्मयं बलं समाविश्य योगमार्गेणेति तत्त्वार्थचिन्तामणिप्रदर्शितागमिकगोलकाभ्यासासादितसमस्ततद्रसोपलम्भः स्व-देह एवाविकासस्थित्या प्राणाकर्षापकर्षाभ्यामस्वतन्त्रीकृतप्राणबलो योगी पाद-शाखाब्रह्मरन्ध्रत एकतरेण पथा गोलकस्थित्यैव परहृदयं प्रविश्य परो भूत्वेति—

'संचारो वायुतत्त्वस्थो वायुतत्त्वं च बुद्धिगम्।
अहङ्कारगता बुद्धिः च चित्तत्त्वं समाश्रितः ॥

इत्याम्नायदृष्ट्या परत्राहंप्रतीतिदार्ढ्य मात्राशतं स्थित्वा प्राणक्षोभेण तं क्षोभयित्वा स्वेन्द्रियशक्तिभिस्तदिन्द्रियाक्रमणपूर्वमात्मशक्तिस्वीकृतस्य परस्य शरीरं स्वपरिस्पन्दप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमेणात्मशरीरीकृत्य जीवं परपुर्यष्टकं जीवेन स्वपुर्यष्टकेन स्वशक्त्येति प्रोन्मिषितशाक्तबलेन स्वप्राणेन वेष्टयेदाक्रमेत् ॥

तदित्थम्—

आक्रम्य तं हृदिस्थं वै अधऊर्ध्वंप्रवेशतः ॥२९॥
एकीभावं समासाद्य समत्वं तत्र चाभ्यसेत्।
परं कारणमाश्रित्य स्वतन्त्रत्वं तदाभ्यसेत् ॥३०॥

परं कारणं शाक्तं बलमाश्रित्य तद्ग्रहेणावष्टभ्य तत्र चेति परं प्रेर-यति यदेवाहं करोमि, तदेवायं करोत्वितीदृशं समभ्यस्यन् तेन सह ऐक्यमासाद्य स्वतन्त्रत्वमभ्यसेदिति जिगमिषुं निरोधयेत् तिष्ठन्तं गमयेदिति क्रमेण तं स्वचेष्टा-वशगं कुर्यात्। तदेतदुक्तं गुरुभिः—

'तत्स्थ अश्नीयात् पिबेद्गच्छेत्तिष्ठेत्सुप्यात् तावद्यावत्समासा-दितसकलचेष्टाफलः स योगी संपद्यते ततस्तमानयेद्विसृजेन्मोहये दुन्मीलयेदापूरयेद्विशिष्टं वा स्थानं प्रापयेत्।'

इत्यादि ॥३०॥

अथ—

व्यापकेन स्वरूपेण शक्त्या शक्तिं तु दारयेत् ।

समावेशबलाद् वीर्यभूतां व्यापकतामास्थाय स्वशक्त्या तत्प्राणशक्तिं दारयेत् छेदार्थमाक्षिपेत् ॥

तदेतत्संपुटीकृत्य शक्तिच्छेदं तु कारयेत् ॥३१॥

तथा स्वशक्त्या सर्वतो वलित्वा परप्राणशक्तिं च्छुरिकाप्रयोगेण च्छिन्द्यादित्यर्थः ॥३१॥

शक्तिरूपं ततो देवि सत्त्वमास्थाय योगवित् ।
स्वसत्त्वसत्तारूपेण चित्सूर्यत्वेन तापयेत् ॥३२॥
द्रावयेत्तु परस्थो हि रश्मीन् रश्मिभिरर्कवत् ।

शक्तिरूपं प्राणशक्तिप्रधानं सत्त्वं परजीवमास्थाय स्वीकृत्य योगी स्वसत्त्वस्य संबन्धिना शाक्तस्फुरत्तात्मसत्तारूपेण कारणेन चित्सूर्यत्वेनेति चैतन्यार्करूपितया सन्तापितं कुर्यात् । ततस्तदीयान् चक्षुरादिरश्मीन् परे तत्रैव परदेहे स्थितः सन् दीप्तैः स्वैश्चक्षुरादिभी रश्मिभिः सूर्य इव सोमरश्मीन् द्रावयेद् विलापयेत् ॥

तत्रापि योगबलात्—

योजयेद् हृदये सर्वान् शब्दादीनिन्द्रियाणि च ॥३३॥
भूतानि रसभूतानि गुणानेव हि सर्वतः ।
अन्तःकरणसंघातं

परसंबन्धीनि विषयभूतबहिरन्तःकरणानि प्रोक्तविलापनतो रसभूतानि द्रुतत्वमाप्तानि सर्वाणि योजयेदात्मन्येकीकुर्यात् ॥

अथ—

गृहीत्वा तत्स्वचेतसा ॥३४॥
प्रविशेत्तु तदा योगी पुरमाक्रम्य सर्वतः ।
द्रुतं गृहीतं तत्सर्वं क्षिप्रमात्मस्थमानयेत् ॥३५॥

तदिति पूर्वोक्तं सर्वं गृहीत्वा, आगमोक्तदृष्ट्या साध्यस्य मूर्धद्वारेण निष्क्रम्य चेतसा पुरं शरीरं प्रविशेत् । ततस्तदाक्रम्य शक्त्याऽस्य यत् पूर्वं द्रुतं विलापितं संगृहीतम्, तत् सर्वं क्षिप्रमात्मनिष्ठं कुर्यात् ॥३५॥

तदित्थं योगी—

तत्क्षणादानयेज्जीवं मुद्रामन्त्रप्रयोगतः ।

मुद्राऽत्र प्रथमं स्वशरीरनिःसरणसमये करङ्किणी, तच्छरीराक्रमणे क्रोधना, तद्रश्म्यादिविलापने लेलिहाना, तत्पुराद् निःसरणे खेचरी, स्वहृत्प्राप्तौ भैरवी। तद्बन्धसतत्त्वं श्रीविज्ञानभैरवोद्द्योतेऽस्माभिर्दशितम्। मन्त्रस्तु पञ्च-पिण्डक्षुरिकाकालरात्र्यभिधानः श्रीगुप्ततन्त्रात् श्रीपूर्वादिदृष्टः। तत्प्रयोगाद् योगिन्यः क्षणात् परजीवमानयन्ति॥

अतश्च—

अनेन विधिना सूक्ष्मं योगी योगं समभ्यसेत्॥३६॥

तत्सर्वं प्राप्नुयात् क्षिप्रं सूक्ष्मयोगेन योगवित्।

प्रथममुक्तदृशा योगमभ्यस्येत् ततो योगविदनेन सूक्ष्मेण योगेन, तत्सर्वमिति जीवाकर्षणमागमोक्तं च तत्सिद्धिफलं क्षिप्रमाप्नोति।

उपसंहरति—

सूक्ष्मयोगः समाख्यातः

अथ—

स्थूलश्चैवाधुनोच्यते॥३७॥

तमाह—

पिण्डस्थं तत्प्रयोगेण पिण्डमाकर्षयेद् ध्रुवम्।

पिण्डस्थं स्थूलशरीरगतम्, पिण्डं पुर्यष्टकदेहम् तत्प्रयोगेणेति तत्तत्प्रतिकृति-कर्म विचित्रगरदानादियुक्त्या क्षुद्रया, आकर्षयेत्॥

तथा—

मन्त्रमुद्राविधानेन विधिना पांसवेन च॥३८॥

ध्यानयोगबलेनैव छुम्मकाद्यङ्गलक्षणैः।

पातयन्ति न संदेहः पशूनां पाशवं पुरम्॥३९॥

तत्र मन्त्रविधानेन मारणं श्रीस्वच्छन्दे दर्शितम्—

'क्रोधराजनिरुद्धं तु श्मशानपटमध्यगम्।
श्मशानधूलिना लेख्यं विषरक्तान्वितेन च॥
यस्य नाम वरारोहे हुंफट्कारविदर्भितम्।
मारयेति समायोगात् क्रूरजातिविदर्भितम्॥
म्रियते सप्तरात्रेण यो रक्षाभिः सुरक्षितः।' (६।६४।६६)

इति। मुद्राविधानं तु व्योमकुण्डलिनीत्यादिमान्त्रसंप्रदायोपक्रमेण—

'बद्ध्वा सप्तशिखां मुद्रामाशिखान्तं हलाकृतिम्।'

इत्यादिना,

'तदा ग्रसन्ति योगिन्यो रावं कृत्वा शिखान्तरे ।'

इत्यन्तेन श्रीगुप्ततन्त्रे प्रदर्शितम् । पांसवविधिरपि—

'सप्तम्यां कृष्णपक्षस्य प्रभाते लक्षयेत् सदा ।
कृतन्यासबला धीराधीरा वा योगिनी प्रिये ।।

प्रथमं निर्गता या तु नारी वा पुरुषोऽपि वा ।
वामदक्षिणहस्ताभ्यां वामदक्षिणपादयोः ।।

ग्राहयेत् पांसुमुद्धृत्य दक्षिणे पुरुषस्य च ।
अपसव्येन वामाया मल्लोके मारयेत् सदा ।।'

इत्यादिना तत्रैव दर्शितः । ज्ञानयोगबलं योगीश्वर्यात्मनिजमूर्त्यविशादनाभ्युदयक्रमेण साध्यदेहस्थपञ्चमृताकर्षणसामर्थ्यम् । छुम्मकानि आगमिकपारिभाषिकनामानि, तद् यथा—

[1]'शस्त्रं विभागजननम् मांसं बलविवर्धनम्, कालेयकं कुसुमम्, वसा मण्डम्, शिरो विचारः, शस्त्रहतो लब्धः ।'

इति, आदिनाऽन्येषां तत्तड्डाकिनीतन्त्रोक्तानामाचाराणाम् तैर्यान्यङ्गानामुपहारीक्रियमाणानां लक्षणान्यङ्कनानि हठपशुयुक्त्या च्छेदास्तैः ।।

तदित्थम्—

त्रिविधेन तु योगेन योगिन्यो बलवत्तराः ।
जिघांसन्ति यदा देवि तदा श्रेयः समाचरेत् ।।४०।।

त्रिविधाद् योगादाद्यः प्रकारः पशोर्मुक्ति ददातीति श्रुत्यैवोक्तः, द्वितीयतृतीयौ भोगमोक्षौ वितरत इत्यर्थलब्धौ । आम्नायान्तरेषु चैतदस्तीत्याशयेन योगेश्याभक्षितस्यागमेषु मृतोद्धारादिदीक्ष्यत्वमुच्यते ।।४०।।

श्रेयःसमाचारं दर्शयति—

मृत्युजित् परमं देवममृतं सर्वतोमुखम् ।
परेणैव स्वरूपेण व्यापकत्वेन मन्त्रवित् ।।४१।।

ज्ञात्वा तं परमं योगं मन्त्री व्याप्य पशोः पुरम् ।
इच्छाशक्त्या त्वधिष्ठाय पशूनां जीवितं शुभम् ।।४२।।

---

१. स्वच्छन्दतन्त्रे पञ्चदशे पटले छुम्मकानि द्रष्टव्यानि ।

संरक्षेद्योगविन्मन्त्री क्रमाज्ज्ञात्वा तु योगिनाम् ।
पूर्वोक्तानां तु सर्वेषां हिंसकानां यशस्विनि ॥४३॥

यथोक्तविशेषणविशिष्टं पूर्वनिर्णीतदृशा मृत्युजित्स्वरूपं मन्त्रविदिति सर्वमन्त्रचैतन्यरूपं ज्ञात्वा तथा पूर्वोक्तानां हिंसकानां योगिनीनामिति योगिन्यादीनां सर्वेषां संबन्धिनं तमिति पराशक्तिव्याप्त्या उक्तं परं योगं ज्ञात्वा मन्त्री मन्त्रवीर्यज्ञो योगवित्परेणैव स्वरूपेणेत्युक्तपरध्यानेन पशूनां पुरं शरीरं व्याप्य तदुन्मिषितस्फुरत्तात्मानन्दव्याप्तिसारयेच्छाशक्त्या तेषामेव जीवितमधिष्ठाय आच्छुरितं कृत्वा मन्त्रक्रमादितीहत्यमान्त्रपरामर्शयुक्त्या रक्षेत् ॥४३॥

एवं परयोगमुद्रितानां परध्यानक्रमेण रक्षामुक्त्वा सूक्ष्मयोगमुद्रितानां सूक्ष्मध्यानक्रमेणाप्याह—

सूक्ष्मं स्वशक्तिमार्गेण चक्रानुगमयोगतः ।
पूर्वोक्तग्रन्थिभेदेन सूक्ष्मध्यानेन योगवित् ॥४४॥
मोचयेत् सर्वदोषेभ्यो नान्यथा तु कदाचन ।
ज्ञानयोगबलोपेतो मन्त्रतन्त्रविशारदः ॥४५॥

योगिनीप्रयुक्तं सूक्ष्मं योगं ज्ञात्वा ज्ञानयोगबलशाली मन्त्रतन्त्रविषये विशारदो निर्मलधीरत एव मन्त्रविद् इहत्यमन्त्रवीर्यज्ञ आचार्यः स्वशक्तिमार्गेण पूर्वोक्तचक्राधारयुक्त्या ग्रन्थ्यादिभेदेन सूक्ष्मध्यानामृतेन सर्वदोषेभ्यः साध्यं मोचयेत्, नत्वज्ञातसूक्ष्मयोगः सूक्ष्मयोगमुद्रितं कदाचिद् मोचयितुं क्षमः ॥४५॥

स्थूलयोगमुद्रितोन्मुद्रणायाह—

मृत्युजित्सिद्धमन्त्रश्च तपस्वी संयतेन्द्रियः ।
ध्यानमन्त्राभियुक्तश्च सत्त्वस्थो ज्ञानवान् बली ॥४६॥
संतुष्टः परमो योगी इष्टापूर्तविधौ रतः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तो लोभमोहविवर्जितः ॥४७॥
निर्भयश्चैव निःशङ्को ह्यनुग्रहपरायणः ।
पूर्वोक्ताद्दारुणाद्दोषान्मोचकः स भवेत् प्रिये ॥४८॥

मृत्युजिता मन्त्रेण सिद्धमन्त्रस्तपस्वी जितचित्तोऽतश्च संयतानि निवृत्तविषयाभिलाषाणीन्द्रियाणि यस्य, वीर्यज्ञत्वात् सिद्धमन्त्रोऽपि जपध्यानासक्तः, सत्त्वस्थो निःसंशयः, ज्ञानवान् परतत्त्ववित्, बली लब्धशाक्तस्फारः, अत एव योगी इष्टापूर्तयागदानादौ रतोऽभिनिविष्टः, लौकिकरागादिदोषहीनः, निर्भयो बल्यादिकर्मसु प्रगल्भः, निःशङ्को वीराचारः, अनुग्रहपरायण आचार्यो यागहोमबल्यादिकर्मणैव मन्त्रमुद्रापांसवविध्यादिमुद्रात्मनो दारुणाद् दोषाद् मोचको भवत्येव ॥४८॥

अनेनैवंविधानेन तु मन्त्रवादः कार्यं इत्याह—

अन्यथा वर्तते यस्तु स भवेदात्मनाशकः ।
स्वकुलभ्रंशको दुष्टो नरके पच्यते ध्रुवम् ॥४९॥

स्वकुलात् तत्तद्देवतांशकस्थितेर्भ्रंश्यति सकम्पत्वादेर्दोषाद् दुष्टो नश्यति । तदुक्तम्—

'नान्यच्छिद्रं प्रपश्यामि मन्त्रिणो मन्त्रसाधने—

इत्यादि ॥४९॥

तत्त्वज्ञेनापि न यथा तथा मन्त्रवादः कार्यं इत्याह—

भूताश्च विविधाकारा मातरो दुष्टहिंसकाः ।
योगिन्यो गुह्यका यक्षाः पिशाचा दुरतिक्रमाः ॥५०॥
बलिकामा हन्तुकामा भोक्तुकामास्तथापरे ।
रतिकामा ह्यसाध्याश्च स्कन्दाद्या ब्रह्मराक्षसाः ॥५१॥
असंख्यातास्ततो घोरा न तैस्तु सह कुत्रचित् ।
विरोधश्चैव कर्तव्य आत्मज्ञैः स्वार्थपण्डितैः ॥५२॥

दुष्टहिंसका अपस्माराद्याः । गुह्यकाः प्रधानयक्षाः । स्कन्दा बालग्रहाः, आद्यशब्दाद् विघ्नाः । आत्मज्ञत्वं तत्त्ववित्त्वम् । विरोधकरणे हेतुः स्वार्थपाण्डित्यम्, स्वदेहपुत्रकलत्रादिरक्षापरत्वात्, भूताद्या हि विरुद्धा देहाद्युपघातं चिन्तयन्ति ॥

यथोक्तरूपश्च मन्त्रवादः—

धनार्थिभिर्वा लुब्धैश्च न कार्यश्च यशोर्थिभिः ।

लुब्धाः कृपणाः ॥

किन्तु—

स्वकुटुम्बसुतादीनां कारुण्याच्चैव कारयेत् ॥५३॥

कारुण्यादेवान्यस्य कुर्यात् ॥५३॥

तथा—

नृपाणां तत्सुतानां च तत्पत्नीनां च सर्वदा ।

यतः—

यस्मिन् देशेऽथवा राष्ट्रे निवसेन्मन्त्रयोगवित् ॥५४॥
तत्र राजा प्रभुश्चैव सदैवाश्रमिणां गुरुः ।

सम्यक्प्रजापालनात् ॥

अतश्च—

तत्कृते वर्तमानस्य क्षमन्ते तास्तु मातरः ॥५५॥
पूर्वोक्ताद्दारुणाद्घोराः प्रशमं यान्ति सर्वथा ।

वर्तमानस्येति मन्त्रवादं कुर्वतः । दारुणादिति हिंसादेः । घोरा इत्यन्येऽपि भूताद्याः ॥

ताश्च बल्युपहारेण भूरियागेन ते नृपाः ॥५६॥
सन्तोषयन्ति यस्माद्वै तस्मात् सर्वं क्षमन्ति ताः ।
मन्त्रवादो हि सर्वत्र न कार्यः शिवचिन्तकैः ॥५७॥

प्रोक्त एव च विषये—

नानाविधैरुपायैश्च शरीरं पाञ्चभौतिकम् ।
विनाशयन्ति ये घोरास्तेषां प्रशमनं शृणु ॥५८॥
स्थूलं स्थूलेन योगेन चूर्णधूपविलेपनैः ।
यन्त्रचक्रप्रयोगैश्च जीवरक्षादिभिस्तथा ॥५९॥
धारणाध्यानयोगैश्च सिद्धमन्त्रैश्च सर्वदा ।
मुद्रामन्त्रविधिज्ञैश्च गमागमविचिन्तकैः ॥६०॥
भूततन्त्रविधौ वीरैरौषधज्ञैः सुचिन्तकैः ।
संयतैरप्रमत्तैश्च सर्वसङ्करवर्जितैः ॥६१॥
स्नातैश्च कृतपूजैश्च जपध्यानपरायणैः ।
लक्ष्यलक्षणवेदज्ञैर्निरपेक्षैः सुपेशलैः ॥६२॥
मन्त्रवादस्तु कर्तव्यो नान्यथा क्षेमचिन्तकैः ।

स्थूलो योगस्तत्तद्देवताकृतिध्यानादि । चूर्णं नानौषधिजम्, ओषधिक्रिया-योगस्तु विशिष्टैकौषधिप्रयुक्तिः । आलेपनं दीप्तमन्त्राम्भःप्रोक्षणादिना । यन्त्र-चक्रं विशिष्टसंनिवेशलिखितो मन्त्रसमूहः । चकाराद् मन्त्रसंपुटीकारादिना जपः । तैर्या पूर्वंनिर्णीतस्य जीवस्य रक्षा, आदिशब्दात् शरीररक्षा आप्यायनाद्यर्था । योजनादिधारणास्तथा तद्ध्यानपूर्वं योगाः साध्यदेहामृतप्लावनादिसमाधयस्तैः । सिद्धाः मन्त्रा पठितसिद्धाः कल्पोक्तविधिना आराधिता वा । तैरेतैः कारण-भूतैर्मन्त्रादिविधिज्ञैरर्थादाचार्यैः कर्तृभिर्मन्त्रवादः कार्यः, न अन्यथा । कीदृशैर्मन्त्रा-दिज्ञैः । गमागमयोर्विचिन्तकैर्मन्त्रलक्षणज्ञैरित्यर्थः । तथा वीरैर्निष्कम्पैः । सुचिन्त-कैस्तत्त्वाधिरूढधिषणैः । संयतैर्जितेन्द्रियैः, अप्रमत्तैरनवलिप्तैः, सर्वसङ्करवर्जितैः स्वशास्त्रोक्तविधिनिष्ठैः । लक्ष्यं भूतादिगृहीतस्वरूपम्, लक्षणानि तन्त्रोक्तानि चिह्नानि, वेदास्तज्ज्ञप्तिसाधनानि शास्त्राणि, तज्ज्ञैः । निरपेक्षैः क्षीणलोभलौल्या-भिमानादिदोषैः । सुपेशलैरदाम्भिकैः । क्षेमचिन्तकैरित्यत्रायमाशयः—यद्युक्त-

क्रमातिक्रमेण तत् क्रियते, तदा क्षेममेव बाध्यते । एवमेतैः श्लोकैः पूर्वोक्तप्रायः एवार्थः सोपस्कार उक्तः ॥

सर्वथेदमत्र सतत्त्वमित्याह—

यदीच्छेदुत्तमां सिद्धिं मोक्षं वा शाश्वतं ध्रुवम् ॥६३॥
मन्त्रवादो न कर्तव्य इत्याह परमेश्वरः ।
अनुग्रहार्थं मर्त्यानां भूपतीनां कुटुम्बिनाम् ॥६४॥
अनुग्रहपदस्थेन कर्तव्यो हितमिच्छता ।

ध्रुवं निश्चतम् । अनुग्रहार्थम् न तु लोभपूजाद्यर्थम् । अनुग्रहपदस्थेनेत्याचार्येणानुकम्प्यविषय एव कर्तव्यः ॥

तत्रापि—

कदाचिन्न प्रबन्धेन

सदा कुर्वन्नाशमेतीत्याह—

यदि कुर्याद्विनश्यति ॥६५॥

यतः—

न क्षमन्ते बलोपेताः शिवयागेषु भाविताः ।
नित्यशुद्धा वीतभया भैरवाज्ञानुपालिनः ॥६६॥

योगिनीभूताद्या नित्यशुद्धा रागद्वेषादिहीनाः ॥६६॥

बलोपेतत्वे युक्तिमाह—

आज्ञप्तास्ते मया पूर्वं मुद्रामन्त्रप्रयोगतः ।
आत्मार्थं ते जिघांसन्ति तेन ते बलिनः स्मृताः ॥६७॥

आज्ञप्ता इति पूर्वोक्तदुराचारच्छिद्रणाय नियुक्ताः ॥६७॥

अत्र पुराकल्पं स्मारयति—

पुरा देवातिदेवेन शिवेन परमात्मना ।
सृष्टा ह्यनेन विधिना विचरन्ति दिशो दश ॥६८॥
तद्बलेन समाविष्टा जयिनो बलवत्तराः ।
प्रवृत्तास्ते महाघोराः पूर्वं देवजिघांसया ॥६९॥

अनेनेत्येतच्छास्त्रोद्दिष्टेन दैत्योन्मूलनात्मना ॥६९॥

ते च दैत्योन्मूलनानन्तरं भगवद्धृता दुर्जया देवजिघांसापरा अपि यदा जातास्तदा चतुर्दशविधं सर्गं भोक्तुं प्रवृत्ताः सन्तः—

दृष्टाः स्वयम्भुवा पूर्वं

यतस्ततः सृष्टाः—

मन्त्राश्चामोघशक्तयः ।
सप्तकोटयस्तु बलिनो वशिनः प्रतिपक्षकाः ॥७०॥

चकाराद् विद्याश्च । वशिनः स्वतन्त्राः । प्रतिपक्षा इति भूतादीनाम् ॥७०॥

अतश्च—

ये दुष्टा जगतो घोरा जिघांसन्ति बलोत्कटाः ।
तेषां हि शमनार्थाय जगतो रक्षणाय च ॥७१॥
मन्त्रौषधक्रियायोगः शतशोऽथ सहस्रशः ।
आज्ञप्तः परमेशेन तदर्थं हि प्रवर्तनम् ॥७२॥
मन्त्रवादेषु सर्वेषु

प्रोक्तविषये कृपातः कदाचिदेव ॥

नाज्ञाभङ्गेन चान्यथा ।

एवं हि पारमेशाज्ञानुवृत्त्या विषये प्रयुज्यमानाः—

तत्प्रभावाच्च बलिनो मन्त्राश्चामोघशक्तयः ॥७३॥
तद्वीर्यापूरिताः सर्वे शेषा वर्णास्तु केवलाः ।

तच्छब्देन परमशिवः परामृश्यते ॥

यतश्च पूर्वोक्तदृशा परमशिवरूपः सर्वमन्त्रवीर्यभूत इहत्यो मन्त्रराजः—

मृत्युजित्तेन चाख्यातः सर्वमन्त्रेश्वरः प्रभुः ॥७४॥
न चास्य कश्चिन्मन्त्रो वा विद्या वाज्ञां विलङ्घयेत् ।

सर्वे दुष्टाश्चास्य भगवतः—

स्मरणाच्च पलायन्ते सिंहस्येव मृगादयः ॥७५॥

तत्त्वविद इति शेष इति शिवम् ॥७५॥

मन्त्रा मन्त्रयितारो मन्त्राक्रम्याश्च सर्वमन्त्राश्च ।
यस्याज्ञावशगास्ते तदान्तरं जयति शाङ्करं नेत्रम् ॥

इति श्रीनेत्रोद्द्योते विंशोऽधिकारः ॥

———

एकविंशोऽधिकारः

जयति स्वपरिस्पन्दानन्दान्दोलनलीलया ।
मन्त्रतत्त्वं त्रितत्त्वात्म तन्त्रयन्नेत्रमैश्वरम् ।।

सर्वमन्त्रेश्वर इति यदधिकारान्त उपक्षिप्तम्, तन्निर्णयाथ मन्त्रसतत्त्वं तावद् जिज्ञापयिषुः श्रीदेवी उवाच—

मन्त्राः किमात्मका देव किंस्वरूपाश्च कीदृशाः ।
किंप्रभावाः कथं शक्ताः केन वा संप्रचोदिताः ।।१।।

क आत्मा येषां शंभुः, शक्तिरणुर्वा । किंच स्वरूपं निराकृति साकृति वा येषाम् । किमिव दृश्यन्ते कीदृशाः, निराकाराः कर्तारो न केऽपि केनचित् दृश्यन्ते, साकारा अपि कुम्भकृद्वन्न सर्वकर्तारो दृश्यन्ते । कः प्रभावो भुक्तिमुक्तिदोषप्रशमको नित्यो येषाम् । कथं केन प्रकारेण शक्ताः, यतो निराकारस्य व्योमवत् न शक्तता, अतश्च तन्मूला अपि कर्तृता कथम् । आकृतिमत्त्वेऽवच्छिन्नस्य मलिनस्यास्वातन्त्र्यात् का शक्तिः, अशरीरस्य च नानुग्रहादौ कर्तृत्वम्, नापि परमेश्वरप्रयोज्यत्वमुपपन्नम् । अत एवानाकृतेः परमेश्वरस्यापि कथं शक्तत्वं प्रचोदकत्वं चेत्याशयेन केन वा संप्रचोदिता इत्युक्तम्, केन प्रकारेण कर्त्रा चेत्यर्थः ।।१।।

तदेतत् क्रमेण स्फुटयति—

शिवात्मकास्तु चेद्देव व्यापकाः शून्यरूपिणः ।
क्रियाकरणहीनत्वात् कथं तेषां हि कर्तृता ।।२।।
अमूर्तत्वात् कथं तेषां कर्तृत्वं चोपपद्यते ।
विग्रहेण विना कार्यं कः करोति वद प्रभो ।।३।।

यदि शिवात्मका मन्त्राः, तदा तेषां शिववद् व्यापिनां परिस्पन्दात्मनां क्रियया करणैश्च हीनत्वात् कथं कर्तृत्वं शिववदमूर्तत्वादपि न तद् युज्यते, यतो विग्रहं विना न कश्चित् कार्यं कुर्वन् दृष्टः । एवं शिवस्यापि यन्मन्त्रप्रचोदकत्वम्, तत् कथमित्यनेनैवाक्षिप्तम् । एवंप्रायं च श्रुत्यन्तविदां मतम् । ते हि गुणवत एव कर्तृत्वमितीश्वरोपासामगुणब्रह्मोपासेति मत्वाऽकर्त्रेव निस्तिमितं सांख्यपुरुषकल्पमद्वयं ब्रह्म इच्छन्ति ।।३।।

यतः—

न दृष्टो ह्यशरीरस्य व्यापारः परमेश्वर ।

कस्यापि ॥

एवं च—

शरीरिणो यतो बन्धः

ततः—

कथं बद्धस्य कर्तृता ॥४॥

किं च, शरीरित्वादेव शिवमन्त्रादिवर्गो मलिन इति मलिनत्वादस्वतन्त्रो लुप्तशक्तिर्विभाव्यते ।

उक्तं हि—

'पशुर्नित्यो ह्यमूर्तोऽज्ञो निष्क्रिय' (श्रीकिरणा) इति ॥४॥

अतश्च—

शक्तिहीनस्य कर्तृत्वं विरुद्धं सर्ववस्तुषु ।

क्वचित् त्वंशे कुम्भकारपशोरिवास्तु, किं तेन तदित्थं किमात्मकाः किंस्वभावाः कीदृशाः कथं शक्ताः केन वा प्रचोदिता इति शाम्भवत्वे प्रश्नपञ्चकं स्फुटीकृतम् ॥

किंप्रभावा इति प्रश्नं स्फुटयति—

एवं शिवात्मका मन्त्राः कथं सिध्यन्ति वस्तुतः ॥५॥

एवमुक्तदृशा वस्तुतो व्यापकनिराकारशिवस्वभावा नित्यनिर्मुक्तशुद्धबोधमात्ररूपाः कथं सिध्यन्ति, कथं सिद्धीर्वितरन्तीत्यर्थः ॥५॥

एवं शांभवत्वं मन्त्राणां विकल्प्य शाक्तत्वमपि विकल्पयति—

अथ चेच्छक्तिरूपास्ते

तर्हि यच्छक्तिरूपास्ते, सा—

कस्य शक्तिस्तु कीदृशी ।

किंसंवन्धिनीं किंस्वभावा च ।

तमेव तत्स्वभावं विकल्पयति—

शक्तिः किं कारणं देव कार्यं तस्याश्च कीदृशम् ॥६॥

किं स्वरूपसहकारिरूपा शक्तिराहोस्विदतीन्द्रिया कार्योन्नेया, कार्यमपि तस्याः कीदृशम् ॥

न च स्वरूपसहकार्यात्मस्वतन्त्रवस्तुरूपा वक्तुं शक्यते शकनात्मा शक्तिः, नाममात्रकरणेन तु न विमतिरित्याह—

यावन्न शक्तिमान् कश्चित् ।

तावत्—

कस्य शक्तिर्विधीयते ।

प्रतिपाद्यते ॥

यतः सा—

स्वतन्त्रा न प्रसिध्येत्तु विना सिद्धेन केनचित् ॥७॥
असिद्धेन तु यत्साध्यं तदसिद्धं प्रचक्षते ।
वस्तुशून्या न चैवात्र शक्तिर्वै विद्यते क्वचित् ॥८॥
शक्तिरूपास्तु ते मन्त्राः केवलास्तु विपर्ययः ।

केवलाः शक्तिरूपा इत्यस्पृष्टशाम्भवधामशक्तिमात्रात्मका मन्त्रा इत्ययं विपर्ययो भ्रमः, यतः सिद्धेन केनचिद् वह्निना इव धर्मिणा विना दाहकत्वादिधर्मरूपेव न काचित् स्वतन्त्रा शक्तिः प्रसिध्यति । न च तथैव शकनरूपया शक्तिमानाश्रयभूतः कश्चित् साधयिष्यत इति युक्तम् । यत आश्रयसिद्धिं विना न शक्तिसिद्धिः, शक्तिसिद्धिं विना न आश्रयसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः । यदाहुः—

'तदसिद्धं यदासिद्धेन साध्यते'

इति । न चातीन्द्रियाऽपि काचिदसौ शक्तिमद्वस्तु विनाऽस्तीति न शाक्ता अपि मन्त्राः ।

आणवत्वमपि विकल्पयितुमाह—

अथ चेदाणवा मन्त्रा विग्रहाकाररूपिणः ॥९॥

तर्हि ते—

आत्मस्वरूपा विख्याता मलिना बलिनो नहि ।

एवं च—

मलिनो मलिनस्येव प्रक्षालयति कस्य कः ॥१०॥

निर्मला एव मलिनममलीकर्तुं क्षमाः, न तु मलिनाः । मन्त्राश्च आणवत्वादात्मवन्मलिना एव ॥१०॥

एवं च—

न सिद्धा ह्याणवा मन्त्रा केवलाः परमेश्वर ।

ये आणवास्ते न केवला न शुद्धाः । अतश्च कथमन्यान् केवलीकुर्युः कथं वाऽसाध्यं साधयेयुरित्याशयशेषः ॥

तर्ह्यन्य एव केचिदेते भविष्यन्तीत्याह—

तत्त्वत्रयं विनास्तित्वं विरुद्धं वस्तुसन्ततेः ॥११॥

आगमेषु न विना त्रितत्त्वं किंचिदस्तीत्युच्यते, नापि परप्रमातृप्रमेयात्मतां विना किंचिदप्युपपद्यते ॥११॥

अतश्च—

युक्तिरेवात्र वक्तव्या प्राणिनां हितकाम्यया ।

कथमेतदुपपद्यत इति यतः सम्यग्विचाररूपा युक्तिरेव सर्वहृदयप्रत्यायिका । यदुक्तं सौरभेये—

'या चिद्व्यापाररूपैव युक्तिः सर्वत्र साधनम् ।
भोगे वाप्यथवा मोक्षे तस्मात्तत्रादृतो भवेत् ॥'

इति ॥

न च यद्युक्तविचारतो मन्त्रा नोद्युपपद्यन्ते, मा उपापादिषतेति वाच्यम् । यतः—

दृश्यन्ते बलिनो मन्त्रा अप्रधृष्याः सुरासुरैः ॥१२॥
सर्वानुग्राहकत्वेन सर्वदाः सर्वगाः शिवाः ।

चतुष्कलनाथादयो मन्त्रा आर्तिनिवारणसिद्धिमुक्तिप्रदा अनुभूयन्त एव ॥

तदित्थम्—

संक्षेपतो महादेव संशयं तु वदस्व मे ॥१३॥
त्वत्तः परतरो नान्यः कश्चिदस्ति जगत्पते ।
ब्रूहि सर्वं महेशान यदि तुष्टोऽसि मे प्रभो ॥१४॥

हे महादेव स्व आत्मन् संक्षेपतः संशयमिमं वद संशयविषयं निश्चिनु । यतो न त्वदन्यः प्रकृष्टो निर्णेता कोऽप्यस्ति, अतो यथाप्रश्नितं सर्वं ब्रूहि ॥१४॥

एवं श्रुत्वा श्रीभगवानुवाच—

अहो प्रश्नो महागूढो न पृष्टोऽहं तु केनचित् ।
चोदितं तु मया सर्वं सर्वशास्त्रेषु सर्वदा ॥१५॥
न विन्दन्ति विमूढास्तु माययाच्छादिताः सदा ।

यस्त्वया प्रश्नः कृतः, सोऽत्यर्थं गूढः । तं चाहं न केनचित् पृष्टः । मया तु यदत्र वक्तव्यम्, तत् सर्वं सर्वशास्त्रेषूक्तम् । सर्वकालं मायया आच्छादितास्तु जना उक्तमपि वैमुख्यान्न लभन्ते, त्वं तु विदितशास्त्रसतत्त्वाऽपि विमूढजनानुकम्पयैव प्रकाशयितुमिच्छसीत्याशयशेषः । न पृष्टोऽहं तु केनचित् चोदितास्तु मया सर्व इति पाठेऽहं केनचित् पृष्टः, अपि तु कुमारब्रह्मविष्ण्वादिभिः सर्वैस्तदन्यत् पृष्टः, ते च मया तत्र तत्र शास्त्रे चोदिता उद्बोधिना अपि न विन्दन्ति, त्वया तु तत्त्वज्ञतया गूढोऽयं प्रश्नः कृत इत्यर्थः ॥

अथ प्रश्नितं निर्णयति—

तत्त्वत्रयं विना वस्तु मन्त्रो वक्तुं न युज्यते ॥१६॥

मननत्राणधर्मका हि मन्त्रा ज्ञानक्रियाशक्तिसतत्त्वशक्त्यणुपक्षनिष्ठा अपि शक्तेः शक्तिमदव्यतिरेकात् शाम्भवा अपीत्यर्थः ॥१६॥

अत्र दण्डापूपीयन्यायमाह—

आस्तां तावत्

प्रकृतो मन्त्रवर्गः ॥

जगत्सर्वं तत्त्वहीनं न सिध्यति ।

तत्त्वं स्वच्छस्वच्छन्दचित्प्रकाशात्मा परमशिवः । तदेव च विश्वस्य सिद्धिरप्रकाशात्मनः प्रकाशात्मकसिद्ध्ययोगात् ।

इत्थं परचित्प्रकाशात्मत्वादेव—

त्रितत्त्वनिर्मितं सर्वं यत्किंचिदिह दृश्यते ॥१७॥

परो हि प्रकाशः स्वाच्छयस्वाच्छन्द्याभ्यामिच्छाज्ञानक्रियाशक्तिसतत्त्वतत्त्वत्रयभूमौ स्वानतिरिक्तमप्यतिरिक्तमिवैषणीयज्ञेयकार्यात्म जगदाभासयति पश्यन्त्यादिपदेष्विव वाच्यवाचकक्रमं जीवः ॥१७॥

एवमुक्तरीत्या—

तत्त्वत्रयं विना देवि न पदार्थो हि विद्यते ।
तस्मात्तत्त्वत्रयं सर्वं परं चापरमेव च ॥१८॥

परं शुद्धोऽध्वा, अपरं त्वशुद्धः ॥१८॥

एवं च—

शिवात्मकाः शक्तिरूपा ज्ञेया मन्त्रास्तथाणवाः ।
तत्त्वत्रयविभागेन वर्तन्ते ह्यमितौजसः ॥१९॥

पारमेश्वरेच्छादिशक्तिनिविष्टाः शिवादिरूपाः, अतश्च अमितमोजः सर्वत्रानुग्रहादावप्रतिहतं शक्तत्वं येषाम् ॥१९॥

तदेतत् तत्त्वत्रयात्मत्वं जगतो वितत्य निरूपयितुमाह—

परं सर्वात्मकं शुद्धमनाद्यं कारणं ध्रुवम् ।
अप्रमेयमनिर्देश्यमनौपम्यमनामयम् ॥२०॥
निराभासं परं शान्तं सर्वावयववर्जितम् ।
व्यापकं सर्वतोभद्रं सार्वज्ञ्यादिगुणैर्युतम् ॥२१॥
विज्ञानघनसंपूर्णं स्वानन्दानन्दनन्दितम् ।
निरानन्दं निर्विकल्पं निराचारं निरक्षरम् ॥२२॥

अद्वैतं कल्पनाहीनं चिद्घनं चिन्मलापहम् ।
चिदचिद्व्यापकं ज्ञेयं नित्योदितमनुत्तमम् ॥२३॥

निर्विकारं परं नित्यं निर्मलं निरुपप्लवम् ।
सर्वोपमानरहितं सर्वभावविवर्जितम् ॥२४॥

सर्वरूपकलातीतमचलं शाश्वतं विभुम् ।
सर्वगं सर्वभावस्थं सर्वभूतेषु संस्थितम् ॥२५॥

हृदिस्थं सर्वभूतानां प्रेरकं सर्ववस्तुषु ।
न तेन रहितं किंचिद् दृश्यते सुरवन्दिते ॥२६॥

तस्मात्सर्वगतं विश्वं स एकः परमेश्वरः ।
सर्वज्ञो नित्यतृप्तश्च तस्य वोधो ह्यनादिमान् ॥२७॥

स्वतन्त्रोऽलुप्तशक्तिश्चानन्तशक्तिर्महेश्वरः ।
तस्य चेच्छा महेशस्य न विकल्प्या कथञ्चन ॥२८॥

अमेयत्वादनादित्वात् कथं केनोपलभ्यते ।
कार्यतो ह्यनुमानेन वस्तुतः परिभाव्यते ॥२९॥

कार्यं तस्य परा शक्तिर्यथा सूर्यस्य रश्मयः ।
वह्नेरुष्मेव विज्ञेया ह्यविनाभाविनी स्थिता ॥३०॥

सर्वानन्दकरी भद्रा शिवस्येच्छानुवर्तिनी ।
तद्धर्मधर्मिणी शान्ता नित्यानुग्रहशालिनी ॥३१॥

विवर्त एतत्सर्वं हि तच्छक्तेरनन्यतो भवेत् ।

परं धाम सर्वात्मत्वादिविशेषणविशिष्टं ज्ञेयम्, तस्य चेच्छाख्या शक्तिस्ता-दृश्येव कार्याद् जगदुदयादेरनामेया, कार्यमपि तस्यैव भगवतः पराऽद्वितीया शक्तिरभिन्नैव । तेन सर्वमेतत् परमेशशक्तेर्विवर्तो विचित्रात्मतया वर्तनमिती-दमत्र तात्पर्यम् । पदार्थस्तु—परं यत् प्रकृष्टं प्रकृतं मृत्युजित्तत्त्वं चिद्घनम्, तत् सर्वमात्मा स्वरूपं यस्य तादृक् । न तेन सर्वेण आच्छादितमिति शुद्धम् । स्वभित्तौ चानतिरेकिणोऽतिरेकिण इव शिवादेः क्षित्यन्तस्य विश्वस्यान्मीलकत्वाद् ध्रुवं निश्चितं कृत्वाऽनाद्यं सर्वादिभूतं कारणम् । नहि परममहसोऽस्य स्वस्वतन्त्र-चित्प्रकाशातिरिक्तं किमपि कारणं सिद्ध्यति । तदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

'यदसत्तदसद्युक्ता नासतः सत्स्वभावता ।
सतोऽपि न पुनः सत्तालाभेनार्थोऽथ चोच्यते ॥
कार्यकारणता लोके सान्तर्विपरिवर्तिनः ।
उभयेन्द्रियवेद्यत्वं तस्य कस्यापि शक्तितः' ॥ (२।४।३-४)

इति। विश्वकारणत्वादेवाप्रमेयम्। अतश्चेदमीदृगिति निर्देष्टुमभिधातुमशक्यम्। एवं चानौपम्यं न विद्यते उपमाऽन्येन सादृश्यं यस्य, तदतिरिक्तस्याभावादित्यर्थः। आभासादीषत्प्रकाशाद् निष्क्रान्तं न संकुचितचिद्वदीषद् भातीत्यर्थः। विश्वस्य तत्सामरस्येन स्थितेर्भेदोपशमात् परं शान्तम्। न च सदाशिवेशदशावदवयवकल्पमपि तत्र विश्वमतः सर्वावयववर्जितमित्युक्तम्। व्यापकं सर्वतोभद्रम्।

'केन नाम न रूपेण कल्याणकारि व्यापकम्'

इति चिदचिद्व्यापकमित्यनेन स्फुटीकृतम्, सार्वज्ञ्यादीति सर्वज्ञो नित्यतृप्तश्चेत्यादिना विज्ञानघनेति चिद्घनमित्यनेन। स्वानन्देति यथा स्वप्रकाशः प्रकाश उच्यते, तथा स्वोऽनन्यापेक्ष आनन्दश्चमत्कारात्मा विमर्शो यस्य तादृशा आनन्देन नन्दितं समृद्धम्, न तु विषयसुखवद् ग्राहकविमृश्यम्। निष्क्रान्ता आनन्दा अवच्छिन्नाश्चमत्कारा यतः, विकल्पेभ्य आचारेभ्य अक्षरेभ्यश्च निष्क्रान्तम्; अक्षरं जीवो वाचकमन्त्रकलात्मा च। कल्पनया हीनमद्वैतं प्रतिपक्षरहितमनुत्तमम्, चिद्घनमद्वैतम्। अतश्च तेषां जीवानां यन्मलं मायाशक्त्युत्थितः स्वरूपगोपनात्मा संकोचः, तत्प्रशमकृत्। नित्योदितं सदा स्फुरत्। निष्क्रान्ता विकाराः समग्रजगद्गतजन्मसत्ताविपरिणत्यादयो यस्मात्। परं विश्वापूरकम्। नित्यमकालकलितम् निर्मलमस्पृष्टाणवमलम्। निरुपप्लवमागन्तुकमायीयकार्ममलहीनम्। यथाऽद्वितीयत्वादुपमा साम्यमस्य न केनचित्, तथोपमानमपि न किंचिदस्ति। सर्वैर्भावैर्बुद्धिधर्मैर्विवर्जितम्। सर्वेषां पृथ्व्यादितत्त्वानां या रूपकलाः कल्यमानानि स्वरूपाणि, ता अतिक्रम्य स्थितम्। अचलं शाश्वतं च प्राग्वत्। विभुमीश्वरम्, सर्वं गच्छति गमयत्युपसंहरतीति सर्वगम्। गमिरत्रान्तर्भावितणिच्कः। सर्वेषु भावेषु जडेषु भूतेषु चाजडेषु स्थितं तद्विना तेषां स्थितेरयोगात्। एतदेव हृदिस्थमित्यादिना व्यक्तीकृतम् सर्वभूतानां हृदि ग्राहकपदेऽन्तरनुप्राणकत्वेन स्थितं सत् सर्ववस्तुषु प्रेरकं तत्तद्ग्राह्यकार्यनिष्ठं ग्रहीतृकर्तृताप्रदमित्यर्थः। अतश्च तेन रहितं न किंचिद् दृश्यते प्रकाशमानस्य तत्प्रकाश्यैक्यात्। यत् एवम्, तस्मात् सर्वगतं देवम्, यत् विश्वं तत् सर्वमेव परमेश्वर एकोऽद्वितीय इत्युक्त्या परमाद्वैतरूपता निर्वाहिता। सर्वज्ञ इत्यादि प्रागेव व्याकृतम्। एवमीदृशो नाथस्येच्छाख्या शक्तिरीदृशी एव। कार्यत इति जगत्सर्गसंहारादिकार्यादेव कर्तुश्चिन्नाथस्य सामर्थ्यात्मा साऽनुमीयते। यथोक्तं प्रत्यभिज्ञानाम्—

'फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः।'

इति। तस्यैव शक्तिमतस्तत् कार्यं पराऽद्वितीया शक्तिराभास्यत्वाद्याभासनात्मज्ञानशक्तिमयमिति यावत्, अत एव सूर्यरश्म्यादिवदभिन्नैव। एवंरूपतयैव हि स्फुरिताऽसौ सर्वेषामानन्दकरी शिवावेशहेतुः। अतश्च भद्रा कल्याणिनी प्रोक्तशिवेच्छानुगतत्वेन वर्तमाना। अतश्च तत्स्वभावत्वात् शान्ता निर्विकारा।

अत एवंरूपत्वादेव नित्यमनुग्राहिका। सर्वं च क्रियाशक्त्या निर्मितमेतज्जगत् तस्या एव विश्वाभासात्मनः शक्तेर्विवर्तो विचित्ररूपतया वर्तनम्, अतश्च नान्यतो भवेत्, तच्छक्तिकृतत्वं विनाऽन्यस्यैवाभावात्। यथोक्तं शिवसूत्रेषु—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (३।३०).

इति। श्रीसर्वमङ्गलायामपि—

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।'

इति॥

तदित्थम्—

सानन्दा तु परा शक्तिर्निरानन्दः परः शिवः॥३२॥

सह आनन्देन उल्वणेन हर्षेण वर्तते सानन्दा। निःशेषेण महासामरस्य-विश्रान्त्यात्मा आनन्दो यस्य, स निरानन्दः॥३२॥

आनन्दोल्वणत्वादेव च शक्तिः समुल्लसन्ती सर्वज्ञतादिगुणषट्काभास-रूपेत्याह—

सार्वज्ञ्यादिगुणा ये च शिवस्य परमात्मनः।
शाक्तास्ते नान्यतो दृष्टा ह्यन्यथानुपपत्तितः॥३३॥

परशक्तेरिच्छाप्रमुखं ज्ञानरूपतापत्तौ सर्वज्ञत्वादिव्यक्तेः शाक्ता एव एते गुणा इत्यर्थः॥

तदित्थम्—

एकः शिवस्तथैका तु शक्तिरेव हि शाश्वती।
अभिन्नाद्वैतसंस्थाना सैवैका समुदायिनी॥३४॥

अभिन्नं द्वैतप्रतियोगि यदद्वैतम्, तेन संस्था यस्याः। समुदायिनी अशेष-विश्वसामरस्यात्मा॥

सर्वज्ञतादिगुणवैचित्र्येण वर्तमानाऽपि कथमभिन्नेत्याह—

इच्छारूपा शिवस्यैषा ह्यभिन्ना सर्वतोमुखी।
किञ्चिदुच्छूनतापत्तेः सार्वज्ञ्यादिगुणास्ततः॥३५॥

किञ्चिदुच्छूनतया ज्ञानक्रियाशक्तिरूपतापन्ना परा शक्तिरेव सर्वज्ञतादि-रूपतया स्थितेत्यर्थः॥

अत एवाह—

ज्ञानरूपा तु सैवैका यदा संबोधयत्यलम्।
बोधो ह्यनादिरत्यन्तः परं ज्ञानं तु सा स्मृता॥३६॥

ज्ञानशक्तिरिति ख्याता सार्वज्ञ्यादिगुणास्पदम् ।
यदा स्वतन्त्रालुप्ता सा क्रिया करणरूपिणी ॥३७॥
वर्णरूपाष्टभेदेन स्फोटादिध्वनिरूपिणी ।
मातृका सा विनिर्दिष्टा क्रियाशक्तिर्महेश्वरी ॥३८॥
क्रियाख्या परमा सा तु सर्ववाङ्मयरूपिणी ।

सैवेति प्रक्रान्ता परा शक्तिः। यदा संबोधयतीत्येकैव हि शक्तिस्तत्तत्कृत्योपाधिवशात् तत्तद्रूपा उच्यते। बोधो हीति यतो बोधो दिक्कालाद्यनवच्छेदादाद्यन्तरहितस्तादृक् परं यद् ज्ञानं, तत् सैव परा शक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति ख्याता प्रथिता, अतश्च प्रोक्तसर्वज्ञत्वादिगुणास्पदं स्मृता, ज्ञानशक्त्यविनाभावित्वात् सर्वज्ञतातृप्त्यनादिबोधानन्तशक्त्याख्यानां गुणानाम्। सैव च परा शक्तिर्गृहीतज्ञानशक्तिभूमिका यदा विश्वसर्गादौ स्वतन्त्रा सदैवालुप्तशक्तिर्भवति, तदा सैव करणरूपिणी निर्माणरूपा सती क्रियाशक्तिरुच्यते। कथमक्रमाया अपि ज्ञानशक्तेः सक्रमक्रियारूपतेत्याशङ्क्य आह—वर्णरूपेत्यादि। बोधो हि स्वातन्त्र्यसारस्फुरत्तात्मविमर्शशक्तिपरमार्थः, अन्यथाऽस्य चमत्कर्तृत्वात्मबोधकत्वानुपपत्तावाकारधारित्वमात्रेण जडस्फटिकादितुल्यतैव। आकारोन्मज्जनादेरपि चानुपपत्तिर्बोधविविक्तस्य तद्धेतोरप्रकाशनेनासिद्धेरिति बोधः स्फुरत्तात्मपरवाग्रूपाहंविमर्शात्मकर्तृत्वसतत्त्व एव। उक्तं च **प्रत्यभिज्ञायाम्**—

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुः' (१।५।११)

इति,

'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक्' (१।५।१३)

इत्यादि च। **वाक्यपदीयेऽपि**—

'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥' (१।१२५)

इति। तदित्थं बोधस्वातन्त्र्यात्मा परैव वाक्शक्तिः पश्यन्त्यादिपर्यन्तसूक्ष्मस्थूलशब्दनात्मा ध्वनिरूपा—

'घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च ।
झांकारो ध्वङ्कृतिश्चैव ह्यष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिताः ॥' (११।६-७)

इति **श्रीस्वच्छन्दोक्तदशा**,

'दीप्ताग्न्याभः प्रथमः भेदितकांस्यप्रभोऽथ वंशनिभः ।
भ्रमरीरव इव पञ्चमतन्त्रीसदृगखिलतन्त्रीगः ॥
घण्टासमोऽम्बुदसदृग्वाताहततन्त्रिकासमानश्च ।
श्रव्यो दशधा नादः क्रमेण सूक्ष्मतया…॥'

इत्यस्मद्गुरुनिरुक्तनीत्याऽष्टविधशब्दव्याप्तिरादिक्षान्तपञ्चाशद्वर्णभट्टारकरूपतया समस्तमन्त्रादिमयशुद्धाशुद्धजगज्जननी, अज्ञाता माता मातृका परमेश्वरी क्रियाशक्तिः। एषैव चाक्रमाऽपि समस्तवाच्यवाचकात्मवाङ्मयाभासरूपतया सक्रमा क्रिया उच्यते। तदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

'सक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः।
घटते नैव शाश्वत्याः प्राभव्याः स्यात् प्रभोरिव॥' (२।१।२)

इति॥

तदित्थं स्वस्वातन्त्र्याभासितक्रमात्मा—

एवं क्रियते सा प्रोक्ता एकानन्यस्वभावजा ॥३९॥
स्वभावोत्था स्वभावार्था स्वा स्वतः स्वोदिता शिवा।

एकाऽद्वयात्माऽपि, एवमित्युक्तदृशा क्रमारूषिता सती पारमेश्वरी शक्तिः क्रियेत्युक्ता। सा च न केवलं नान्यस्मात् स्वभावाज्जायत इत्यनन्यस्वभावजा, अपि तु स्वभावादेवोत्थानं विश्वरूपोच्छलत्ता यस्यास्तादृशीति व्यतिरेकेणान्वयेन च स्वातन्त्र्यमस्या दर्शितम्। स्वयं विश्वात्मतयोच्छलितापि स्वत इति स्वत्र रूपे स्थिता। न च विश्वेन आच्छादिता, अपि तु स्वोदिता स्वप्रकाशा, अत एव स्वे स्वानतिरिक्ता भावा भवन्तोऽर्था विश्वे पदार्था यस्याः सा तथा। अतश्च स्वा आत्मभूता विशेषाभासनाद् विश्वस्य। ततश्च शिवा स्वच्छस्वच्छन्दप्रकाशात्मशिवरूपा। तदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

'या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥' (१।७।१)

इति॥

एतत् स्फुटयति—

व्यतिरिक्ता न चैवैषा कर्तृत्वं शक्तिरुच्यते ॥४०॥

चो ह्यर्थे भिन्नक्रमः। यतः कर्तुः स्वतन्त्रस्य भावः स्वरूपमेव धर्मान्तरप्रतिक्षेपेण कर्तृत्वम्। तदेव च शक्तिः शकनं सामर्थ्यं समर्थादनतिरिक्तमुच्यते। अतो व्यतिरिक्ता एषा न भवति।

तदुक्तं श्री विज्ञानभैरवे—

'शक्तिशक्तिमतोर्यस्मादभेदः संव्यवस्थितः।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् परा शक्तिः परात्मनः॥' (१८)

इति॥४०॥

ननु यदि शिवः शक्तिमान् जगद्रूपतया स्फुरति, तदयं विकारित्वाद् मायातत्त्ववदुपादानं जात इति तदधिष्ठात्रा निमित्तकारणरूपेण कर्त्रन्तरेण भवितव्यम्, तथा—

'भोगसाधनसंसिद्धचै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट्।
जगदुत्पादयामास मायां विक्षोभ्य शक्तिभिः ।।' (१।२५)

इति श्रीपूर्वनिरूपितनीत्या तत्क्षोभकेन केनचिदनन्तभट्टारककल्पेनापि भाव्यमित्याशङ्कयाह—

शिवस्य परिपूर्णस्य स्वतन्त्रस्य विभोर्यतः ।
कः कर्ता क्षोभकः को वा तस्मादद्वैतता शिवे ।।४१।।

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।'

इति स्थित्या विश्वात्मत्वात् परिपूर्णस्य शिवस्य चिदानन्दघनस्य भगवतो मृत्युजितः पारिपूर्ण्येनान्यानपेक्षत्वात् स्वतन्त्रस्य विभोर्व्यापकस्य कः कर्ता, कश्च क्षोभकः? न कश्चित् स्वतन्त्रचिद्धैरवतातिरिक्तस्यान्यस्याभावात्। यत एवम्, तस्मात् शिवे शिवभट्टारकेऽद्वैतता परमाद्वयरूपत्वम्; न तु द्वैतस्य नामास्ति। तदुक्तं श्रीभगवता कात्येन श्रीपूर्ववार्तिके—

'सिद्धे व्याप्तृत्वे भेदविरोधात् तदभेदो विश्वस्य'

इति। भगवतश्चिदात्मत्वेन चेत्यधर्मदेशाद्यनवच्छेदाद् यावद् व्याप्तृत्वं सिद्धं तावत्। एतेनैव परमाणोः परममहत आकाशादेरपि चान्तर्बहिश्च ओतप्रोतत्वात् कथं भेद इति भेदविरोधात् तेनैव व्यापिना विश्वस्य चेतनाचेतनस्याभेदः ।।४१।।

तदित्थं विश्वात्मत्वेन—

यत्तस्य सर्वशक्तित्वं सा शक्तिरुपचर्यते ।
तया तु कुरुते सृष्टिं स्थितिं संहृतिमेव च ।।४२।।
करोति भगवान् सर्वं तिरोभावमनुग्रहम्।

यत् सर्वशक्तित्वं भगवतः, सैवास्य शक्तिः स्वातन्त्र्यम् स्वस्वातन्त्र्यादेव विश्वशक्तिर्भगवान्। यदुक्तं शिवसूत्रेषु—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (३।३०)

इति। उपचर्यत इति भेदेन शिवात् परं व्यवह्रियते न तु तात्त्विको जगतः शिवशक्तेरपि शिवात् कश्चिद् भेदो घटते। तदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

'फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः ।'

इति तया च स्वाव्यतिरिक्तया शक्त्या भगवान् सर्वं करोति। एतदेव सृष्ट्यादिपञ्चकं कुरुत इति विशेषोक्त्या स्फुटीकृतम् ।।

एतदेव विभागेन दर्शयति—

क्रियाशक्त्या तु सृजति ज्ञानशक्त्या जगत्स्थितिम् ।।४३।।

संहारं रुद्रशक्त्या तु तिरोभावं तु वामया ।
अनुग्रहं ज्येष्ठया तु कुरुते नात्र संशयः ॥४४॥

एकैव शक्तिमतः शक्तिः कृत्यभेदाज्ज्येष्ठादिरूपतयोच्यत इत्याह—

कृत्यं पञ्चविधं शंभोर्जगतो दृश्यते यतः ।
क्रियमाणं विकल्प्यं तत् सर्वज्ञस्य विचेष्टितम् ॥४५॥

जगति कृत्यं कार्यं सृष्ट्यादिभेदेन पञ्चधा क्रियमाणं यतो दृश्यते, तत् तस्मात् शंभोर्विचेष्टितं स्पन्दितं विकल्प्यं ज्येष्ठादिशक्तिभेदेनोच्यते ॥४५॥

तदित्थम्—

यतस्ततः शक्तिरेषा शिवस्यैवानुमीयते ।

सर्वस्मादाभासमानादाभासनरूपा शक्तिराभासकस्य शिवनाथस्य चिदात्मनः न त्वन्यस्य कस्यचिदनुमीयते निश्चीयते ॥

यतः सर्वस्य कार्यस्य पारमेश्वरी शक्तिरेव कारणम्, ततः—

आत्माणवो ह्यनन्ताश्च मलेनैव निरोधिताः ॥४६॥
तेऽनुगृहीताः परया परमेशस्य चेच्छया ।

पूर्वनिर्णीतमायाशक्तिसंकोचात्मना मलेनाणवेन निरोधिता ग्राहितापूर्णंमन्यताभिमानाः, अत एवाऽनन्ता आत्माणवः । ते च परया परमेशेच्छयाऽनुगृहीताः आपितपरमेश्वराभेदाः ॥

तदित्थम्—

शिवः शक्तिस्तथात्मा च त्रितत्त्वं चेत्यनुत्तमम् ॥४७॥

शिवशक्त्योस्तावदुक्तदृशा परमोत्कृष्टत्वम्, आत्मनस्तु संकोचाभासवतोऽपि चित्प्रकाशात्मतयैव ग्राहकत्वादुत्तमत्वम् ॥४७॥

तदेवं परमशिवभट्टारकः शिवशक्त्यात्माख्यतत्त्वत्रयात्मना स्फुरित्वा पुनरपि स्वातन्त्र्यात्—

त्रिस्वरूपस्तथा देवो रुद्रो विष्णुः पितामहः ।
करोति षड्विधां सृष्टिं चतुर्भेदविभेदिताम् ॥४८॥

त्रिस्वरूप इत्येक एव त्रिमूर्तिः । सृष्टिमिति स्थितिसंहृत्युपलक्षणपरम् ॥४८॥

षड्विधत्वं चतुर्भेदत्वं च दर्शयति—

प्रेतनारकतिर्यञ्चसदेवमुनिमानुषम् ।
जरायुजाण्डजं देवि तथा संस्वेदजोद्भिजम् ॥४९॥
शक्त्या तु भगवान् सर्वं करोति हि विभुत्वतः ।

प्रेतनारकसृष्टिस्तामसी, किंचिदपचिततमस्का तु पशुपक्षिसरीसृपात्मतिर्यक्-सृष्टिः। दैवी सृष्टि सात्त्विकी। मौनी रजःसत्त्वमयी। मानुषी रजस्तमोमयी। तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'प्रथमं तामसीं सृष्टिं करोति तमसोत्कटाम्।
नरकान् विविधाकारन् प्रशून् वै स्थावरान्तकान्॥
तमोरजःसमावेशान् मानवान् संसृजेत् पुनः।
रजः सत्त्वसमाविष्टः सृजेन्मुनिवरेश्वरान्॥
गतनिद्रः प्रबुद्धस्तु सत्त्वाविष्टो जगत्पतिः।
सृजेद्देवान् सलोकेशान् पूर्वयैव व्यवस्थया॥'

इति जरायुजा मानुषाद्याः। अण्डजाः पक्ष्याद्याः। स्वेदजा मषकाद्याः। उद्भिजानि स्थावराणि, मुनिदेवास्तु मनोजा बाहुल्येन। शक्त्या स्वतन्त्र्यात्मना यद् विभुत्वमैश्वर्यम्, ततः॥

एतदेवोपपादयति—

निमित्तकारणं देवो यथा सूर्यो मणेः क्रिया॥५०॥
उपादानं तु सा शक्तिः संक्षुब्धा समवायतः।

निमित्तं सन्निधिमात्रेणोपकारि, न तु व्यापारावेशेनः कार्यते स्वशक्त्या आभास्यतेऽनेन विश्वमिति कारणं कर्ता देवो द्योतनादिसतत्त्वः परमेश्वरः। तस्य च संबन्धिनी सैव परा शक्तिरुपादानम्। सा च समवायतः शिवसामरस्यावस्थितेः संक्षुब्धा विश्वजगज्जननानुगुणा किंचिदुच्छूनताकल्पा समनाभूमिमाश्रितवती। यथा सूर्यो निमित्तकारणम्, यथा मणेः क्रिया उपादानमर्थाद् वह्निजनने इति दृष्टान्तः। शिवशक्तिसामरस्यमेव स्वानतिरिक्तमप्यतिरिक्तमेवेदम्—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (३।३०)

इति शिवसूत्रादिष्टनीत्या जगदुन्मीलयति, न तु व्यतिरिक्तं किमप्ययेक्षते, प्रयोजनाभिलापेन वा केनचित् प्रवर्तते। एतावतैव च सूर्यकान्तादिना सह दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः, न तु सर्वसर्विकया, येन सूर्यादिवद् भेदो जाड्यं वा शिवशक्त्योः स्यात्॥

तदेव स्फुटयति—

यथार्करश्मिसंयोगात् सूर्यकान्तो मणिर्महान्॥५१॥
तेजः प्रकिरतेऽत्यर्थमुभयोर्नैव कामिता।
अयस्कान्तमणिं दृष्ट्वा लोहः प्रकुरुते क्रियाम्॥५२॥
उभयोर्नैव कामोऽस्ति निमित्तं तु तथा शिवः।

उभयोरित्यर्कसूर्यकान्तयोः । क्रियामिति स्पन्दनात्मिकाम् । उभयोरित्ययोऽयस्कान्तयोः । निमित्तं संनिधिमात्रेण स्वशक्तित एव विश्वमुन्मीलयति ॥

नन्वहेतूनां देशकालप्रकृतिनियमायोगादवश्यं सूर्यकान्तादेर्नियामकः कश्चिदस्ति । सत्यमस्ति, किन्त्वसौ—

सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्येत यस्तयोस्तु प्रचोदकः ॥५३॥

परमेश इत्यर्थः । सूक्ष्मत्वादित्यवेद्यत्वात् ॥५३॥

तादृक्सर्वस्य जगतो नानुभूतं तु कारणम् ।

युक्तं चैतत्, यतः—

यदि तु विश्वकारणं परमेशोऽनुभूयेत, स एव सूर्यकान्तादेरपि प्रचोदको निरूप्येत न त्वसावनुभूयते, अनुभवित्रेकरूपत्वात् ॥

ननु च—

'न हि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः ।
ज्ञानं ज्ञेयात्मतां यातमेतस्मादवसीयते ॥'

इति कालिकाक्रमोक्तनीत्या चिच्छक्तिरेव विश्वस्यावभासने हेतुरनुभूयते, क्रियाशक्तिरिव निर्माणे, तत् कथमुक्तं 'नानुभूयं तु कारणम्' इति । सत्यं बहिः प्रसरन्ती शक्तिर्विश्वावभासकतयाऽनुभूयते, आन्तरं तु विश्वकारणं शिवशक्तिसामरस्यमुक्तयुक्तेर्न परिच्छेत्तुं शक्यमित्याह—

उपादानं तु सा शक्तिः सर्वत्रैव विभाव्यते ॥५४॥
यथा सर्वं सुनिष्पन्नं क्रियाशक्त्या प्रदृश्यते ।
क्षोभ्यक्षोभकभावस्तु प्रत्यक्षो नैव कस्यचित् ॥५५॥
संक्षुब्धं समवायात्तु कारणं तद्विदुर्बुधाः ।

विभाव्यते स्फुटमनुभूयते । अत्रैव यथेत्यनेन दृष्टान्तः । सर्वमिति घटपटादि । क्षोभ्यक्षोभकभावः शिवशक्त्योः सर्गाद्याभासनोचित आद्यः स्पन्दः । तदेव च समवायादिति सामरस्यात् संक्षुब्धमिति सर्गाद्याभासनौचित्येन स्फुरत् । बुधाः श्रीकण्ठानन्तेशसदाशिवाद्याः । कार्यते स्वशक्त्या आभास्यतेऽनेन विश्वमिति कृत्वा कारणं कर्तृ विदुः समावेशेन साक्षात्कुर्वन्ति । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

आकामात् स सृजेत् सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
स्वतेजसा वरारोहे व्योम संक्षोभ्य लीलया ॥
उपादानं तु तत्प्रोक्तं संक्षुब्धं समवायतः ।' (११।३-४)

इति । श्रीश्रीकण्ठ्यामपि—

'प्रवर्ततेश्वरात्सर्वम्'

इति ॥

इहाप्येतदेव—

अकामतः सृजेत् सर्वं शक्त्या सर्वं चराचरम् ॥५६॥

परिपूर्णतया नास्य कामः फलाभिलाषः कश्चिदित्यकामात् शक्त्येति स्वस्वातन्त्र्यादेव, न तु भेदेश्वरवदुपादानाद्यपेक्षया। यथोक्तम्—

'उपादानं तु सा शक्तिः' (२१।५१)

इति। सर्वं चराचरमिति। अचरमिव चरमपि जीवजातं रुद्रक्षेत्रज्ञरूपं सर्वं भगवान् सृजति स्वरूपगोपनावैचित्र्येण भासयति, न त्वनादिसिद्धं तदित्याशयः ॥५६॥

एतत् प्रकृते योजयति—

एवमुक्तेन विधिना मन्त्राः सर्वे त्रितत्त्वजाः।
शिवाख्याः शक्तिरूपाश्च तथैवात्मस्वरूपकाः ॥५७॥

त्रिस्वभावाः समुद्दिष्टाः सर्वत्र बलशालिनः।
भवन्ति सर्वदा सर्वे सर्वगाः सर्वरूपिणः ॥५८॥

यत उक्तदृशा परमशिव एव स्वभित्तौ स्वशक्त्या विश्वमाभासयति, ततो मन्त्रास्त्रिषु शिवादितत्त्वेषु जायन्ते शिवाद्याख्याः शिवादिस्वभावाश्च तथैव सर्वसामर्थ्यादियुक्ताः न तु यथा मुग्धधियः—

'एकः शिवोऽविकारी तच्छक्तिश्चाप्यतो न तौ शक्तौ।
बहुधा स्थातुं यद्वा चैतन्यविनाकृतौ विकारित्वात् ॥'

(ना० का० १६)

इति शिवस्वातन्त्र्यमपरामृश्याण्वपेक्षत्वमेव मन्त्राणामाहुः ॥५८॥

एतद् वितत्य स्फुटयति—

शिवो ह्यनादिमान् धाम शाश्वतः प्रथमोऽचलः।

एतत् प्रागेव व्याकृतप्रायम्।

स च—

इच्छया च यदा देवि प्रसरत्यविलम्बितः ॥५९॥

तदा चास्येच्छाख्या—

सा शक्तिः परमाः सूक्ष्मा उन्मना शिवरूपिणी।

मन उत्क्रम्य गताऽनवच्छिन्नस्वप्रकाशस्फुरत्ता ॥

एषैव च—

अस्तित्वमात्रमात्मानं क्षोभ्यं क्षोभयते सदा ॥६०॥
समनासौ विनिर्दिष्टा शक्तिः सर्वाध्ववर्तिनी।
क्रोडीकरोति या विश्वं संहृत्य सृजते पुनः ॥६१॥

अस्तित्वमात्रं प्रकाशात्ममहासत्तारूपम्, अतः क्षोभ्यं समस्तसूत्रणासहिष्णुमात्मानं यदा शक्तिः क्षोभयते शून्यातिशून्यादिधरान्तसमग्रजगदासूत्रणात्मना स्फुरति, तदा परप्रमातृपदावरूढा आसूत्रिताशेषमन्तव्यमननमात्ररूपत्वात् समनेत्युक्ता। अत एव सर्वाध्वनि वर्तते प्रथमोल्लेखकल्पतया स्फुरति, अतश्च विश्वं क्रोडीकरोति। अयं चास्य क्रोडीकारो यदेतत् संहृत्य स्वाभेदात्मना निमज्जनेन शून्याभासतया आभास्य सृजति, इदन्तया प्रथयति, गर्भीकृताशेषविश्वसृष्टिसंहारप्रपञ्चमहासृष्टिशक्तिरूपतया स्फुरतीत्यर्थः। एतदेव पुनःशब्देन द्योतितं पुनः पुनः संहृत्य सृजतीति यावत्। संहृत्येत्यनेन च शून्यातिशून्यात्मव्यापिनी भूरुक्ता, सृजतीत्यनेन तु शक्तिभूमिः ॥६१॥

यदाह—

कुण्डलाख्या महाशक्तिस्तृतीयाप्युपचर्यते।

कुण्डलाख्येत्यनेनान्तःशून्यबहिष्कृतपारवश्यात्मताख्यापनेन व्यापिन्यत्र क्रोडीकृतेति दर्शितम्। उपचर्यते सैवेत्थं व्यवह्रियते॥

या चैषोन्मनाख्या शक्तिः समस्तभावाभावासूत्रणाद् भावाभावसामान्यावभासात्मसमनाव्यापिनीशक्तिरूपतया स्फुरिता, सैव वाच्यवाचकात्मशक्तरूपं विश्वमवबिभासयिषुः क्रोडीकृतवाच्यस्पन्दवाचकसामान्यनादरूपतया प्रथमं स्पन्दत इत्याह—

ध्वनिरूपो यदा स्फोटस्त्वदृष्टाच्छिवविग्रहात् ॥६२॥
प्रसरत्यतिवेगेन ध्वनिनापूरयन् जगत्।
स नादो देवदेवेशः प्रोक्तश्चैव सदाशिवः ॥६३॥

स्फुटत्यभिव्यज्यतेऽस्माद् विश्वः शब्दग्राम इति स्फोटः शब्दब्रह्म, अत एव ध्वनिरूपः शब्दनस्वभावः, अदृष्टादित्यनाकृतेर्द्रष्ट्रेकरूपात् परनादामर्शात्मनः प्रकाशानन्दघनात् शिवस्वरूपादतिवेगेनाव्युच्छिन्नद्रुतनदीघोषवत् प्रसरति। कीदृक्? ध्वनिना घण्टानुरणनरूपेण नादान्तेन जगद् विश्वमापूरयन् आमर्शनेन आत्मसात्कुर्वन्। स एव नादभट्टारकोऽकृतकाहन्तेदन्तासामानाधिकरण्यविमर्शात्मकपरचित्प्रकाशरूप इति नादः, सदाशिव इति सामानाधिकरण्योक्तेराशयः। अत्र च प्रसरीत्युक्त्या परवाक्शक्तिरेव पारमेश्वरी इयं स्फुरतीत्यादिशति। अत्र च नादान्तोऽप्यनुप्रविष्टः ॥६३॥

अथ—

ध्वनिरध्वगतो यत्र विश्राम्यत्यनिरोधितः।
निरोधिनीति विख्याता सर्वदेवनिरोधिका ॥६४॥

अध्वगतोऽशेषव्यापकोऽनिरोधितोऽनाहतो नादभट्टारको यत्र विश्राम्यति स्वव्याप्तिनिमज्जनेनाधरव्याप्तिमुन्मज्जयति, सा निरोधिकाख्या मन्त्रकला विख्याता। कीदृशी ? सर्वेषां ब्रह्मादिदेवानां निरोधिका ऊर्ध्वव्याप्त्या धारिका। यथोक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'निरोधयति या देवान् ब्रह्मादींश्च सुराधिपे।
निरोधिकेति साख्याता' (१०।१२२३)

इति ॥६४॥

परमशिवाभेदाख्यातिरेव ब्रह्मादेर्निरोध इत्याह—

निरुद्धस्य महेशत्वमहिमा न प्रवर्तते।

अतश्चाभेदाख्यात्यैव तत्रस्थानां नानात्वमित्याह—

असंख्यातास्तु कोट्यो वै मन्त्राणां तत्र संस्थिताः ॥६५॥

किं च—

लभन्ते तत्प्रविष्टा वै

ये तद् निरोधिकापदं प्रविष्टा योगिनः, ते तदेव लभन्ते, न ऊर्ध्वमभेदव्याप्तिम्। तदित्यावृत्त्या योज्यम् ॥

या चेयं ध्वनिमात्रात्मनादान्तव्याप्तिनिरोधिकाख्या मान्त्री कला—

स बिन्दुश्चेश्वरः स्मृतः।

परैव शक्तिरिच्छाशक्तिव्याप्त्या समनातः शक्त्यन्तं पदमुन्मील्य ज्ञानशक्तिव्याप्त्या शक्तिप्राधान्यमुन्मीलयन्ती समस्तवाचकाभेदिनादामर्शमयतां ध्वनिमात्रात्मनादान्तव्याप्त्याभासितां निरुध्य समग्रवाच्याभेदप्रकाशरूपां स्फुटेदन्ताहन्तैक्यविमर्शात्मेश्वररूपबिन्द्वात्मतां गृह्णाति ॥

न च निरोधिकापदाभासनसमनन्तरमेव बिन्द्वात्मतां गृह्णाति, अति तु मध्ये—

यदा शिवामृतं मूर्ध्नि पतति सृष्टिकारणम् ॥६६॥
आप्यायस्तु भवेत्तेन सोऽर्धचन्द्र इति स्मृतः।

विमर्शप्रवणनादकलावाच्यसंहारप्रधाना स्वसत्तानिरोधेन निरोधिनीपदं श्रित्वा समस्तवाच्याभेदवेदनात्मबिन्दुदशां सिसृक्षुः प्रथमं किंचिदुन्मज्जद्वाच्यप्रधानामर्धचन्द्रदशां श्रयतीति तात्पर्यम्। पदार्थस्तु शिवस्य नादात्मनः सदाशिवनाथस्य संबन्धि अमृतं स्फुटेदन्ताभासात्म सृष्टिवीर्यं स्रष्टव्यस्य विश्वसत्तात्मनो बिन्दोर्मूर्ध्नि पतति, बिन्दूदयात् प्रथममुन्मिषति यदा, तदा स मन्त्रावयवोऽर्धचन्द्र इत्युच्यते, यतस्तेन आप्यायो भवेत् तद्भूमिकारूढस्य पूर्णचन्द्राकारा स्रष्ट्री बिन्द्वात्मा क्रियाशक्तिदशा उदयते ॥

एष चार्धेन्दुर्बिन्दुपदादूर्ध्वमारोहताम्—

संहारः सर्वभूतानां

नादादधोऽवरोहतां तु—

सृष्टिकारणमेव च ॥६७॥

तदित्थं बिन्द्वात्मक्रियाशक्तौ स्फुटीभूतायां पृथग्भूतवाच्यवाचकमन्त्रदशा-दर्शनायाह—

मकारो ह्यत्र वै रुद्रो वर्णसंघट्ट उत्तमः ।

एष बिन्दुः पृथग्भावभासयन् प्रथमं मायाश्रयपुमामर्शिमकाररूपेण भवति । अत्र च रुद्रोऽधिष्ठातेति शेषः । एष च मकारः प्रस्तुतप्रणवापेक्षयाऽकारोकाराभ्याम्, मन्त्रान्तरापेक्षया तु वर्णान्तरेभ्योऽप्युत्तम उत्कृष्टोऽतिशयेन उद्गत ऊर्ध्ववर्ती च वर्णानां संघट्टो विश्रान्तिस्थानाम्, पिण्डाक्षरसंबन्धिनो हि वर्णास्तत्तत्तत्त्ववाचकतां भजमाना यावन्न मायाग्रन्थ्युद्भेदिप्लुतोच्चारमकारध्वनिरूपतामाविष्टाः, तावन्न विश्ववेद्याविभेदिवेदनात्मबिन्दुव्याप्तिमाविशन्ति । प्लुतान्तं च दीर्घह्रस्वतद्वर्गनीयवाच्यसत्ताऽस्तीत्यपि च वर्णसंघट्टः ॥

इत्थं च पूर्वोक्ता शक्तिर्मायाग्रन्थ्याक्षयमकारात्ममन्त्रावयवरूपतामापन्ना विश्वजगदात्मतया—

यदा स्थितिं च लभते स्वोन्मुखं सृष्टिकारणम् ॥६८॥

प्रतिष्ठाख्य उकारस्तु विष्णुः साक्षद्भवत्यसौ ।

स्वोन्मुखमिति स्वत्र संविद्रूपे उन्मुखं कृत्वा प्रमाणप्रधानत्वात् स्थितिदशायाः प्रमाणस्य च ज्ञेयाच्छुरितसंविद्रूपत्वादेवमुक्तम्, अत एव सृष्टेर्मेयप्रधानाया दशायाः कारणम् । प्रमाणरूपसंविदन्तर्वर्तिन एव ह्याभासाः पृथग्विमृश्यमानाः प्रमेयतया सृज्यन्ते । अत्र च—

'मत्स्यवलनसंयोगाद्गलके मीनमाश्रिता'

इति श्रीमीनकुलोक्तदृशा पूर्वापरकोट्योर्दोलनेन गलकोटरे कृतपदा संविदुन्मिषन्मेयात्मकोकारामर्शरूपा उकाराख्यो मन्त्रावयव उच्यते । स च प्रतिष्ठायां गर्भीकृताबादिप्रकृत्यन्तत्रयोविंशतितत्त्वाःयां प्रतिष्ठाकलाख्यायां संख्यानं प्रथा यस्य, अत एव तत्पदाधिष्ठातृस्थितिसंविन्मयविष्णुभट्टारकामर्शित्वात् साक्षाद् विष्णुः । एवं तां वदन् मकारकलायाः संहारदशाप्राधान्यं गर्भीकृतपुमादिमायान्ततत्त्वसप्तकं विद्याकलाव्याप्तिरित्याद्यनुमन्तव्यमिति शिक्षयति ॥

अथ कण्ठादवरुह्य हृत्पद्मप्राप्तायां संविदि—

निवृत्तिस्तु यदा सर्वं निष्पन्नं प्रणवं विभुः ॥६९॥

आकाराख्यं परं धाम ब्रह्मा स कमलासनः ।

पृथ्व्यन्ततत्त्वसर्गनिवृत्तेर्निवृत्तिः। अतश्चावरोहक्रमेणैतदन्तत्वात् प्रणवस्य अकार आ समन्तात् ख्यानं तस्य तदकाराख्यं परं धाम। प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽभेदेन विमृश्यतेऽनेन परं धामेति कृत्वा प्रणवैकदेशोऽप्यकारः—

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तः'

इति स्थित्या प्रणवपरधाम सामानाधिकरण्येन निर्दिष्टम्। यच्चैतदकारात्मरूपम्, तद् ब्रह्मरूपवाचित्वात् सृष्टिप्रधानसंविदामर्शित्वाद् हृत्कमलकर्णिकारूढत्वाच्च ब्रह्मा कमलासन इति चोच्यते। द्वादशान्तवद् हृदोऽपि पूर्णसंवित्त्वात् परधामेत्युचितैवोक्तिः॥

तदित्थम्—

मन्त्रसृष्टिर्भवेदेषा शिवस्य परमात्मनः॥७०॥

'शिवो ह्यनादिमान्' (२१।५९)

इत्यतः प्रभृति

'कुण्डलाख्या महाशक्ति' (२१।६२)

इत्यन्तं शिवतत्त्वरूपतया, नादान्ताद्। विन्द्वन्तं शक्तितत्त्वरूपतया, मकारादकारान्तमात्मतत्त्वात्मत्वेन मन्त्रसृष्टिरुक्ता॥७०॥

एवं परोपक्रमपश्यन्तीवाक्प्रधानां प्रणवात्ममहामन्त्रसृष्टिमुक्त्वा मध्यमाप्राधान्येन मातृकासृष्टिमाह—

ततोऽष्टविधभेदेन पञ्चाशद्वर्णरूपिणी।
ज्ञानशक्तिः परा सूक्ष्मा मातृकां तां विदुर्बुधाः॥७१॥

वर्गभेदादष्टधात्वम्, वर्ग्यभेदात्तु पञ्चाशद्रूपत्वं भेदप्रधानतया चास्य वाक्प्रधानता मन्तव्या। एवमपि समग्रवाच्यवाचकक्रोडीकारात् परा पूर्णा वैखरीजन्मश्रोत्रग्राह्यवर्णवैलक्षण्यात् सूक्ष्मा विश्ववाच्यवाचकसूतिहेतुत्वादज्ञाता माता मातृका। बुधाः—

'मातृकाचक्रसंबोधः' (२।७)

इति शिवसूत्रस्थित्या मातृकाज्ञानशालिनः॥

किं चैषा भगवत्यभेदप्रधानतया परावाग्रूपा सती—

सा योनिः सर्वमन्त्राणां सर्वत्रारणिवत् स्थिता।

तदेवं सृष्टिक्रमस्य प्रस्तुतत्वाद् यद्यपि प्रणवस्य व्याप्तिः प्रातिलोम्येनोक्ता, तथाप्यानुलोम्येन हृत्तो द्वादशान्तं भेददशासंहारक्रमेण 'गृह्णाति प्रणवः सर्वं

कलाभिः कलयेच्छिवम्' (२२।१४) इति,

'अकारश्च उकारश्च' (२२।२१)

इति वक्ष्यमाणस्थित्या तमुच्चार्य द्वादशान्ताद् हृदन्तमुक्तयुक्त्या तत्तत्स्थानपरिशीलनेनावरोहतः शिवामृतेन विश्वमाप्लाव्याशेषक्रोडीकारिमातृकाप्रसरप्रथमाङ्कुरकल्पाकारविमर्शादनुत्तरां भूमिं सृष्ट्वा परामृतसेकसंस्कारत आपादितमहायज्ञाहुतियोग्यभावं तदेव विश्वं द्वितीयबीजोच्चारामर्शेन परधाम्नि हुत्वाऽग्नीषोमात्मन्यूर्ध्वाधरसमग्रसृष्टिसंहारसामरस्यसतत्त्वे उन्मनापरमशिवाभेदमये प्रकाशानन्दस्वरूपे स्वधाम्नि तृतीयबीजे स्थित्या विश्राम्येदित्याह—

जुहोति वीर्यमतुलममृतं सृष्टिसंयुतम् ॥७२॥

पादद्वयेन बीजद्वयवीर्यमत्रासूत्रितम् ॥७२॥

यत एवम्—

तेनासौ देवदेवेशो ह्यमृतेशः परापरः ।

असाविति इहत्यमन्त्रराजः । परश्च अपरश्च परापरश्चेति तन्त्रेण वैश्वात्म्यमस्योक्तम् ॥

किं च—

मृत्योरुत्तारयेद्यस्मान्मृत्युजित्तेन चोच्यते ॥७३॥
भरणात् प्रक्रियाण्डानां स भैरव इति स्मृतः ।

प्रक्रियायां पुरतत्त्वादिपरिपाट्यामण्डानि ब्रह्मप्रकृतिमायाशक्त्यण्डानि, तेषां भरणात् स्वात्मसात्कारात् ।

एवमिहत्यमन्त्रनाथस्यामृतेशादिरूपतां निरुच्य प्रकृतानां सर्वमन्त्राणां त्रितत्त्वात्मतां प्रस्तुतां निर्वाहयितुमुपक्रमते—

एवमाद्याः स्मृता मन्त्राः सर्वे ह्यमिततेजसः ॥७४॥
अधिकारं प्रकुर्वन्ति सर्वस्य जगतः प्रिये ।
मोचयन्ति च संसाराद्योजयन्ति परे शिवे ॥७५॥
मननत्राणधर्मित्वात् तेन मन्त्रा इति स्मृताः ।

एवंशब्दः प्रोक्तमन्त्रनाथं तद्वीर्यं चामृशति । तेन प्रोक्ता अमृतेशाद्याः प्राङ्निरूपितनीत्या च तद्वीर्यप्रधानाः सर्वे मन्त्राः, अमृतमविनाशि परामृतसारं च तेजो येषाम्, अत एव चित्प्रकाशात्मत्वादधिकारं सृष्ट्यादि जगतः कुर्वन्ति, मुख्यतस्तु पाशमोचनशिवत्वव्यक्त्यात्मानुग्रहकृतोऽतश्च निरुक्तस्थित्या मननत्राणधर्मयोगाद् मन्त्रा उच्यन्ते ॥

यत एवम्—

तस्मात् सर्वगता मन्त्राः सर्वदास्ते त्रितत्त्वजाः ॥७६॥

शिवशक्त्यात्मरूपास्तु नित्यानुग्रहशालिनः ।

क्षेत्रज्ञवदवच्छेदाभावात् सर्वगता व्यापकताः, विज्ञानाकलवत कर्तृत्वातिरोभूतेः सर्वदाः, नित्यानुग्रहशालिनश्च शिवशक्त्यात्मरूपत्वात् त्रिषु तत्त्वेषु जायन्तेऽभिव्यज्यन्ते ॥

किं च—

शिवशक्तिप्रभावाश्च शिवदाशिवहारकाः ॥७७॥

निग्रहानुग्रहकृतः शिवदाशिवहारकाश्चेति विशेषणसमासः ॥७७॥

योगिज्ञानिनां तु—

ज्ञातमात्रा हि फलदा भोगमोक्षप्रदायिनः ।

मन्त्राणां शिवशक्त्यात्मरूपत्वं विभागेन प्रथयति—

यत्तेषां सर्ववेदित्वं सर्वशक्तित्वमेव च ॥७८॥
तच्छिवत्वं समाख्यातं

सर्वशक्तित्वं वैश्वात्म्यात् ॥

शक्तित्वं सर्वकर्तृता ।

शक्यते येनेति शक्तिः स्वातन्त्र्यम् ॥

तदेव स्फुरयति—

सर्वानुग्रहकर्तृत्वं सर्वत्र फलदायकम् ॥७९॥

सर्वत्र तत्र तत्र तत्त्वादौ फलप्रदत्वमिति भावप्रधानो निर्देशः ॥७९॥

आत्मत्वं तत्स्वरूपं तु त्रिविधं साधनं स्मृतम् ।
मन्त्रो ध्यानं तथा मुद्रा

यत् स्वरूपं यस्य साधनस्य मन्त्रदेवताराधनस्य, तत् प्राणबुद्धिदेहाश्रयमन्त्रोच्चारध्यानमुद्रोपायत्वात् त्रिविधं मन्त्राणामात्मत्वमणुत्वम् ।

यथोक्तम्—

'उच्चारकरणध्यान' (मा० वि० २।२१)

इत्यादि श्रीपूर्वे ॥

तच्च एतत् त्रिविधम्—

साधनं शास्त्रचोदितम् ॥८०॥

एतच्च त्रयं प्रपञ्चतो दर्शयति—

दीक्षामण्डलसंस्कारं यजनं जपनं तथा ।
होमक्रिया तथा लेख्यं ध्यानधारणयोः क्रिया ॥८१॥
मुद्राबन्धस्तथा योगो यजनं तु क्रियैकता ।

दीक्षा च, मण्डलं च, संस्कारश्चाधिवासाद्यात्मेति समाहारः । लेख्यं यन्त्रम् । एतदन्तो मन्त्रस्य प्रपञ्चः · धारणा ध्यानप्रपञ्चः । मुद्राबन्धश्चित्तैकाग्र्यात्मयोगाय, योगो योजनायै पर्यवस्यतीत्येतद् मुद्राप्रपञ्चत्वेन उक्तम् । क्रियैकता मन्त्रसंधाननाडीसंधानपरमीकरणरूपा त्रितयस्यापि प्रपञ्चः ॥

इत्थं मन्त्राणां त्रितत्त्वमयत्वमुपपाद्योपसंहरति—

एवं मन्त्राः समाख्याताः सर्वत्रैवाधिकारिणः ॥८२॥

तत्त्वत्रयानुसारेण भोगमोक्षयोर्भोगे चेति शिवम् ॥

समुच्चाराद्व्याप्तेः परमपदविश्रान्तिवशतो
ददद्भुक्तिं मुक्तिं द्वयमपि यदद्वैतमसमम् ।
जगत्त्राणान्नेत्रं निखिलमनुचक्रप्रभु परं
त्रितत्त्वात्मैशं तज्जयति परबोधामृतमयम् ॥

इति श्रीनेत्रोद्द्योते एकविंशोऽधिकारः ॥२१॥

———

द्वाविंशोऽधिकारः

द्वयध्वंसि स्फूर्जत्परतरस्वधासारविसरै-
निषिच्याशेषं यत् परशिवहुताशो विसृजति ।
प्रकाशानन्दैक्यस्फुरणमयमाभासयति च
स्तुमः शार्वं नेत्रं निखिलमनुनाथं किमपि तत् ॥

पूर्वाधिकारोपक्रान्तमपि मध्येऽनन्तप्रमेयव्यामिश्रीभूतं मन्त्रतत्त्वं निगमयितुं श्रीदेव्युवाच—

असंख्यातास्तु कोटयो वै मन्त्राणाममितौजसाम् ।
उक्ता देवेन सर्वज्ञाः सर्वगाः सर्वदा शुभाः ॥१॥
सर्वाः सर्वेश्वराः शस्ताः सर्वत्रैवाधिकारिकाः ।
तासामेव हि सर्वासां कथमभ्यधिको बली ॥२॥
मन्त्रराट् परमेशानः कथं मृत्युञ्जयः परः ।
संशयो मे समुत्पन्नो हृदिदेव वद स्व मे ॥३॥
पूर्वोक्तमन्त्रसद्भावो हृतो देवेन मे कथम् ।
तदद्य श्रोतुमिच्छामि परं कौतूहलं हि मे ॥४॥

हे हृदिदेव हृदयेश्वर स्व आत्मन् सर्वा मन्त्रकोटयः प्राय एतन्मन्त्रन्यूनाधिकमाहात्म्यात् शास्त्रेषु त्वया उक्ताः, ततः कथमयं मन्त्रराजोऽभ्यधिक इत्ययं मे संशयो जातो यतः, तस्माद् वद निर्णयवाक्यं ब्रूहि, यतः पूर्वोक्तमेव मन्त्रसद्भावं बह्वधिकारोक्तं नानाप्रमेयोक्तिशबलीकृतत्वादपहृतमिव सारग्राहिण्या धियाऽधिगन्तुमिच्छामि । अत्रार्थे सर्वसाररूपेऽतीव मे कौतुकमिति ॥४॥

देव्या पृष्टो भैरव उवाच—

श्रूयतां संप्रवक्ष्यामि संशयं ते हृदि स्थितम् ।

संप्रवचनं निर्णयः ॥

तदाह—

मन्त्रकोटयो ह्यसंख्याता सर्वाः सर्वाधिकारिकाः ॥५॥
शिवशक्तिप्रभावाश्च सर्वशक्तिसमन्विताः ।
भोगमोक्षप्रदाः सर्वाः स्वशक्तिबलबृंहिताः ॥६॥

स्वस्य शिवरूपस्य आत्मनो यत् शक्तिबलं स्वातन्त्र्यमाहात्म्यं तेन बृंहिता यद्यपि, तथास्य मन्त्रनाथस्यास्ति विशेष इत्युपक्रमते वक्तुम्—

किन्तु देवः परः शान्तो ह्यप्रमेयगुणान्वितः।
शिवः सर्वात्मकः शुद्धो भावग्राह्यो ह्यनुत्तमः ॥७॥
आश्रयः परमस्तेषां व्यापकः परमेश्वरः।

देवो द्योतनादिसतत्त्वः, परोऽनुत्तरः, शान्तोद्वैतोपशमात्, अप्रमेया गुणा अभेदसर्वज्ञत्वादयस्तैरन्वितः, सर्वात्मकः क्रोडीकृतद्वैताद्वैतपरमाद्वैतरूपा, शुद्धो विश्वैकात्म्येऽप्यनावृतः, भावग्राह्यश्चिद्घनत्वेन स्वप्रकाशस्तेषामिति मन्त्राणां तेनैव तथा वैचित्र्येणावभासितानामाश्रयः परप्रकाशभित्तिमयः परम इति यद्यपि प्रोक्तदृशा शक्तिरप्येषामाश्रयस्तथापि प्रकृष्टोऽयं तस्या अपि शक्तेर्विश्रान्तिधामेत्यर्थः, अत एव व्यापकः परमेश्वरस्तत्तन्मन्त्रावभासनतत्संयोजनवियोजनादिस्वतन्त्रः, अत एव न विद्यतेऽन्यदुत्तमं यस्मात्ताडगयमिहृत्यमहासामान्यात्मपूर्वोपक्रान्तसर्ववीर्यसाररूपो मन्त्रनाथ इत्यर्थः। निर्णीतप्रायं चैतत् प्रागेव ॥

अतश्च—

तदिच्छया समुत्पन्नास्तच्छक्त्या संप्रचोदिताः ॥८॥
भवन्ति सफला सर्वे सर्वत्रैवाधिकारिणः।

तस्य शक्त्या स्वातन्त्र्यस्फुरत्तया सम्यक्प्रचोदिता अनुग्रहादौ नियुक्ताः, अतश्च सर्वत्राधिकारिणो मन्त्राः फलदा भवन्त्येव। एवो भिन्नक्रमः॥

यद्यपि शिवशक्त्या सर्वतन्त्रा जनिता नियुक्ताश्च, तथाप्यस्यान्येभ्यो महान् विशेष प्रस्तुतं निर्वाहयति—

यदेतत्परमं धाम सर्वेषामालयः शिवः ॥९॥
अस्मादेव समुत्पन्ना मन्त्राश्चामोघशक्तयः।

प्रथमाधिकारात् प्रभृति चिदानन्दात्ममहासामान्यं यदेतद् मृत्युजिद्रूपं परं धाम शाक्तम्, तदेव शिवात्मकं विश्वस्याश्रयश्चिद्भित्त्यात्मतां विना कस्याप्यप्रकाशात्। अस्मादेव, जप्यन्यत एव तदत्यस्याप्रकाशमानत्वेनाभावान्मन्त्राश्चेति चकाराद् मायादिविश्वमस्मादेतदधिष्ठानादेव चामोघशक्तयो मन्त्रा इति भिन्नक्रमोऽपि ॥

युक्तं च तत् यतः—

नित्यो नियामको ह्येषा नेतारं निरुपप्लवः ॥१०॥
निष्प्रपञ्चो निराभासस्त्रायकस्तारणः शिवः।
त्राणं करोति सर्वेषां तारणं त्रस्तचेतसाम् ॥११॥

नियतं भवः सर्वदिक्कालाक्रान्तिकृत् तदपरामृष्टश्च, एषां मन्त्राणां नियामको नियोक्ता, अरं शीघ्रमिच्छामात्रादेव नेता बहिराभासकः स्वात्मसात्कारकृच्च,

अतश्च प्रधानभूतो नायकोऽपि अनुपप्लव इत्याणवादिमलेभ्यो निष्क्रान्तस्ते च निष्क्रान्ता यतः। एवं निष्प्रपञ्चो निराभासश्चेति योज्यम्, प्रपञ्चो जगद्वैचित्र्यम्, आभासाः संकुचिताः प्रकाशाः, त्रायकः सर्वरक्षाकरस्तारणो मोकः, अतश्च शिवः श्रेयोमयपरमशिवस्वरूपो मृत्युजिन्नाथः। एतदेव त्राणमित्यर्धेन स्फुटीकृतम्। त्राणं रक्षा त्रस्तचेतसां संसारभीतानाम्। एतच्चाक्षरवर्णसारूप्येण नेत्रनाथस्य निर्वचनम् ॥११॥

यदाह—

नयते मोक्षभावं तु तारयेन्महतो भयात्।
नयनाच्च तथा त्राणान्नेत्रमित्यभिधीयते ॥१२॥

किं च, एतत्—

जीवनं सर्वभूतेषु नेत्रभूतं प्रकीर्तितम्।

यथा नेत्रं चक्षुर्भावप्रकाशकम् तवेदं चिन्नेत्रमशेषप्रकाशकत्वान्नेत्रभूतमित्युक्तम् अतः सर्वेषां जीवनम्। उक्तं च श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

'ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्' (१।१।४)

इति ॥

तदित्थमयं नाथः—

समस्तमन्त्रजातस्य स्वामिवत् परमेश्वरः ॥१३॥

निर्णीतं चैतत् प्रागेव ॥१३॥

एवं सामान्यव्याप्त्याऽस्य मन्त्रनाथस्यान्यमन्त्रेभ्यो विशेषमुक्त्वाऽक्षरव्याप्त्याऽप्याह—

प्रणवः प्राणिनां प्राणो जीवनं संप्रतिष्ठितम्
गृह्णाति प्रणवः सर्वं कलाभिः कलयेच्छिवम् ॥१४॥
षट्प्रकारं महाध्वानं षट्कारणपदस्थितम्।
जुहोति विद्यया सर्वं जुंकारेण प्रचोदितम् ॥१५॥
स्वरूपं यत्स्वसंवेद्यं सम्यक्संतृप्तिलक्षणम्।
सर्वामृतपदाधारं सविसर्गं परं शिवम् ॥१६॥
पूर्णं निरन्तरं तेन पूर्णाहुत्या तु पूर्णया।
स्वोच्चारा या स्वभावस्था स्वस्वरूपा च स्वोदिता ॥१७॥
इच्छाज्ञानक्रियारूपा सा चैका शक्तिरुत्तमा।
तया प्रकुरुते नित्यं शक्तिमान् स शिवः स्मृतः ॥१८॥

प्राणिनां सर्वजीवतां सर्वज्ञेयकार्यज्ञानकरणप्रथमाभ्युपगमकल्पानाहतपरामर्शात्मसामान्यस्पन्दरूपः प्रणव एव प्राणास्तं विना ज्ञानक्रिया-घटनात्। एतस्मिन् हि सति तेषां जीवनं प्राणाधानादिप्रसरात्म सम्यक् प्रतिष्ठामेति, अन्यथा भस्त्रावायुवदप्रतिष्ठितमेव स्यात्। तदेवं भूतोऽप्ययमन्तःकृतमशेषं वक्ष्यमाणाकारोकारादिकलाभिः सह स्वातन्त्र्यात् पृथगाभास्य ताभिरेव गृह्णाति विमर्शयुक्त्या समनान्तमात्मसात्करोति, शिवं च कलयेत् परावाग्वृत्त्या विमृशेत्, अथ च कलयेदेकविंशाधिकारनिरूपितदशाऽवरोहक्रमेण हृदन्ते क्षिपेत् तत्परामृतसिक्तं विश्वं विदधीत। एवं शिवामृतसेकसरसीकृतपुरतत्त्वादिरूपं षोढाऽध्वानं ब्रह्मादिशिवान्तकारणषट्पदावस्थितं स एव पूर्वोक्तप्रथमाभ्युपगमरूपः प्रणवो मध्यमन्त्राक्षरात्मना विद्यया वेदनप्रधानया शक्त्या प्रचोदितं मध्यधामोर्ध्वारोहावरोहयुक्त्या जुहोति परधाममहानले क्षिपति। ततोऽपि पूर्वनिर्णीतस्वरूपादिशब्दवाच्यं यत् शिवं परमशिवाख्यं चिद्घनं धाम, सविसर्गमिति परस्वातन्त्र्यात्मोन्मनाशक्तिसमरसं तेन तृतीयबीजयुक्त्यवष्टम्भासादितेन शिवामृतरसेन या इच्छादिशक्तित्रयसामरस्यात्मास्वोदिता स्वप्रकाशा स्वोच्चारा च पराहंविमर्शयुक्त्या स्वस्मिन्नात्मीय एव स्वभावे, नत्विच्छाज्ञानादिशक्त्यात्मनि किंचित्संकुचिते, तिष्ठन्ती स्वस्य आत्मनश्चिन्नाथस्य स्वरूपभूता एकैवोत्तमा शक्तिः पराभट्टारिका सैव पूर्यंते परमशिवतच्छक्तिसामरस्यमापाद्यतेऽनया विश्वमिति व्युत्पत्त्या परिपूर्णा पूर्णाहुतिस्तया तत् चिदग्नौ हुतं विश्वं निरन्तरं पूर्णं सर्वं सर्वात्मपरशक्तितद्वत्सामरस्यात्म कुरुते। तदित्थं मन्त्रोच्चारयुक्त्या प्राप्तपरधामा यो मन्त्री, स साक्षात् शक्तिमान् शिव एव स्मृत इति व्यवहितसंबन्धः ॥

'गृह्णाति प्रणवः' इत्युक्तिं स्फुटयति—

उद्गीथाक्षरसंबद्धं तत्त्ववर्णपदात्मकम्।
भुवनानि कला मन्त्राः कारणानि षडेव तु ॥१९॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्चापीश्वरश्च सदाशिवः।
शिवश्चेति

ऊर्ध्वं सर्वत्रादिभूतत्वेन गीयत इत्युद्गीथः प्रणवः, तद्रूपेऽक्षरे विमले धाम्नि, अध्वषट्कं कारणषट्कं च संबद्धमन्तःक्रोडीकृतमवस्थितम् ॥

अतश्च—

स्वशक्त्यां तु षट्त्यागात् सप्तमे लयः ॥२०॥

स्वयाऽनपायिन्या परस्फुरत्तात्मना शक्त्या षण्णामध्वनां कारणानां च त्यागात् सप्तमेऽध्वकारणातीते परधाम्नि प्रणवोच्चारणान्ते विश्रमितव्यमित्यर्थः ॥२०॥

एतदेव प्रणवकलाप्रदर्शनक्रमेण विभजति—

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ॥२१॥
कौण्डली व्यापिनीशक्तिः समनाश्चेति सामयाः ।

कौण्डलीति शक्तिविशेषणम् । इत्येकादश मन्त्रावयवाः प्राङ्निर्णीततत्त्वाः सामया हेया इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्' (४।४३२)

इति ॥

तदूर्ध्वम्—

निष्कलं चात्मतत्त्वं च शक्तिश्चैव तथोन्मना ॥२२॥
साभासं तत्

समनान्तात् कलनामयाद् निष्क्रान्तम्, तदुच्चारणान्ते निरावरणमप्यनुन्मिषितशिवशक्तिव्याप्तिकं शुद्धमात्मतत्त्वम्, तदेव तु प्रोन्मिषदभेदेन सार्वज्ञ्यादिरूपमुन्मनाशक्त्यात्म । तदेतत् प्रमेयद्वयं परमशिवविश्रान्त्यनासादनात् साभासमत्यणीयःसंकोचम् ।

यद् वियत्पर्यन्ताशेषविश्वोत्तीर्णविश्वमयता भासकम् तत्—

निराभासं परतत्त्वमनुत्तमम् ।

निराभासमिति प्राग्वत् ॥

तदित्थं क्रमात् क्रममारोहयुक्त्या—

षट्त्यागात् सप्तमं प्रोक्तं लयमालयमुत्तमम् ॥२३॥

पूर्वोक्ताध्वकारणषट्त्यागात् सप्तमं धाम उत्तमम्, लीयते विचलत्यस्मिन् सर्वमिति कृत्वालयम्, आलीयते परं साम्यमासादयतीति कृत्वा आलयं च ॥२३॥

लयमित्याद्युक्तिं स्फुटयति—

तत्र सर्वे प्रलीनास्तु तत्समास्तत्प्रसादतः ।
तच्छक्तिबृंहिताः शाक्ताः परिपूर्णा भवन्ति हि ॥२४॥

तच्छक्तिबृंहितत्वादेव शाक्तास्तन्मया एवेत्यर्थः ॥२४॥

तदत्र लये—

क्रमं तेषां प्रवक्ष्यामि

येन क्रमेण ते कारणाद्याः—

लीयन्ते सुरसुन्दरि ।

तमकारादिवाचकक्रमं वाच्यदेवतातदाश्रयतदधिष्ठातृब्रह्मकलातदधिष्ठेयतत्त्वादिप्रपञ्चेन सह आदिशति—

अकारं ब्रह्मदैवत्यं हृदयं यावदध्वनि ॥२५॥
कलाष्टकेन संयुक्तं कलयेत् सर्वजन्तुषु ।

अकारविमर्शात्मकं धाम सृष्टिसंवित्स्वरूपं ब्रह्मदेवताकं पादाङ्गुष्ठाद् हृदन्तं यावद् गर्भीकृतानन्तभुवनादिप्रपञ्चपृथ्वीतत्त्वाधिष्ठातृवक्ष्यमाणसद्योजातब्रह्मकलाष्टकेन युक्तं सर्वजन्तुषु कलयेत्—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्येव वसतेऽर्जुन ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥'
(भ० गी० १८।६१)

इति स्थित्या तेषां विचित्रां विकल्पाविकल्पसंवित्सृष्टिं कुरुते ॥

सद्योजातकला नामतो निर्दिशति—

सिद्धिर्ऋद्धिर्द्युतिर्लक्ष्मीर्मेधा कान्तिर्धृतिः स्वधा ॥२६॥
सद्योब्रह्मकला एताः पश्चिमं व्याप्य संस्थिताः ।

पश्चिममिति क्रोडीकृतपृथ्वीव्याप्तिकं वक्त्रम् श्रीसद्योजातस्य स्थितिकारित्वात् तच्छक्तयस्तथोचिताभिधानाः ॥

अथोकारपरामृश्यवाच्यदेवतादिप्रपञ्चं कलानामग्रहणपूर्वं प्रदर्शयति—

रजा रक्षा रतिः पाल्या काम्या तृष्णा मतिः क्रिया ॥२७॥
वृद्धिर्माया च नाडी च भ्रामणी मोहनी तथा ।
वामदेवकला ह्येता वैष्णवांशे व्यवस्थिताः ॥२८॥
कण्ठान्तं यावत्तद्व्याप्तमापो व्याप्य स्थितास्त्विमाः ।

श्रीवामदेवस्य सृष्टिकारित्वात् शक्तयः समुचिताभिधानास्त्रयोदश एताः श्रीस्वच्छन्दे वृद्धिकाया एकैव पठिता मनोन्मनी च त्रयोदशीत्येतावन् भेदो दृश्यते । वैष्णवांशे इति प्रकृत्यन्ततत्त्वाधिष्ठातरि विष्णवाख्ये स्थितिसंविदात्मनि भगवदंशे । एतच्च सर्वमुकारेणविमर्शयुक्त्याऽन्तःक्रोडीकृतम् ॥

मकारपरामृश्यं तथैवाह—

तमो मोहा क्षुधा निद्रा मृत्युर्माया भया जरा ॥२९॥
अघोरस्य कला ह्येता रौद्रांशे तु व्यवस्थिताः ।
ताल्वन्तं यावत्तद्व्याप्तं

अघोरस्य संहारकत्वात् तत्कलास्तत्समुचितसंज्ञाः । रौद्रांश इति ताल्वन्तव्यापिमायातत्त्वाधिष्ठातुर्मकारकलाविमृश्यस्यास्य संहर्तृसंविदात्मनो भगवदंशस्य रुद्रभट्टारकस्यैता अष्टौकला इत्यर्थः ॥

एषा च तत्त्वस्थित्या—

तैजसी व्याप्तिरुत्तमा ॥३०॥

'कलानां यावती व्याप्तिस्तत्त्वानां तद्वदेव हि' (५।१३)

इति श्रीस्वच्छन्दादिष्टनीत्या विद्याकलाव्याप्तिसारेत्युत्तमपदाशयः ॥३०॥

एतदुपरि भ्रूमध्ये—

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च।
पुरुषस्य कला ह्येता ईश्वरे तु व्यवस्थिताः ॥३१॥
वाय्वावरणमाश्रित्य बिन्द्वन्तं यावदुज्ज्वलाः ।

पुरुषभट्टारकस्य वैश्वात्म्याद् निवृत्त्यादिशान्त्यन्तकलाक्रोडीकाराः। ईश्वर इति बिन्दुविमृश्य ईश्वरतत्त्वाधिष्ठातरीश्वरभट्टारक इत्यर्थः। उज्ज्वला इति सामरस्यापादनाद् दीप्ताः ॥

एषा च दशा कलापञ्चकस्थित्या—

शान्त्यवस्था तु तुर्याख्या

अथैतदुपरि ललाटादारम्य—

नादन्ते संप्रचक्ष्महे ॥३२॥

मान्त्रं प्रमेयम् ॥३२॥

यच्चैतन्नादाख्यं पदम्—

व्याप्तिः सादाशिवी सा तु व्योमाख्या शून्यरूपिणी।

परव्योमव्याप्त्यात्मेत्यर्थः ॥

तारा सुतारा तरणी तारयन्ती सुतारिणी ॥३३॥
द्वादशान्तपदारूढास्तुर्यान्तास्तु कलाः स्मृताः ।
ईशानस्य कला ह्येताः पञ्च वै कारणात्मिकाः ॥३४॥

हिर्यस्मादर्थे। यत ईशानस्य कला ह्येताः ततस्तुर्यान्तास्तुर्यातीतरूपाः; अतश्च संसारतारकत्वात् ताराद्युचितनाम्न्यः कारणात्मिकाः पञ्चकृत्यकरणे साधकतमाः ॥३४॥

तदीदृशोऽयम्—

स्थूलस्त्वेवं समाख्यातो ह्यध्वा वै ब्रह्मभूतजः।

ब्रह्माणि ईशानादीनि, भूतानि व्योमादीनि, तज्जस्तत्प्रपञ्चव्याप्तिरूपः ॥

अथात्रैवान्तर्भूतम्—

सूक्ष्मं चैवमतो वक्ष्ये ह्यध्वानं तु यथास्थितम् ॥३५॥

समुपक्रमते वक्तुम्—

यश्चार्धचन्द्रः कथितः प्लावतो बिन्दुमूर्धनि।
तच्छक्त्यमृतमुद्दिष्टं कलायुक्तं महेश्वरि ॥३६॥

कथित इति—

'यदा शिवामृतं मूर्ध्नि पतति सृष्टिकारणम्।
आप्यायस्तु भवेत्तेन··················॥' (२१।६६)

इत्यत्र ॥३६॥

एतत्कला दर्शयति—

ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती चैव सुप्रभा विमला शिवा।
अर्धचन्द्रकला ह्येताः सर्वज्ञपदसंस्थिताः ॥३७॥
विद्यावरणसंबद्धा मन्त्रकोटिविभूषिताः।
क्रियाशक्तिस्वरूपास्तु संस्थिता विमलाः शुभाः ॥३८॥

सर्वज्ञं यत् पदम्, तत्र संस्थितास्तद्रूपास्तत्प्रसादाश्चेत्यर्थः। अथ च सर्वज्ञताख्यगुणप्रपञ्चरूपा एता अर्धचन्द्रस्य प्रकाशप्राधान्यात् तच्छक्तयोऽपि ज्योत्स्नाद्युचितसंज्ञाः, विद्याभिर्मालामन्त्रैः कृतेनावरणेन परिवृत्य व्यवस्थानेन संबद्धा युक्ताः, मन्त्राः कूटाक्षरादिरूपाः सृष्टिकारित्वात् क्रियाशक्तिरूपास्तेषां कोट्या विभूषिताः, तथापि कार्येणानाविलीकृतत्वाद् विमलाः, अनुग्रहप्रवणत्वात् शुभाः ॥३८॥

अथ एतदुपरि—

रुन्धनी रोधनी रौद्री ज्ञानबोधा तमोपहा।
निरोधिकाकला ह्येता सर्वदेवनिरोधिकाः ॥३९॥
नित्यतृप्ता महाभागा वामाशक्तिस्वरूपिकाः।

अनायातपरशक्तिपातानां सर्वेषां ब्रह्मादीनामपि निरोधिका नादादिदशासमावेशपरिपन्थिन्योऽनुरूपरुन्धन्यादिनाम्न्यः, परशक्तिपातपूतान् प्रति तु ज्ञानप्रबोधात्तमोनाशहेतुत्वाद् ज्ञानबोधाद्याख्या एताः, बुद्धाबुद्धानामध ऊर्ध्वंप्रसरणनिरोधित्वान्निरोधिकाकला नित्यतृप्तिकाख्यगुणव्याप्तिका वामाधिष्ठितत्वात् तत्स्वरूपा एता शक्तयः ॥

अथ तदूर्ध्वं विमर्शप्राधान्येन परदीप्तिमये नादपदे समुचितसमाख्याः शक्तीराह—

इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिका तथा ॥४०॥
ऊर्ध्वगामिन्य इत्येताः कला नादसमुद्भवाः।
एताः स्वतन्त्रतायुक्ताः सकले निष्कले स्थिताः ॥४१॥

ज्ञानशक्तिस्वरूपास्तु ज्ञाताः सार्वज्ञ्यदायिकाः ।

ऊर्ध्वगामिनी नादान्तपदस्था शक्तिरशेषशक्तिश्रेणीशोभितत्वाद् बहुवचनेन निर्दिष्टा, नादे नादधाम्नि समुद्भव उल्लासो यासाम्, सकले घोषाद्यष्टविधशब्दशक्तिमति नादे मोचिकान्ताः, निष्कले तु सुसूक्ष्मध्वनिमात्रात्मनि नादान्ते ऊर्ध्वगामिनीच्छाशक्तिप्रधानशाक्तदशाप्रवेशव्यापृता तत्प्रवेशप्रदा च शक्तिरिति विभागः। स्वतन्त्रतायुक्ता इत्युक्त्या स्वातन्त्र्यगुणप्रपञ्चतामासां दर्शयति । ज्ञानशक्तिस्वरूपा इति वदन् निरोधिकान्तं क्रियाशक्तेः, नादोर्ध्वं चेत्याच्छाशक्तेर्व्याप्तिरित्यादिशति ॥

अथ ऊर्ध्वम्—

सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च ह्यमृतामृतसंभवा ॥४२॥
व्यापिनी चैव विख्याता शक्तितत्त्वसमाश्रिताः ।
अलुप्तशक्तिसंबन्धाच्चिच्छक्तिसमधिष्ठिताः ॥४३॥
शक्तितत्त्वे स्थिता ह्येताश्चिन्मात्रा अपि लक्षिताः ।

इच्छाशक्तिप्रधानाया भुवो ज्ञानशक्त्याद्यपेक्षया सूक्ष्मतेति तच्छक्तीनामपि सूक्ष्मत्वात् तत्प्रकर्षादानन्दस्पर्शप्राधान्यात् तत्प्रदत्वाद् व्याप्तिकृत्त्वाच्च सूक्ष्माद्याः संज्ञाः । व्यापिनीति विशेषेण ख्याता ब्रह्मबिलोर्ध्वधामनिविष्टशक्तिपदादुपरि त्वक्शेषे स्थिता । शक्तितत्त्वमिति शक्तिव्यापिन्याख्यस्थानद्वयव्यापि, न तु शक्तिस्थानमेव व्यापिन्याः शक्तिपदोर्ध्वगशून्यातिशून्याश्रयत्वात् । एताश्च चिच्छक्त्यधिष्ठितत्वादेव चिन्मात्ररूपा अपि लक्षिता महामायाकृततावन्मात्राभेदाख्यातिरूपत्वादीषत्प्रमेयतामिव प्राप्ताश्चिन्मात्ररूपत्वं ज्ञानशक्त्यतिशय्यनादिबोधत्वम् ॥

अथ व्यापिनीशक्तीर्दर्शयन् शक्तिपदेन सर्वगत्वं व्यनक्ति—

व्यापिनी व्योमरूपा च ह्यनन्तानाथसंज्ञिता ॥४४॥
अनाश्रिता महेशानि व्यापिन्यास्तु कलाः स्मृताः ।

व्याप्तेरनाकृतित्वात् कालानवच्छेदादनन्यस्वामिकत्वादनन्याश्रयत्वाच्च एवमाख्या एता व्यापिन्या इति शून्यातिशून्यदशायाः । आसां च पूर्वनिर्दिष्टचिन्मात्ररूपतयाऽनादिबोधाख्यगुणप्रपञ्चरूपत्वम् ॥

अथ व्यापिनीपदोर्ध्वं समनाधामनि—

'समना रूपविज्ञानम् ।' (४।३९४)

इति श्रीस्वच्छन्दोक्त्या सूचिताः समनाशक्तीर्दर्शयति देवः—

सर्वज्ञा सर्वगा दुर्गा सवना स्पृहणा धृतिः ॥४५॥

समना चेति विख्याता एताः शिवकलाः स्मृताः ।

व्यापिन्यन्तस्य सर्वस्य ज्ञानाद् व्याप्तेर्दुरधिगमत्वात् प्रातःसंध्याविश्रान्तिदत्वात् स्पृहणीयत्वादुक्तविश्वधारणाद् विश्वस्य मननमात्रात्मतापादनादेता एवमाख्याः शिवस्य शिवतत्त्वाधिष्ठायिनः परशिवभट्टारकस्य कलाः शक्तयः ॥

एताश्च—

इच्छाशक्तिमधिष्ठाय इच्छासिद्धिप्रदायिकाः ॥४६॥
शिवतत्त्वं समाश्रित्य सुसंपूर्णार्णवप्रभाः ।
अनन्तशक्तिसंस्थानाः सूक्ष्माश्चात्यन्तनिर्मलाः ॥४७॥

एतदन्तत्वादिच्छाशक्तिव्याप्तेरिच्छाशक्तिमधिष्ठायैताः स्थिताः, ततश्च एतत्पदाराधकस्येच्छामात्रेणाभीष्टप्रदा व्यापिन्यन्तस्य विश्वस्य क्रोडीकृतेः सुसंपूर्णार्णवस्येव प्रभा प्रकाशो यासाम्, अतश्चानन्तशक्तिसंस्थानमिव स्थितिर्यासाम्, अनन्तशक्त्याख्यगुणप्रपञ्चरूपाश्च । तदित्थमर्धचन्द्रनिरोधिकानादनादान्तशक्तिव्यापिनीसमनास्थाः शक्तयः सर्वज्ञतातृप्तिस्वतन्त्रतालुप्तशक्त्यनादिबोधानन्तशक्त्याख्यभगवद्गुणषट्कप्रपञ्चमय्य इत्यादिष्टम् । सूक्ष्मा इति धाराधिरूढसौक्ष्म्या, इत्यर्थः, अत्यन्तनिर्मला इति नादनादान्तकलापेक्षया शक्तिकलाः, ततोऽपि व्यापिनीकला निर्मला, इमास्तु व्यापिन्यन्तमन्तव्यव्याप्तिप्रशमार्थमननमात्रात्मतया ततोऽपि निर्मला इत्यन्ते नैर्मल्यमापेक्षिकमासाम्, वस्तुतस्त्वेतदन्तस्य पदस्य मननमात्रात्मतापादिताशेषत्वेऽपि मन्त्ररूपशुद्धात्मोन्मनापरमशिवाख्यपरत्रितत्त्वीनिमेषात्मकत्वात् कुतोऽत्यन्तनैर्मल्यम् ॥४७॥

यदाह—

समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।
षट्कारणपदाक्रान्तं स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः ॥४८॥

समनातः प्रभृत्यख्यात्यासूत्रणादेतदन्तस्याध्वनः पाशजालत्वं षण्णां ब्रह्मादिकारणानां पदैर्विश्रान्तिभिराक्रान्तं युक्तम् । स्थूलत्वं नादान्तानां पाशानाम्, सूक्ष्मत्वं तु शक्त्यादिसमनान्तानामिति ॥४८॥

उक्तमर्थं स्मारयति—

शक्त्यादिसमनान्तं हि सूक्ष्मविज्ञानगोचरम् ।

प्रकृष्टयोगिगम्यम् ॥

अथ प्रशान्तपाशव्याप्ति परां त्रितत्त्वीस्थितिं दर्शयितुमाह—

तदूर्ध्वे तु परं शान्तमप्रमेयमनामयम् ॥४९॥
तत्त्वत्रयं परं देवि ज्ञात्वा मोचयते गुरुः ।

ज्ञात्वेति समाविश्य । यथोक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधमात्रेण योजयेत् ।
तदा शिवत्वमभ्येति पशुर्मुक्तो भवार्णवात् ॥' (४।४३७)

इति ॥

त्रीणि तत्त्वानि विभागेन दर्शयति—

तत्रासौ निर्मलो ह्यात्मा स्वशक्त्याधारसंस्थितः ॥५०॥
ज्ञानक्रियासमाविष्टश्चिन्मात्रो निरनुप्लवः ।
सर्वभावपदातीतः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ॥५१॥

तत्रेति समनोर्ध्वे । समनावधिसंकोचात्माणवमलसंस्काराञ्निष्क्रान्तो निर्मलः, अतश्च स्वशक्त्यात्मन्याधारे सम्यक् स्थितः । शक्तिश्चास्य ज्ञानक्रियात्मेति ज्ञानक्रियासमाविष्ट इत्यनेनोक्तम् । चिन्मात्रः, न तु चिदानन्दघनस्वतन्त्रपरमशिवात्मा । अनु प्लवते आणवमलानन्तरं प्रसरतीत्यनुप्लवः कार्मो मायीयश्च मलस्ततो निष्क्रान्तः । यतः सर्वभावपदं समनान्तं धाम अतीतः, अतः सर्वैरन्तर्बहीरूपैरिन्द्रियैर्वर्जितस्तदतीतस्तदगोचरः स्वप्रकाशस्वरूपश्च ॥५१॥

तदित्थमयम्—

निर्मलः स्फटिकाकारः स्वात्मन्यात्मा व्यवस्थितः ।

विश्वप्रतिबिम्बक्षमत्वान्निर्मलः स्फटिकाकारः समनान्तातिक्रमात् स्वात्मन्यात्मा व्यवस्थितः ॥

समनान्तपाशोत्तीर्णस्यास्य—

तत्रस्थस्य च सा शक्तिस्तस्यानुग्रहकारिणी ॥५२॥
यावन्न भवते देवि तावदात्मा शिवो नहि ।

तत्र शुद्धत्रितत्त्वाद्यपदे स्थितस्यापि, सेत्युन्मनाख्या परा शक्तिः स्वावेशात्मानुग्रहकारिणी यावन्न आविर्भवति, तावद् विश्वोत्तीर्णपदावस्थितोऽप्यसावात्मैव, न तु शिवः । तदुक्तं प्राक्—

'ये वदन्ति न चैवान्यं विन्दन्ति परमं शिवम् ।
त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं पदम् ॥' (८।३०)

इति ॥

युक्तं चैतत्, यतस्तत्पदारूढोऽप्यसौ—

ईषत्प्रसारितः शुद्धः

समनान्तपाशप्रशमसंस्कारोत्थपरमशिवाभेदाख्यात्यात्मभिन्नशिवरूपत्वादीषत्प्रसारितः, समनान्तोत्तीर्णत्वाच्च शुद्धः ॥

एतद् दृष्टान्तप्रमुखं घटयति—

कमलं वार्करश्मिभिः ॥५३॥

यावन्नोद्भासितं सर्वं तावदीषत्प्रविस्तरम् ।

दार्ष्टान्तिकेऽर्कस्थानीयः परमशिवः । उद्भासनमुत्कृष्टतया स्वाभेदेन प्रकाशनम ॥

एवं व्यतिरेकत उक्त्वा, अन्वयतोऽप्याह—

यथार्करश्मिसंयोगात् कमलं प्रसरेत् क्षणात् ॥५४॥

शिवशक्त्या तथात्मा वै गृहीतः सर्वतः शिवः ।

संयोगः सर्वत आश्लेषः । गृहीतः स्वसमावेशलम्भितः ॥

एष च—

सार्वज्ञ्यादिगुणैर्युक्तो भवत्येव शिवो यथा ॥५५॥

निराभासः परं शान्तो ह्यप्रतर्क्यो ह्यनुत्तमः ।

शाम्भवपदसमावेशासादितसर्वज्ञत्वादिगुणः, तत एव व्युत्थानबीजभूतदेहादिसंस्कारागलनात् शिवो यथेत्युक्तम्, देहादिसंस्कारविगलने तु पूर्वोक्तनीत्याऽसावेव परमशिवो निराभास इति गतार्थम् ॥

एतदेव स्फुटयति—

यावन्न पूर्णतां प्राप्तस्तावत् साभास उच्यते ॥५६॥

यदा तु सर्वभावेन शक्त्यात्मा संप्रसारितः ।

ततः प्रसररूपिण्या गृहीतस्तु परस्तदा ॥५७॥

शिवो भवति देवेशि ह्यविभागेन सर्वशः ।

सह आभासेन निर्णीतदशा ईषत्प्रकाशेन वर्तत इति साभासः, तत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी, तं शिवमाश्रित्य, तदविभेदभाजा प्रसररूपिण्या विकस्वरयोन्मनाशक्त्या यदा गृहीतः स्वसमावेशेन स्वात्मैक्यं प्रापितस्तदा सर्वशोऽविभागेन भेददृगुत्थभिन्नशिवताविलक्षणपरमाद्वयदृष्ट्या एक एव परमशिवोऽसौ भवति । यथोक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'तस्मिन् युक्तः परे तत्त्वे सार्वज्ञ्यादिगुणान्वितः ।

शिव एको भवेद् देवि ह्यविभागेन सर्वशः ॥' (४।४०२)

इति ॥

तदित्थं मध्यधामारोहावरोहयुक्तः परमशिवावेशरूपामुक्तां पराद्वयात्मताम्—

एवं ज्ञात्वा तु मन्त्राणां मन्त्रत्वं कुरुते सदा ॥५८॥

एतज्ज्ञानयुक्तस्य मन्त्रा मन्त्रा भवन्तीत्यर्थः ॥

अस्य मन्त्रवीर्यज्ञस्य मन्त्राः—

शक्तिस्थाः शक्तिदाः सर्वे भोगमोक्षफलप्रदाः ।

शक्तिरुन्मना । शक्तिदाः परस्वातन्त्र्योन्मीलिनः, अतश्च यथेच्छं भोगम्, मोक्षम्, द्वयं वा प्रददति ॥

एतद् व्यतिरेकतोऽन्वयतश्च घटयति—

न विन्दति यदा मन्त्री सृष्टिसंहारवर्त्मनी ॥५९॥
उदयास्तमरूपेण मन्त्रा अल्पफलप्रदाः ।
भोगं मोक्षं न यच्छन्ति जप्ता ध्यातास्तु पूजिताः ॥६०॥
ईषत्फलं प्रयच्छन्ति शिवाज्ञासंप्रचोदिताः ।
यदा तु वेत्ति वै मन्त्री ह्युत्पत्तिस्थितिसंहृतीः ॥६१॥
उदयास्तमरूपेण मन्त्राणाममितौजसाम् ।
तदा किङ्करतां यान्ति मदाज्ञानुविधायिनः ॥६२॥
संमुखाश्च भवन्त्येते साधकस्य भवान्तरे ।

विन्दति मध्यधामाप्रवेशे न लभते मन्त्रीत्येतन्नाममात्रमस्य, उक्तस्थित्याऽवरोहारोहक्रमौ सृष्टिसंहारसर्गौ । उदयास्तमरूपेणेत्यत्र यशब्दलोप ऐश्वरः । आरोहक्रमेण उदयधाम हृदयमस्तमयपदं द्वादशान्तः, अवरोहेण विपर्ययः । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे जपप्रकरणे—

'जपः प्राणसमः कार्यो दिनस्थो मुक्तिकाङ्क्षिभिः ।
संहारः स तु विज्ञेयः शिवधामफलप्रदः ॥
व्योम्नि प्राप्तो यदा नादः पुनरेवः निवर्तते ।
शर्वरी सा तु विज्ञेया हृदयं यावदागतः ॥
सृष्टिरेषा समाख्याता सर्वसिद्धिफलोदया ।' (२।१४०-१४२)

इति । अल्पफलप्रदत्वादीषत्फलं प्रयच्छन्ति, न तु भोगमोक्षौ । ईषत्फलदाने च शिवाज्ञैवैषां हेतुः । हृद्द्वादशान्तरालं मन्त्राणां स्थितिपदम् । उदयश्च अस्तमयश्च रूपं च पूर्वापरकोटयन्तराले समुच्चरद्रूपमिति संहारः । किङ्करतां यथेष्टं कार्यकरणे प्रेर्यत्वम्, भवान्तरे संसारमध्ये तत्तत्तत्त्वभोगभूमौ च साधकस्य संमुखाः समावेशाभिव्यक्तिहेतवो भुक्तभोगस्य मुक्तिदाश्च भवन्ति ॥

एतत् प्रकृते योजयनि—

एवं शिवाज्ञयाविष्टाः शिवीभूताः शिवप्रदाः ॥ ६३॥

भवन्ति विगतायासा निर्लेपा निरनुप्लवाः ।
मन्त्रस्यास्य प्रभावेण शिवस्य परमात्मनः ॥६४॥
अमृतेशस्य देवस्य मृत्युजिद्भैरवस्य तु ।

शिवस्य आज्ञा स्फुरत्तात्मा परा शक्तिः, तया वीर्यात्मकैतन्मन्त्रप्रभावात्मना, आविष्टास्तन्मयीभूताः, लेपात् तावन्मात्रसंकोचात्माणवमलसंस्काराद् अनुप्लवाच्च भिन्नवेद्यप्रथालक्षणाद् मायीयान्निर्गताः, अतश्च शिवीभूताः । एवमित्युक्तोदयादि-क्रमेण विदिततत्त्वाः । विगत आयामो येभ्यस्तथा शिवप्रदा भुक्तिमुक्तिप्रदा भवन्ति । भैरवान्ताः शब्दाः पूर्वमेव निरुक्ताः ॥

तन्त्रार्थं निगमयति—

परापरविभेदं तु यो विन्देतास्य सर्वदा ॥६५॥
सोऽचिरादमृतेशत्वमाप्नुयान्नात्र संशयः ।

परसूक्ष्मस्थूलध्यानदृशा परं परापरमपरं च विशेषं योऽस्य मन्त्रनाथस्य लभते, असावेतत्तादात्म्यमेवैति ॥

अतश्च—

प्रपन्ना येऽस्य मन्त्रस्य कृतकृत्या भवन्ति ते ॥६६॥

परजीवन्मुक्त्यासादनात् ॥

किं चैतन्मन्त्राराधनप्रवणः—

येन येन हि भावेन यद्यत्फलजिगीषया ।
यद्यदाश्रयते भक्त्या तत्तत्फलमावप्नुयात् ॥६७॥

येन येनेति द्वैताद्वैतादिरूपेण । यद्यदिति मुक्तिमुक्त्यादि । यद्यदिति श्री-सदाशिवादिदैवतम् ॥

न चात्र मायाप्रमातृदौरात्म्यात् संशयितव्यमित्याह—

सत्यमेतत् समाख्यातं मया तुभ्यं न चान्यथा ।

मया तुभ्यमिति वक्तृप्रष्ट्रोरुचिततां ध्वनति । यदुक्तमन्यत्र—

'संबन्धोऽतीव दुर्घटः ।'

इति ॥

तदस्मिन् सर्वस्रोतःसारसंग्रहे महाशास्त्रे त्वया—

यदहं चोदितो देवि सर्वानुग्रहकारणात् ॥६८॥
गूढप्रश्नेन तत्सर्वं मया ते प्रकटीकृतम् ।

अत्युत्तमत्वाच्चेदम्—

इति संक्षेपतः प्रोक्तं विधानं भुवि दुर्लभम् ॥६९॥
न चेदं पापशीलानां क्रोधिनां कामिनां तथा।
गुरुनिन्दापराणां च देवमन्त्रादिदूषिणाम् ॥७०॥
नास्तिकानां शठानां च क्रियाधर्मबहिष्कृताम्।

शठाः कदभिनिवेशाः। क्रियाधर्माद् भगवत्पूजादेर्बहिर्बाह्यं विषयसेवनादि-रूपं कृत् करणं येषाम् ॥

तदित्थमपरीक्षितानानायातशक्तिपातानयोग्यान् त्यक्त्वा—

देयमेतत् स्वशिष्याणां स्वपुत्राणां न चान्यथा ॥७१॥
स्वदीक्षितानां भक्तानां गुरुदेवाग्निपूजिनाम्।

स्वयं शासितुमर्हाणां शिष्याणां च, न चाध्यापितमन्त्राणाम्, अपि तु स्वयं दीक्षितानां भक्त्यादियुजां स्वपुत्राणामपि तादृशामेवैतद् देयमाराधनाय तत्त्वतः प्रकाशनीयम् ॥

शासनार्हाय, अपि चात्यन्तमनुन्मिषितविवेकाय, असंभवद्वित्ताय वा—

विना समयदीक्षां च न दद्यात्

'ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्या वा वीरवन्दिते।
नपुंसकाः स्त्रियाः शूद्रा ये चान्येऽपि तदर्थिनः ॥
दीक्षाकाले न मीमांस्या ज्ञानदाने विचारयेत्।
ज्ञानमूलो गुरुर्यस्मात् सप्तसत्रीप्रवर्तकः ॥'

इति श्रीकामिकोक्तस्थित्योन्मिषच्छिन्नभक्तये सुपरीक्षितामाल्यवित्ताय अपि वा कृतसमयदीक्षाय तद् विधानं देयमेव, न तु दीक्षां विना जातुचित्। उक्तं च श्रीमालिनीविजये—

'न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे'

इत्युपक्रम्य—

'अपि मन्त्राधिकारित्वं मुक्तिश्च शिवदीक्षया' (४।६-८)

इति ॥

स्वप्रियेऽपि च ॥७२॥
सर्वथा नैव दातव्यमित्याज्ञा पारमेश्वरी।

अयोग्याय प्रियपुत्रकलत्राद्याय हेमवस्त्रादिवत् पारमेश्वरं संसारदौर्गत्यहरं परं धनं नैव दद्यादित्येषा पारमेश्वर्येव आज्ञेत्यभ्युक्त्या सर्वथा समयमिमं पालयेदित्यादिशति ॥

अन्यथा तु दृष्टप्रत्ययस्तावदित्याह—

आज्ञाभङ्गेन देवेशि देहपातो भवेद्यतः ।।७३।।

तत आज्ञां पालयेत् ।।७३।।

अपालयतस्त्वदृष्टप्रत्यवायमप्याह—

ददाति यदि मोहेन स्नेहेन धनलिप्सया ।

यः कदाचित् ।।

असावुल्लङ्घिताज्ञः—

गम्यते नरकं घोरमित्याज्ञा पारमेश्वरी ।।७४।।

गम्यते नीयते, गर्मिणिजन्तोऽत्र ।।७४।।

एवमनुल्लङ्घ्या भगवदाज्ञेति कृत्वा—

एतस्याः परमेशानि पालनात् सिद्धिमाप्नुयात् ।

आज्ञापालनेनैव परं ज्ञानघनमुपभुञ्जानस्य करतलगताः सिद्धय इति न विस्मयः ।।

यतः—

पालनाच्च भवेद्देवि मृत्युजित् परमेश्वरः ।।७५।।

श्रीमृत्युजिद्भट्टारकात्मपरमधामसमावेशाभ्यासात् तद्रूप एव भवति योगीन्द्र इति शिवम् ।।

यच्चोन्मेषनिमेषयोगि निखिलोन्मेषादिसंदर्श्यपि
यच्च द्वैतदृगन्धकारशमनं पूर्णाद्वयानन्दितम् ।

यच्चाणून्नयति स्वधाम महतस्त्रासाच्च यत् त्रायते
उद्द्योतात्म समग्रशक्ति शिवयोर्नेत्रं परं तन्नुमः ।।

विश्वाभासनतः सितं निजरुचा रक्तं तदामर्शनात्
तत्संचर्बणतः सितासितमलं तद्ग्रसतश्चासितम् ।

भासा चक्रमयैक्यतश्च न सितं नैवासितं नोभयं
नो रक्तं न च नैतदात्म तदिदं नेत्रं जयत्यैश्वरम् ।।

इति श्रीनेत्रोद्द्योते द्वाविंशोऽधिकारः ।।२२।।

———

त्वत्तो नैशतमः प्रशाम्यति जगज्जातप्रबोधं सदा
साफल्यं दधते दृशः सदसती सम्यग् व्यवस्थापिते।
यत्त्वं सूकरघूकचर्मचटकप्रायैस्तु नो मन्यसे
भास्वद्द्योत स दोष एष विषमस्तेषां दृशस्तादृशः ॥

संसाररिपुनिर्माथशूरः शूरसमाश्रयः ।
श्रीरामादिगुरुग्रामस्तथान्तेवासिनोऽपरे ॥

भट्टरक्तिकगर्भेशकेशवाद्या इहार्थनाम् ।
अकार्षुर्मे ततः किंचिदिदमुद्द्योतितं मया ॥

गतानुगतिकप्रोक्तभेदव्याख्यातमोऽपनुत् ।
पराद्वैतामृतस्फीतो नेत्रोद्योतोऽयमुत्थितः ॥

अभिनवगुरुवाणीसन्मधूनां सुपूर्णां
परिणतिमसमां स्वां क्षेमराजो विमृश्य ।
विकसितसुमनःश्रीश्रीमदुच्चोत्पलान्तः-
परिमलसरसानां व्याकरोच्छास्त्रमेतत् ॥

ग्रस्तोऽयं सकलो भवो विगलिताः कर्माणुमायामलाः
प्राप्तानन्दघना स्थितिः किमपरं लब्धः प्रकाशः परः ।
श्रीमन्नेत्रमहेश्वरस्तुतिरसास्वादेन लब्धोदयै-
रस्माभिर्विमले हृदम्बरतले निर्यन्त्रणं स्फीयते ॥

यत्तत्प्राहुः प्रथयदखिलं वर्तनीं संविधत्ते
यच्चोल्लेखाद्विलिखदखिलं सूत्रसंस्थाः करोति ।
नेत्रद्वन्द्वं तदिह कलयच्छाङ्करं तच्चिदात्म
ज्योतिर्नेत्रं जयति परमानन्दपूर्णं तृतीयम् ॥

समाप्तोऽयं नेत्रोद्द्योताख्यो ग्रन्थः ।

कृतिर्महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मपरागास्वाद-
तत्परश्रीक्षेमराजस्येति शिवम् ॥

परिशिष्ट

नेत्रतन्त्रस्मृतग्रन्थमततन्त्राणि

अद्वैत (तन्त्रम्) ७३, ११२, १९३, २१८
अन्यत्र ४२, १८८
आगमः ७३, ७५-७६, १०९, १२६
आम्नायः ७३, १४८, १८९
आरहतः ९८
उत्तरतन्त्रम् ८६
एकवीरः ७३, ९८, १०९, १५३-१५४
कुलाम्नायः ९१
कौलिकः ९४, ११८
गारुड (तन्त्रम्) ९८, १२५
चण्डासिधार (तन्त्रम्) १२५
चण्डिका (तन्त्रम्) ९८
चतुष्क (तन्त्रम्) ९८
ज्येष्ठ (तन्त्रम्) १२५
तन्त्रम् ८१, ११६, १७२, १८५, १८८, २०३
त्रिक (तन्त्रम्) ९८
दक्षिण (तन्त्रम्) ७५, १०९, १२५
दुर्गाख्य (तन्त्रम्) ९८
देव्याख्य (तन्त्रम्) ९८
द्रामिड (तन्त्रम्) ९८
द्वैत (तन्त्रम्) ७३, ११२, १९३
नवकः ९८
नागः ९८
न्यायः ९८
पातालतन्त्रम् ९८
भूततन्त्रम् ९८, २०५
भैरवागमः ८०
मातृतन्त्रम् १२५
यामलम् ७३, ९८
योगः ९८
वाग्विधानम् ९८
वामः ७५, १०९, १२५
विद्यापीठम् ९८
विन्ध्यवासी ९८
वेदः १४८
वेदज्ञः २०५
वैदिकः ७५, ९८
वैष्णवः ७५, १०९, १५३
शास्त्रम् १२६, १३९, २११, २२८
शैवः ६७-६८, ११७, १५३
समभेदः ९८
सिद्धान्तः ७५, १०९, १५३
सौरः ७५
स्रोतस् ७६, १११, १२५, १६२
स्वयम्भूत्य (तन्त्रम्) ९८

नेत्रतन्त्रोद्द्योतधृतग्रन्थग्रन्थकारमतमतान्तराणि

अद्वयवादः १८५, २३१
अद्वैतशास्त्रम् ६७, ७३, ७७, ९९, ११२, ११९. १९४, २१४-२१५,३१८,२४३
अनीश्वरवादी १८३
अन्यैः ६
अन्यत्र २७, ५७, ११५, १२५, १२९, १७८-१७९, १८२, २४३
अन्यशास्त्रम् ६३, ६५, १६७
अभिनवगुप्तः १, २४६
अविद्यावादः १८३
असत्कार्यवादः १८३
असत्कार्यवादी १८३
अस्मन्प्रभुमिः १११
अस्मद्गुरुः २१६-२१७
आगमः ४०, ४३, ७३, ७६, १०९ २००-२०२, २११
आगमिकः ४३, २०२
आम्नायः ४, १२, ७३. ९९, १०२ १८५, १९९
आम्नायान्तरम् २०२
आर्हताः ९८
आहुः २८, २१०
उच्छुष्मतन्त्रम् ११५, १३८-१४०
उक्तम् ७-८७३, १५५, २०४
ऊर्ध्वस्रोतस् ९१, १२५
एकवीरः ९८, १०९, ११२
ऐतिहासिकाः ९८
कात्यः २१८
कामिकागमः ५४, १२३, २४४
कालिकाक्रमः २२१
कालीकुलम् ७
कालोत्तरम् २६, ७८-७९, ८१
किरणागमः २०९
कुलपञ्चाशिका ६७
कुलप्रक्रिया ५२, ५३, १०९
कुलमतम् ११२, १२५
कुलशास्त्रम् ५५
कुलाम्नायः ९१
कुलार्णवः ११४-११५, १५८
केशवः २४६
कौलिकप्रक्रिया ५५
क्रम (शास्त्रम्) ११२
क्रियाकालगुणोत्तरम् १६७-१६८, १७१-१७२, १८७-१८९
क्षेमराजः २४६
गमशास्त्रम् १२६
गर्भेशः २४६
गारुडम् ९८, १०३, १२५
गुप्ततन्त्रम् २०१-२०२
गुरवः ९१, १,२, १५६, १९९
चण्डम् ८०
चण्डासिधारम् १२५
चण्डिका (तन्त्रम्) ९९
चतुष्क (तन्त्रम्) ९९
जया (तन्त्रम्) ९८, १२५
जयासंहिता ९५
ज्येष्ठस्रोतस् १२५
डाकिनीतन्त्रम् २०२
तत्त्वविदः ९१

तत्त्वार्थचिन्तामणिः १९९
तन्त्रम् २०५
तन्त्रप्रक्रिया ५५
तन्त्रसद्भावः १६५-१६६, १६९-१७१
तन्त्रालोकः १५६
तार्किकः ६
तोतुलम् १६८, १८९
त्रिकतयः ९८, १४८
त्रिकहृदयम् १३-१४
त्रिशिरोभैरवः ८०, १२०-१२१
दक्षिणशास्त्रम् ७६, १२५
दक्षिणस्रोतस् ८०, ८६, ९१, ९९
द्रामिडः ९८-९९
द्वयवादः १८५, २३१
द्वयाद्वयवादः १८५, २३१
द्वैतशास्त्रम् ६७, ७३, ९९, १०८
११२, ११९, १८३-१८४,
२१८, २४३
नन्दिशिखा ८८
नवक (तन्त्रम्) ९८
नाग (तन्त्रम्) ९९
नादकारिका १२, २२२
नानादर्शनम् ७७
नानाशास्त्रम् ५८, ७५-७६
न्यायशास्त्रम् ९८
परामीशिका ९८, १०२
पूर्ववार्त्तिकम् २१८
पूर्वशास्त्रम् (मालिन्दीविजयः) ८,१९,
३९-४०,८९, २०१, २१८, २२८
पौराणिकाः ९८
प्रत्यभिज्ञाशास्त्रम् १४, २९, ६९, ७६,
१०१, १०७, ११९-१२०, १२५,
२१३-२१४, २१६-२१८, २३२
ब्रह्मयामलम् ९८
ब्राह्म (मतम्) १०९
भगवद्गीता ६३, १९६, २३५
भारतम् ९
भेदवादी १२, ५९, ६७, ६८, ८१,
११६, २१८, २२२
भैरवस्रोतस् २५
भैरवागमः ८०, १२५, १४८
मत (शास्त्रम्) ११२, १२५
मतत्रिशिका ९८
मतनयः ९८
मय (मतम्) ३४
मातृतन्त्रम् १२५
महाघोरा (तन्त्रम्) ९८
मायावामनिका ९५
मालिनीविजयम् ५९, ६३, २४४
मीनकुलम् २२५
मीमांसकः १८३
मुग्धधियः २२
यामलम् ९८
ये ९
योगः ९८
योगसूत्रम् ५७, ६९
रक्तिकः २४६
रहस्यविधिः १५७
रामः २४६
रुद्रयामलम् ९८

वाक्यपदीयम् २१६
वामदर्शनम् ८६
वामस्रोतस् २५, ७६, ९०-९१, ९९, १२५, १४८
विज्ञानभट्टारकः ६७
विज्ञानभैरवम् ७, ७०-७१, १११, १२३, १२६, २१७
विज्ञानभैरबोद्योतः २०१
विन्ध्यवासिनी (तन्त्रम्) ९८
वेदाः ९६, १०२, २०२, २०५
वैदिक (मतम्) ९८
वैष्णव (मतम्) १०२, १०९
व्याकुर्वाणाः ३
शास्त्रम् ७५,९८, ११०, ११२, १२० १२२, १६५, १६७, २११, २३०
शिवसूत्रम् १२, ६७, १२७, २१५, २१८, २२०, २२६
शूरः २४६
शैवशास्त्रम् ६७-६८, ११७
श्रीकण्ठीसंहिता १२४, २२१
श्रुतिः २०२
श्रुत्यन्तविदः २०८
षडर्ध (शास्त्रम्) २५, ९८, ११२
संहिता ७२-७३, ९८, १०९
सत्कार्यवादः १८३
सत्कार्यवादी १८३
समभेद (तन्त्रम्) ९८
सर्वमङ्गला २१५, २१८
सर्ववीरः १७
सर्वस्रोतस् १०
सर्वचारभट्टारकः ११३
सांख्याः १८२-१८३, २०८
सिद्धान्तः २५, ६७, ७६, ७८, ८१, १०२, ११३, १४८, १५७
सिद्धामतम् १२३, १५७-१५८
सौगताः १८३
सौर (मतम्) १०९
सौरभेयागमः २११
सौरसंहिता ९६
स्पन्दशास्त्रम् ११७, ११९-१२०
स्मृतिशास्त्रम् २३
स्रोतस् १०, ७५-७६, १२५
स्वच्छन्दतन्त्रम् ६, ९, २४, ३३, ३७, ३९-४४, ४६-४७, ५०, ५६-५७, ६७,७४,७९-८०,८२, ९३,१०७ ११७-११८, १२०, १२४-१२५, १४०, १४८,१५०,१५७, १८२, २०१, २१६, २२०-२२१, २२४, २३४-२३६, २३८, २४०-२४२
स्वच्छन्दोद्योतः ३२,८१,१२०,१८३
स्वयम्भू (तन्त्रम्) ९९
स्वायम्भुवागमः ३९
हंसपारमेश्वरम् १५६-१५७

अनिर्दिष्टस्थलान्युद्द्योतधृतवचनानि

१. शक्याशक्यपरामर्शमनपेक्ष्य प्रवर्तनम् ।
तेज इत्युदितं सद्भिः संवेदननभस्वतः ।। (पृ० ८)

२. योगोऽस्य शक्तयः स्वाक्या विस्फूर्जन्ति समन्ततः । (पृ०१२)

३. सृतवामकरस्योर्ध्वे दक्षिणं श्लथमुष्टिवत् ।
कृत्वोर्ध्वाङ्गुष्ठकं हस्तमाहुर्मुद्रां च कालशीम् ।। (पृ० २७)

४. राज्यार्थी दाहजननी मृत्युदा शत्रुहारिका ।
वशीकर्त्र्युच्चाटनी स्यादर्थदा मुक्तिदायिका ।।
सर्वसिद्धिप्रदा······ (पृ० ३७)

५. ब्राह्मी नाम विभोः शक्तिर्यत्रेच्छा तत्र पातयेत् ।
वैष्णव्यास्तु स्मृतो विष्णु······ ।। (पृ० ९३)

६. नान्यच्छिद्रं प्रपश्यामि मन्त्रिणो मन्त्रसाधने ।
यत्र तादृक् तथालिङ्गः केवलं विचलत्यसौ ।। (पृ० ११५, १७९, २०४)

७. न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया ।
क्रियाज्ञानविनिष्पन्ना आचार्यः पशुपाशहा ।। (पृ० १२५)

८. कषमध्यगतम् । (पृ० १२९)

९. प्रतिमालिङ्गमूर्तीनां यावन्तः परमाणवः । (पृ० १५५)

१०. संचारो वायुतत्त्वस्थो वायुतत्त्वं च बुद्धिगम् ।
अहङ्कारगता बुद्धिः स चित्तत्त्वं समाश्रितः ।। (पृ० १९९)

११. तदसिद्धं भदासिद्धेन साध्यते । (पृ० २१०)

१२. प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तः । (पृ० २२६)

१३. संबन्धोऽतीव दुर्घटः । (पृ० २४३)

परिवर्धनानि

१. हरति पशुभ्य (पृ० ३) इति वचनं तत्त्वसंग्रहटीकायाम् (श्लोक ५०) अघोराशिवकृतायामपि दृश्यते ।

२. अदृष्टविग्रहात् (पृ० ४) इति वचनं पौष्करागम-श्रीकण्ठीसंहितासु समुपलभ्यते ।

३. प्राक् संवित् प्राणे (पृ० ७) इति कल्लटवचनं नैकत्र दृश्यते ।

४. न चैतदिति, कथञ्चित् (पृ० ७) इति च तन्त्रालोकविवेके (१.२४३-२४५) सिद्धातन्त्रवचनत्वेन स्मर्यते ।

५. तिस्रो देव्य (पृ० ९) इति वचनं महाभारते द्रोणपर्वणि (२०२।१३०) दृश्यते । "तिस्रो देवीर्यदा चैव भजते भुवनेश्वरः । द्यामयः पृथिवीं चैव त्र्यम्बकास्तु ततः स्मृतः ॥" इति च तत्रत्यः पाठः एवं च तत्रेच्छादि-शक्तित्रयस्य नास्त्युल्लेख इति विभावनीयम् ।

६. नापृष्ट (पृ० १६) इति मनुस्मृतौ (२।२१०) द्रष्टव्यम् ।

७. येन येन (पृ० २८) इति वचनं तन्त्रालोकविवेकेऽपि (१।११५) स्मर्यते ।

८. वाहूपवाहू इति, आयामात् (१.३४) इति च वचनं मयमतेऽन्वेषणीयम् ।

९. एकैकत्र (पृ० ५०) इति वचनं महार्थमञ्जरीपरिमले (पृ० ६५) तन्त्रा-लोकवचनत्वेन स्मर्यते । तत्र चाऽन्वेषणीयमेतत् ।

१०. येनेदं तद्धि भोगत (पृ० ५३) इति किरणागमवचनत्वेन रत्नत्रये पृ० ५९, १०६) शतरत्नसंग्रहे (पृ० ९१) च स्मर्यते ।

११. शक्तयोऽस्य (पृ० ६९, २१८) इति सर्वमङ्गलाशास्त्रस्य प्रथितं वचनम् ।

१२. साञ्जना (पृ० ७३) इति वचनं मतङ्गपारमेश्वरादुद्धृतमपि तत्र नोप-लभ्यत इति मतङ्गक्रियापादपरिशिष्टं (पृ० ४९७) द्रष्टव्यम् ।

१३. मण्डलस्योऽहमिति साक्षादिति (पृ० ११८, १२०) च वचनं मालिनी-विजये (९।४७, ४९) दृश्यते, न स्वच्छन्दे ।

———

संशोधनानि

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठं	पङ्क्तिः
निश्चत्य	निश्चित्य	३	२७
चित्राश्वर्यं	चित्राश्चर्यं	५	८
नत्व निश्चित	न त्वनिश्चित	७	३०
रूपेण	रूपेव	८	१५
नेतु	न तु	८	१७
एवमेतो	एवमतो	८	२८
ने	न	९	१८
सूत्रितम्	सूत्रितम्	१०	१९
भवजीम्	भवनीयम्	११	२१
मन	वेन	१६	११
दूंषितैः	भूंषितः	१८	८
विश्वमहा	विश्वहा	१८	२२
शिपे	क्षिपे	२४	१५
आलेख	कालो०	२६	२४
रदा	वरदा	२७	३०
बहिप्य	बहिरप्य	२९	२४
दैर्घ्याच्चिं	दैर्घ्याच्चि	३०	२६
रान्ति	रग्नित	३२	२६
तत्र कार्ये	कार्ये तत्र	३३	३१
हेतेन	हुतेन	३८	१२
स्थानतत्त्वा	स्थानत्वा	३९	२३
वाचि	वादि	३९	२४
रान्यास्तु	रान्तास्तु	३९	२६
क्षीरदतरो	क्षीरोदतर	४८	११
न्मज्ज्ञानं	न्मज्जनं	५४	२६
वाररूप	वारकरूप	५७	८
वा	या	५८	२१
लक्षिता	लक्षितया	५९	२९

गतश्च	यतश्च	६०	३२
चिद्यवात्यु	चिद्व्याप्त्यु	६३	२९
विशयशाक्ता	विषयमाणवशाक्त	६४	३१
सर्वंदि	सर्वज्ञादि	६८	६८
विकास्तेत	विकास्येत	६	१२
द्वाद्वद्ध एवाख्यते	दाद्वद्ध एवोच्यते	६८	१३
भेदेश्वरात्	भेदेश्वरवत्	६९	१४
घ्येयत्य	घ्येयमित्थ	७०	२
यत्त्वम्	तत्त्वम्	७२	३३
यदि द्वितीयं	यदि प्रथमं स्पृशति तदासिद्धं भवति/यदि द्वितीयं	७४	३
स्फुटी	न स्फुटी	८१	१३
यता	यथा	८५	३
वंक्त्रा	वंक्त्र	८७	२४
एत	एक	८८	२७
मधानेषु	विधानेषु	९०	१३
कार्मक	कार्मुक	९१	२
वद्वि	यद्वि	९१	३
स्वादि	स्वानि	९१	१९
वद्वा	यद्वा	९७	२१
अनु	आनु	१०२	१६
भवानां	भावानां	१११	२१
सर्वा	सर्व	११२	११
पु	तु	११७	५
पुनवत्ति	पुनर्वेत्ति	११९	२०
स्फुरणाम्	स्फुरणात्	१२०	२६
स्फारूप	स्फाररूप	१२३	४
आदि	यदि	१२४	१४
सुश्रद्धे	सुशुद्धे	१३०	५
चत्र	चित्र	१३२	२
त्वात्यच्च	त्वाच्च	१३२	४
रालं लिखि	रालं न्यस्तमूलमन्त्रं लिखि	१३३	१२
कर्ति	कीर्ति	१३९	१३
तद्	यद्	१४०	८
कृति	कृते	१४२	१४

रक्तान्तग्रे	रक्तान्यग्रे	१४४	१८
नानन्तं	नान्तं	१४५	५
यजेत्य	यजोदित्य	१४६	१७
जाले	काले	१५१	२७
मन्त्रादि	यन्त्रादि	१५२	६
सुसिराद्धंता	सुसिद्धिता	१५३	२९
सर्वमुक्ति	सर्वमुक्तिमुक्ति	१५४	४
देवी	देवा	१६५	५
त्यर्तः	त्यर्थः	१६८	९
कथा	तथा	१६९	१७
क्षेपणः	क्षेपः	१७६	१७
ल्यवसरं	ल्यमवसरं	१७७	८
देकत	देक	१८०	१७
प्रश्नीयं	प्रश्ननीयं	१८१	४
भोगासा	भोगादा	१८२	२०
निर्णीत	निर्णीय	१८२	२१
विस्वास्त्र	बिम्वस्त्र	१९२	२८
याह	याप्याह	२०३	२०
रना	रनु	२१३	२२
णोऽति	णोऽप्यति	२१३	२६
क्रियते	क्रियेति	२१७	१०
भूय	भूतं	२२१	१६
श्रिया	क्रिया	२२५	६
भावभास	भावमवभास	२२५	९
स्थानाम्	स्थानम्	२२५	१२
विश्वे	विश्ववे	२२५	१४
क्षय	श्रय	२२५	१६
आका	अका	२२५	३३
व्यापकताः	व्यापकाः	२२८	३
तथास्य	तथाप्यस्य	२३०	२९
तन्त्रा	मन्त्रा	२३१	१८
विशेष प्रस्तुतं	विशेष इति प्रस्तुतं	२३१	१९
जप्यन्यत	न त्वन्यत	२३१	२४
मोकः	मोचकः	२३२	४

तवेदं	तथेदं	२३२	१३
तस्व	तत्त्व	२३४	१७
प्लावतो	प्लावको	२३७	३
चेत्याच्छा	चेच्छा	२३८	८

त्रुटिपूरणम्

१४३. ३ इत्यतः परम्— सुप्रच्छ इति पूर्ववद् योज्यम् ॥
अत्र च—

एकान्नविंशसूत्राणि पातयेदैन्द्रवारुणे ॥३०॥

इति पठनीयम् ।

१४८. २ इत्यतः पूर्वम्— किं च
इति पठनीयम् ।

१५१. २९ इत्यतः परम् अतश्च—

संग्रामाग्रे सदा याज्या परराष्ट्रजिगीषणा ॥८६॥

इति पठनीयम् ।

१६०. १७ इत्यतः परम्— भूताद्या हि सर्वे
इति पठनीयम् ।

Parimal Sanskrit Series No. 11

RĀMĀYAṆA

OF

VĀLMĪKI

WITH THE COMMENTARIES
TILAKA OF RAMA, RAMAYANASIROMANI OF SIVASAHAYA
AND BHUSANA OF GOVINDARAJA

EDITED BY
SHASTRI SHRINIVAS KATTI MUDHOLKAR

Includes and exhaustive introduction
and Index of verses
By
SATKARI MUKHOPADHYAYA

Complete in 8 volumes
Crown 4 to Cloth pp. 3400 app.
Deluxe Edition 1500-00 per set

PARIMAL PUBLICATIONS
Oriental Publishers & Book-Sellers
DELHI - AHMEDABAD